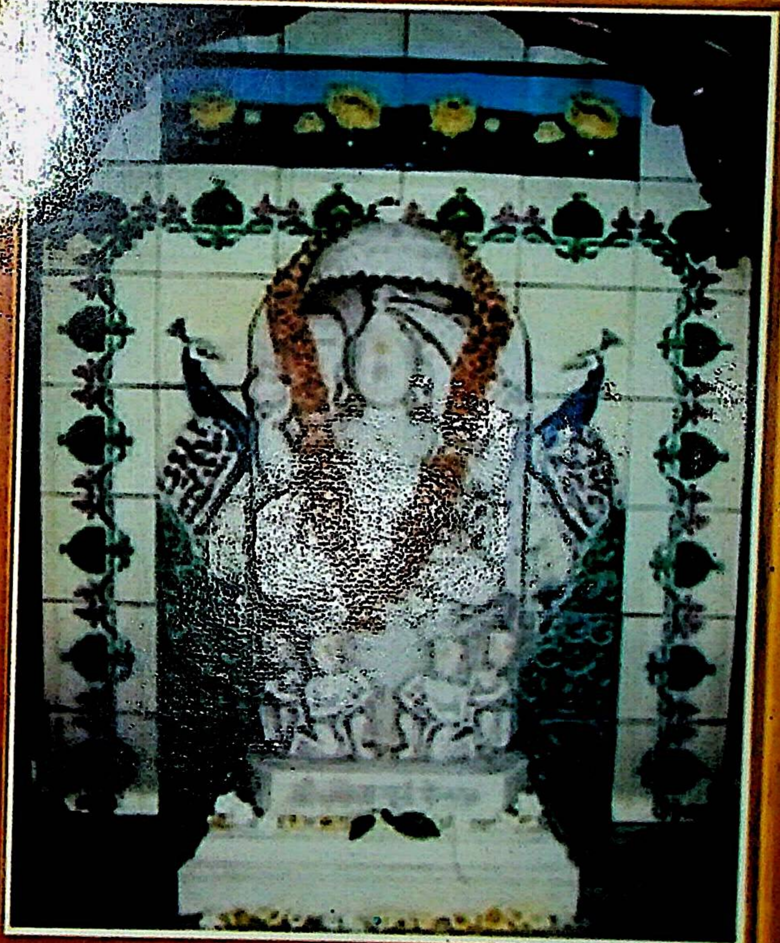
श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रव्याख्या

मानसोल्लासः

मानसोल्लासवर्धिनी-टीकायुतः



श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, प्रकाशन
वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-५३

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितः

मानसोल्लासः

(श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रव्याख्या)

महामहोपाध्याय-वेदान्तविशारद-
श्रीमदनन्तकृष्णशास्त्रिकृता

मानसोल्लासवर्धिनी

श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वराचार्यमहामण्डलेश्वर-
श्रीमहेशानन्दगिरिमहाराजानां
निर्देशेन

●

सम्पादकः
डॉ. सच्चिदानन्दमिश्रः
न्यायवेदान्तसाहित्याचार्यः

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक-

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, प्रकाशन

डी. ४९/९, मिश्रपोखरा

वाराणसी-२२१०१०

प्रथमसंस्करण

विक्रमाब्द : २०६५

भगवत्पादाब्द : १२२०

ईस्वी सन् : २००८

बिहारी बन्धु,
ए-206, कटरा नवाब, चाँदनी चौक, दिल्ली
द्वारा धनसाहाय्यित

मूल्य- 50/=

मुद्रक-
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा. लि.
नई दिल्ली

ॐ

प्राक्कथन

परमहंस सम्प्रदाय में दक्षिणामूर्ति की उपासना गुरुरूप में करने की प्राचीन परम्परा रही है। शान्तिपाठ में शृङ्गेरी आदि कुछ परम्पराओं में, पाँच शान्तिमन्त्रों के बाद दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के पाँच श्लोक एवं अन्त में अन्तिम पाँच शान्ति मन्त्रों के बाद दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के बाकी पाँच श्लोक बोलने की परिपाटी है। जहाँ इस प्रकार नहीं, वहाँ भी शान्तिमन्त्रों की समाप्ति में 'ईश्वरो गुरुरात्मेति' आदि श्लोक का पाठ किया ही जाता है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र एवं इसका वार्तिक क्रमशः आचार्य शङ्कर एवं आचार्य सुरेश्वर द्वारा प्रणीत हैं। कुछ आधुनिकों ने इस स्तोत्र को अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञादर्शन का ग्रन्थ माना है। लगभग सन्' ६२ में इस सन्दर्भ में अनेक बिन्दुओं पर महामहोपाध्याय श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री से हमने चर्चा की थी। उन्होंने इस पक्षका समूल उत्तर देना आवश्यक माना, तो हमने उनसे कहा— 'आप इस ग्रन्थ पर उक्त दृष्टि से लेखन करें, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ उसे प्रकाशित करेगा।' उन्होंने सहर्ष प्रस्ताव स्वीकार लिया। शास्त्रीजी अजस्र लेखन किया करते थे, रेल में भी उनका लेखनकार्य चलता रहता था। इस व्याख्या को भी उन्होंने इस प्रकार लिखा, लिखाया। अतः कई जगह लेखन त्रुटित हो गया है। विचार तो यह था कि प्रूफ़ के बाद शास्त्रीजी ही सुधारेंगे, अतः उसमें संशोधन हो जायेगा, परन्तु अनेक कार्यों के बीच, ग्रन्थप्रकाशन का कार्य प्रारम्भ होता, इसके पूर्व ही उनका परिनिर्वाण हो गया, जिससे इस व्याख्या को मुद्रणार्ह रूप वे न दे पाये। जीवन के अन्तिम दिनों में वे बिस्तर में ही दण्ड-कमण्डलु रखते थे और मृत्यु से कुछ ही पूर्व उन्होंने संन्यासग्रहण कर लिया था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का एक अद्भुत विद्वान् विदा हो गया। यह व्याख्या प्रायः उनकी अन्तिम रचना है। हम कोशिश करते रहे कि उन्हीं का कोई विद्यार्थी प्रूफ़शोधन करे, इसी में काफ़ी समय निकल गया; अन्त में निर्णय किया कि जो भी विद्वान् यह कार्य कर सके, उसे सौंपें। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उपाचार्य डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र इस कार्य को करने के लिए सोत्साह तैयार हो गये। पद पाने में भी कई जगह कठिन अक्षरों में लिखी पाण्डुलिपि का अत्यन्त श्रम से सुधार कर इन्होंने सुन्दर संस्करण तैयार किया है, यह सन्तोष की बात है।

व्याख्या में शास्त्री जी ने मण्डन-सुरेश्वर की एकता प्रतिपादित की है। यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है। बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में कई जगह मण्डन के लिए 'पण्डितम्मन्य' आदि शब्दों का प्रयोग है, जो कोई स्वयं के बारे में लिखे, यह सम्भव नहीं लगता। ऐतिहासिक दृष्टि से मण्डन आचार्य के पूर्ववर्ती थे एवं अपने समय में अद्वैत के एक स्तम्भ थे। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धि'-ग्रन्थों में 'ब्रह्मसिद्धि' की गणना की है, उसे अद्वैतपरम्परा का माना है। अतः मण्डन की अद्वैतनिष्ठा में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, परन्तु अद्वैतसाधना आदि विषयों पर आचार्य का उनसे मतभेद है, जो सम्प्रदाय में अत्यन्त स्फुट है। एक ही दर्शन का प्रतिपादक होने से मण्डन व सुरेश्वर के विचारों में समानता विषमता से बहुत ज़्यादा है, लेकिन टीकाकार शास्त्री जी का यह मानना कि बृहद्वार्तिक सुरेश्वराचार्य की मान्यता नहीं, अतिसाहस है! सुरेश्वर

का स्वतन्त्र ग्रन्थ 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, तथा वह वार्तिक के सर्वथा अनुसार है, भाष्य का ही अनुगमन करता है। इतना ही नहीं, सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकवार्तिक में कई जगह पर भाष्यकार से अपना मतभेद प्रकट किया है। अतः यदि वे मण्डनपक्ष स्वीकारते तो उसका भी उल्लेख करते, जो उन्होंने नहीं किया है। अतः सुरेश्वर का स्वसिद्धान्त ब्रह्मसिद्ध्यनुसार मानना(पृ.४२) उचित नहीं प्रतीत होता। इसी मान्यता पर आधारित टीकाकार की कुछ स्थापनाएं चिन्त्य हैं।

वेदान्त की मान्य गुरुपरम्परा में नारायण व ब्रह्मा— इन देवताओं के बाद मानवौघ में वसिष्ठ सर्वप्रथम गिने गये हैं। वसिष्ठ के स्मृत ग्रन्थों में बृहद्वासिष्ठ, योगवासिष्ठ, ज्ञानवासिष्ठ इत्यादि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध ग्रन्थ विस्तार से उनके अद्वैतविषयक विचारों को प्रकट करता है। यद्यपि ऋग्वेदसंहिता में व अन्यत्र भी उनके उपदेश हैं, तथापि बहुतायत से पढ़े जानेवाले उपदेश का सङ्ग्रह तो वासिष्ठ में ही है। अतः जैसे जय-भारत-महाभारत इस प्रकार तीन सोपान माने गये हैं, वैसे योगवासिष्ठ भी समय-समय पर परिवर्तित होता रहा, परन्तु मूल उपदेश का प्रवाह वही रहा। गीता के (१३-४) ऋषिशब्द से आचार्य ने 'वसिष्ठादिभिः' कहकर वसिष्ठ के उपदेशों को प्रधानता दी है। वासिष्ठ के वर्तमान रूप के कई हिस्से शङ्करपरवर्ती हैं, ऐसा कहते हुए भी भीखनलाल आत्रेय ने स्वीकारा है कि अनेक हिस्से आचार्य शङ्कर से पूर्व के हैं। आचार्य ने अपनी गुरुपरम्परा का पूर्णरूप से रक्षण ही किया है, इस बात को टीकाकार ने, विशेषतः भूमिका में, प्रयत्नपूर्वक दिखाया है। आचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य की कारिका को तो मानसोल्लास में पदशः उद्धृत किया गया है। गौडपादाचार्य को और किसी भी परम्परा में अपना मान्य आचार्य नहीं स्वीकारा गया है। अतः मानसोल्लास को दर्शनान्तर-अनुयायी स्वीकारना सर्वथा भ्रान्त ही मानना चाहिए। इस मत के खण्डन का परिश्रमपूर्वक समधिक प्रयत्न प्रकृतटीका की विशेषता है। वसिष्ठ के उपदेशों से प्रत्यभिज्ञा आदि अन्यदर्शन भी प्रभावित होने से समानता की प्रतीति इस भ्रान्ति में कारण पड़ जाती है। विद्वद्वर्ग इस दिशा में और भी विचार करेगा, यह आशा है।

श्रीशङ्करमठ, आबू
महाशिवरात्रि २०६४

भगवत्पादीय
महेशानन्दगिरि

विषयसूची

PREFACE

Traditionally, it is held that Bhagavatpāda Śaṅkarācārya has not only written the Bhāṣyas on Brahmasūtra, Gītā and Upaniṣads, but also many scholarly small treatises on Advaita Philosophy. Dakṣiṇāmūrti Stotra is one of these treatises. It contains only ten verses. It is also held traditionally that Sureśvara has written a Vārtika, a commentary on Dakṣiṇāmūrti Stotra, known as Mānasollāsa. It is accepted as one of the five Vārtikas, authored by Sureśvarāchārya. It is strange that the scholars and historians who are not well aware of tradition, always question this notion. In their mind, it is a matter of strong doubt that Śaṅkarācārya has written this small treatise or someone else has. This is indeed a very important question to be asked and answered to know the evolution of history of Indian Philosophy. It could change the whole picture of history of Indian Philosophy. Nowhere in the hymn and in Mānasollāsa the name of the author is mentioned. The author is mentioned as *Guru* or *Kavi.* I think this is the ground for all these types of controversies. A long debate is carried on in this connection by C. Markandeya Śastri and R. B. Amarnath Ray. In the book 'Sureśvara's Contribution to Advaita' C. Markandeya Śastri, and in an article 'Dakṣiṇāmūrti hymn and Mānasollāsa' R. B. Amarnath Ray argues in favor of their stand that the Dakṣiṇāmūrti Stotra is not written by Ācārya Śaṅkara and it is not a text of Advaita Philosophy; and also that the Mānasollāsa is not authored by Sureśvarācārya. C. Markandeya Śastri and R. B. Amarnath Ray are of this opinion that both these texts belong to Kāśmīra brand of Śaivism and are written by Abhinava Gupta or any his follower. Unfortunately, I could not go through the pages containing their arguments, due to non-availability of their books. I think, it could have been a good reading. I could come to know of their arguments in brief, from the Encyclopedia of Indian Philosophy of Karl H. Potter and through the snippet pages which are available on Google Book search. Karl H. Potter writes about this book–

'This brief hymn (Stotra) is held traditionally to have been commented on by Sureśvara in the Mānasollāsa. If the Mānasollāsa is actually Sureśvara's work we might have reason to accept Śaṃkara's authorship of the hymn. But as that ascription is doubtful (See below under Sureśvara), and we have no real reason

to think that Śaṅkara wrote any hymn at all (though we have no particular reason to think he didn't either), the matter must be left in suspense.' (P.P.317, Encyclopedia of Indian Philosophy)

Again, writing on Sureśvara, he quotes C. Markandeya Sastry and says–

'Markandeya Sastry writes: "It is not easy to accept this tradition (that Sureśvara wrote this book) after a perusal of the contents as well as perhaps language of this book." He cites R. B. Amarnath Ray's opinion that the Dakṣiṇamūrti hymn itself and this commentary on it are the work of Abhinava Gupta and his disciple, since the work appears to teach the Kashmir Śaiva brand of idealism. It refers to the thirty six categories of Kashmir Śaiva, as well as other peculiar features of the Pratyabhijñā system.' (P.P.50-51, Ibid)

Here it is very clear that Potter himself is not convinced that Dakṣiṇāmurti Stotra is written by Śaṅkara. He wants to put this matter in suspense. There is another problem too. Potter wants to establish the authority of Śaṅkara on Dakṣiṇāmūrti Stotra, only if it were proved that Sureśvara has actually written any Vārtika i.e. Mānasollāsa on Dakṣiṇāmūrti Stotra; And in his opinion this cannot be established. First of all, there is no mention of the name of author in Mānasollāsa, so, we do not have any direct proof to establish that Sureśvara has actually written the Mānasollāsa. The only way to find out the name of the author of Mānasollāsa is to deeply consider the thoughts which are expressed in the book. This is the only way we can decide whether Sureśvara has written the Mānasollāsa or not. We should thoroughly examine the thoughts of Sureśvara. Only going through the titles and taking a general estimate of the thoughts of Dakṣiṇāmūrti Stotra and Mānasollāsa could bring us to a false conclusion.

Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstri, who had been one of the greatest Indian Philosophers of twentieth century, had argued for the enrichment of Advaita Philosophy. He was indeed an encyclopedic scholar, who had a deep knowledge of almost every branch of Indian Philosophy. The people who are only acquainted with a general estimate of one or two branches of Indian Philosophy, many times get confused and come to a false conclusion. This can be seen in the pages of reputed journals like JICPR also. It seems to me that Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstri wrote a com-

mentary on Mānasollāsa, named Mānasollāsavardhinī only to answer these type of absurd conclusions. Many times what is seen on the surface is not the truth and what is true is not seen very easily. In Mānasollāsavardhinī, Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstrī shows very clearly that why Dakṣiṇāmūrti Stotra and Mānasollāsa must be accepted as texts of Advaita Vedānta written by Ācārya Śaṃkara and Sureśvarācārya respectively, not authored by Abhinava Gupta or any other scholar of Kāśmīra Śaivism. I would not like to put the arguments here, as they are expressed in Mānasollāsavardhinī.

Sureśvarācārya was a pupil of Ācārya Śaṅkara, and is held traditionally that Ācārya Śaṅkara himself directed him to write Vārtikas on his Bhāṣyas. Sureśvarācārya wrote Bṛhadāraṇyakopaniṣad-bhāṣyavārtikam, Tattirīyopaniṣad-Bhāṣyavārtikam, Naiṣkarmyasiddhi, Mānasollāsavārtikam and Pañcīkaraṇavārtikam. The reputation of Sureśvarācārya is so much that it is held that what Sureśvarācārya has written that is final. It is said in the proverb that 'Vārtikāntā Brahmavidyā'.

The author of Mānasollāsavardhinī, Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstri was born in the month of March in 1886 in a village Nooraṇī in the district Palghat in Tamilnadu. He was a great scholar of Sanskrit śāstras. The name of his father was Subrahmaṇyajī Vādhyāra. Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstri studied in the guidance of great scholars like Mahāmhopādhyāya Pañcāpageśa Śāstrī, Veṅkaṭa Subbā Śāstrī, Mahāmhopādhyāya Kuppusvāmī Śāstrī. He taught in Tirupati Sanskrit Colege, Tirupati, Veṅkaṭeśvara University, Tirupati (A.P.), and also in Calcutta University, Calcutta (W.B.). He was a very good speaker. He spent his whole life for the sake of development and enrichment of Vedānta philosophy. He was given the reward of Śāstraratnākara (a rich source of knowledge) by Kāñcī Kāmakoti Śaṅkarācārya.

He wrote a lot of original books, where we can see the development of polemic of Advaita Vedānta, which had been started by the great scholar like Śrī Harṣa and was carried on by the scholars like Citsukhācārya, Madhusūdana Sarasvatī of Advaita Vedānta school and Vyāsa Tīrtha, Veṅkaṭanātha etc. of other schools. He wrote or edited these books (1)Vivāhasamaya-mīmāṃsā (2) Catuḥsūtrī

(Brahmasūtra-Bhāṣya-Bhāmatī-Kalpataru-Parimala) (3) Abhidhyāna-nirṇaya (4) Śāstradīpikā-Bhūmikā (5) Mīmānsāśāstrasaṃgraha (6)Advaitaisddhi with three commentaries (7) Brahmasūtra-Śāṅkara-Bhāṣya (with Bhāmatī-Kalpataru-Parimala) (8) Advaitacintākaustubha (9) Karmapradipa (10) Vedāntapribhāṣā (with his own commentary Prakāśikā) (11) Sanātana-Dharma-Pradīpa (12) Advaita-Dīpikā (13) Vedānta-Rakṣāmaṇī (14)) Brahmasūtra-Śāṅkara-Bhāṣya (with nine commentaries including his own commentary Pradīpa) (15) Nyāyāmṛtādvaitasiddhi (with Taraṅgiṇī, Laghucandrikā etc.) (16) Advaita-Mārtaṇḍa (A refutation of Vyāsasiddhānta-Mārtaṇḍa) (17) Saugandhi-vimarṣa (18) Bhagavadgītā Bhāratīya-Darṣanāni ca (19) Prahlāda-Caritra (20) Śatabhūṣaṇī (21) Advaita-Tattva-Sudhā (In two parts and second part contains two volumes) (22) Prabhākara-Vijaya (23) Śārīrakamīmānsā-Bhāṣya-Vivaraṇa (24) Mādhva-Candrikā (25) Nyāya-Candrikā (26) Advaita-Tattva-Siddhi and (27) Mānasollāsavardhinī (This hitherto unpublished commentary of Mānasollāsavārtika). Seeing the list of these books one may be surprised but knowing that among these books there are some very important original writings like Śatabhūṣaṇī where he gives answers to the refutations which were put forward by the great scholar of Viśiṣṭādvaita Veṅkatanātha in Śatadūṣaṇī, and Advaita-Tattva-Sudhā, where he refutes the refutations put forward by Dvaita and Viśiṣṭādvaita scolars, one will be more surprised. He wrote Nyāya-Candrikā and Mādhva-Candrikā to refute the position of Nyāya and Mādhva respectively. Beside the commentary of Mānasollāsa, Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstrī also wrote an introduction of this book. He spent his whole life in service of Advaita Vedānta, and lastly he had taken Saṃnyāsa and became Advaitānanda Sarasvatī. In the year of 1964 on 15th November he was absorbed into supream spirit Brahman.

The manuscript of this commentary had been in possession of Mahāmaṇḍaleṣvara Svāmī Maheśānanda Girijī, he had directed Śrī Ananta Kṛṣṇa Śāstrījī to write this commentary and introduction long back. I am very happy and thankful to Mahāmaṇḍaleṣvara Svāmī Maheśānanda Girijī and feel obliged that he has given me the opportunity to edit this book and bring this jewel in front of the scholars and students of Indian Philosophy.

Sachchidanand Mishra

ॐ

भूमिका

मातामहमहाशैलं महस्तदपितामहम् ।
कारणं जगतां वन्दे कण्ठादुपरि वारणम् ।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

इति भगवत्पादमतानुयायिनो भाष्यशान्तिक्रमे गुरुपरम्परानुसन्धीयते, यस्तु मानसोल्लासस्य प्रथमोल्लासस्योपसंहारः। तत्रेश्वरत्वे तस्य–

"सर्गाद्यकाले भगवान् विरञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप ।
तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोपास्योपासको भवति धाता।।"

इति ध्यानश्लोकः प्रमाणम्।

"मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं
मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम् ।
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये।।"

इति ध्यानश्लोकः,

"स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे ।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे।।"

इति ध्यानश्लोकश्च प्रमाणम्।

तत्र प्रथमे मौनमुद्रा, द्वितीये ज्ञानमुद्रा, तत्रापि प्रथमो मध्यमावस्थायां, द्वितीयस्तु तदारम्भावस्थायाम्। आत्मरूपतायां तु–

"शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः।।"

इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत् प्रमाणम् ।

तत्र विष्णुपुराणोक्तेषु चतुर्विधेषु ब्रह्मसु गुरुरपरमूर्तः, ईश्वरः परमूर्तः, आत्मा तु परामूर्तः। अत्रात्मरूपस्य तस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् मतान्तर इवामूर्तावस्थाद्वैविध्याभावः। अतो हि "शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता" इत्यग्रया बुद्ध्यैव साक्षात्कारयोग्यत्ववर्णनात्, मण्डनसम्मतशब्दपरोक्षवादस्यैव साधुत्वसूचनात्, अत्रैव "ब्रह्मवादिभि" रित्युपसंहाराच्च तस्य तद्रूपता। तस्यां हि तस्य नेश्वरत्वम्, न वा गुरुत्वम्। इमामेवावस्थामवलम्ब्य

गौडपादाचार्याणाम्—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।
अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बद्धास्तथा मुक्ता बध्यन्ते इति नायकाः।।
क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ।।" इत्यादि।

अत्र दक्षिणामूर्तेरीश्वरत्वं, गुरुत्वमात्मत्वञ्च भगवतः श्रीकृष्णस्येवाद्वैतसिद्धान्त एव तात्पर्यमवसाययति। तत्र श्रीकृष्णस्येश्वरत्वं (प्रसिद्धम्)[१]। गुरुत्वं तु "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वं प्रपन्नम्" इत्यर्जुनप्रार्थनयाऽवगम्यते। अत एव तस्य गीताचार्यत्वप्रथा। दशावतारेषु भगवतः श्रीकृष्णस्य पूर्णावतारत्वम्—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।"

इति लक्षणलक्षितभगवत्त्वम्; गीतोपदेशद्वारा ज्ञानविज्ञानयोरपि प्रकटीकरणेन न ह्यन्येष्ववतारेषु। रामावतारेऽपि ज्ञानविज्ञानप्रकटीकरणमुपदेष्टृत्वेन दृश्यते, श्रीरामचन्द्रोऽपि योगवाशिष्ठोक्तरीत्याऽऽत्मनो वशिष्ठशिष्यतायामेव ज्ञानविज्ञानयोरात्मनः सौभाग्यं मनुते। तदपि—

"तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यार्थसिद्धये।
हरिबुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ।।
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

इति कठवल्ल्यादिसमानार्थयाप्यात्मतत्त्वमुपदेष्टुमेव श्रीकृष्णावतार इति गम्यते।

तस्यात्मत्वन्तु तत्र तत्र ज्ञातव्यत्वेन स्वयं प्रदर्शनात्, श्रीकृष्णो ह्यात्मानं कुत्रचन सारथित्वेन, आध्यात्मिकदृष्ट्या "बुद्धिं तु सारथिं विद्धि" इति बुद्धित्वेन वाऽऽचार्यत्वेन—

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।"

इति तत्त्वनिर्णेतृत्वेन (प्रादर्शयत्)[२]।

आत्मत्वं तु तत्र तत्र— "मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः" "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इत्यादौ सर्वजगदधिष्ठानत्वस्य, 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' इति भगवत्पादानामध्यासभाष्योक्तस्यात्मानात्मनोः

१.कोष्ठस्थोंशो हस्तलेखे नास्ति।
२.कोष्ठस्थोंशो हस्तलेखे नास्ति।

परस्पराध्यासस्य तत्राप्यात्मनः संसर्गाध्यासमात्रस्य, भगवतोऽद्वितीयात्मतत्त्वस्य, तत्रापि परमात्मजीवात्मनोरभेदस्य च सूत्रणेन उपदिश्यते। अयमेव न्यायःश्रीदक्षिणामूर्तेरपि मानसोल्लासे प्रथमोल्लासान्ते सुरेश्वराचार्यैरुल्लास्यते। अत्रापि गौडपादकारिकासिद्धान्तस्यैव समादरादद्वितीयात्मतत्त्वमेव विषयः। अत एव प्रथमश्लोके "यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्" इति श्लोक्यते। सर्वत्राप्यात्मतत्त्वोपदेशप्रकरणेषु "अहं" "माम्" इत्याद्यस्मच्छब्दप्रयोगेऽपि– "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इति न्यायेन विगलितान्तःकरणसंविन्मात्रमेवात्मतत्त्वमुपदिश्यते। अत्र गीतायामिव दक्षिणामूर्तिस्तवे ईश्वरगुर्वात्मनां मूर्तिभेदमात्रं, न स्वरूपभेदः। श्रुत्याचार्यप्रयासादीश्वरानुग्रहादिलभ्यं स्वात्मतत्त्वमिति मानसोल्लासोप्युल्लासयत्यात्मानमिव परानपि शुश्रूषून्।

तत्र विशेषस्तु भगवद्गीताया अर्जुनं प्रति श्रीकृष्णस्योपदेशस्य, श्रीदक्षिणामूर्तेः सनकान्प्रत्युपदेशस्य च प्रवृत्त्या, यमेवावलम्ब्य भगवत्पादानां श्रीदक्षिणामूर्तिस्तवः। तत्र–

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिर्णयः।।"

इतियोगवाशिष्ठोक्तमार्गद्वये ज्ञानमार्गो भगवद्गीताया लक्ष्यम्, यत्र कर्मयोगादीनां प्राधान्यम्। योगमार्गस्य च षष्ठाध्यायोक्तरीत्याऽप्राधान्यम्। दक्षिणामूर्त्युपदेशस्य सनकादीन् प्रति प्रवृत्तस्य योगमार्गः प्रधानम्। ज्ञानमार्गाप्राधान्यं मत्त्वाऽत्र प्रवृत्तिः। उभयस्य प्रधानं लक्ष्यमात्मतत्त्वसाक्षात्कारः।

अत्र–

"नारायणं पद्मभुवं वशिष्ठं
शक्तिञ्च तत्पुत्रपराशरञ्च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं
गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्म-
पादञ्च हस्तामलकञ्च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्या-
नस्मद्गुरून् सन्ततमानतोस्मि।।"

इत्यादिसम्प्रदायसिद्धस्याद्वैतसिद्धान्तस्य "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप" इत्युक्तरीत्या महता कालेन नष्टस्योद्धार एव भगवत्पादानां लक्ष्यम्। तत्रोभयस्यापि लक्ष्यमद्वैतमेव तत्त्वम्। तत्र महता कालेन योगद्वयस्य नाशे कारणं त्वनादिपरम्परया तत्तन्मतानुयायिभिराक्षिप्यमाणा आक्षेपाः, यैरापातरमणीयैराकृष्यन्ते साधारणा जनाः, तदभिमुखा भवन्ति।

अद्वैतसिद्धान्त उपदेशानुपपत्त्यादय आक्षेपाः

तत्र प्रधाना आक्षेपा भवन्ति– उपदेशानुपपत्त्यादयः। अयमत्र प्रधान आक्षेप उपदेशानुपपत्तिमाश्रित्य भगवद्रामानुजेनोपक्षिप्यते त्रयोदशाध्याये गीताभाष्ये। यस्यैवोपबृंहणं शतदूषण्यां तात्पर्यचन्द्रिकायां च

निगमान्तदेशिकेन सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण कृतम्। स यथा–

"केचिदाहुः– 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति सामानाधिकरण्येनैकत्वमवगम्यते। ततश्चेश्वरस्यैव सतोऽज्ञानात् क्षेत्रज्ञत्वमिव भवतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। तन्निवृत्त्यर्थश्चायमेकत्वोपदेशः। अनेन चाप्ततमभगवदुपदेशेन 'रज्जुरेषा न सर्पः' इत्याप्तोपदेशेन सर्पत्वभ्रमनिवृत्तिवत् क्षेत्रज्ञत्वभ्रमो निवर्तत इति।

ते प्रष्टव्याः– अयमुपदेष्टा भगवान् वासुदेवः परमेश्वरः किमात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारेण निवृत्ताज्ञानः? उत न? इति। निवृत्ताज्ञानश्चेत् निर्विशेषचिन्मात्रैकस्वरूपे आत्मन्यतद्रूपाध्यासासम्भावनया कौन्तेयादिभेददर्शनम्, तान् प्रत्युपदेशादिव्यापाराश्च न सम्भवन्ति। अथात्मयाथात्म्यसाक्षात्काराभावादनिवृत्ताज्ञानः, न तर्ह्यज्ञत्वादेवात्मज्ञानोपदेशसम्भवः, 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति ह्युक्तम्। अत एवमादिवादा अनाकलितश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायसदाचारस्ववाग्विरोधैः स्ववचनस्थापनदुराग्रहैरज्ञानिभिर्जगन्मोहनाय प्रवर्तिता इत्यनादरणीयाः"[१]।

अत्र तात्पर्यचन्द्रिका – "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः इत्युपक्रमे भेदेनैव स्वात्मानमुपदिशन् परस्ताच्च क्षराक्षरपुरुषवैलक्षण्यमेव स्वात्मनोऽभिधास्यन् निष्कृष्टव्यवहारेषु जीवानां परार्थभूत इति भावः। **उपदेष्टेति**– यद्यसावप्यज्ञः तदाऽऽर्जुनवदस्यापि शिष्यत्वमेवोचितम्, न तूपदेष्टृत्वमिति भावः। **भगवानिति** पराज्ञाननिवृत्त्यर्थमेव ह्ययमुपदिशतति, स्वस्य तत्त्वज्ञत्वादित्यभिप्रायः। **वासुदेव** इत्यत्रान्तर्यामित्वादिविवक्षायां 'सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्र' इति भेद एव व्यक्त इति भावः। वासुदेवतनयत्वविवक्षायां तु स एव ह्यवतीर्णः। 'सर्वलोकमहेश्वरम्' 'बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' 'यस्मात् क्षरमतीतोऽहम्' इत्यादिषु स्वात्मानमीश्वरत्वेनैव मन्यमानो जीवेभ्यः सर्वप्रकारवैलक्षण्यमुपदिशतीत्यभिप्रायेण परमेश्वरशब्दः। ईश्वरस्य भ्रमभूतमज्ञानं न कदाचिदस्तीति तैर्वक्तुं न शक्यम्। तथासतीशितव्यप्रतिभासाभावादीश्वरत्वस्यैवासिद्धिप्रसङ्गात्,अज्ञानमन्तरेण च मिथ्याभूतभेदप्रतिभासायोगात्, परबुद्धिविषयत्वोल्लेखरूपस्य मिथ्यार्थप्रतिभासस्य परसद्भावसापेक्षत्वात्, तस्य च तैरनभ्युपगमात्। अतः ईश्वरस्यापि पूर्वमज्ञानमस्ति; तच्च पश्चाज्ज्ञाननिवर्त्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्। तच्चोपदेशदशायां भवदभिमतहेतुविशेषेण निवृत्तं न वा इत्यभिप्रायेण विकल्पयति **किमित्यादिना**।

प्रथमं शिरो दूषयितुमनुवदति **निवृत्ताज्ञानश्चेदि**ति।

द्वितीयं शिरोऽनुभाषते **अथे**ति। निवर्तकसाक्षात्काररहितत्वादिति भावः। **न तर्ही**ति। न हीन्द्रियलिङ्गशब्दादिवदज्ञत्वेऽपि परज्ञानजनकत्वं सम्भवति, उपदेशवाक्यप्रयोगस्य ज्ञानपूर्वकत्वावश्यंभावात्, अप्रमितोपदेशेऽनाप्तत्वप्रसङ्गात्। तत्त्वसाक्षात्कारवत एवाध्यासोपदेष्टृत्वे तस्यैवोक्तिं दर्शयति– **उपदेक्ष्यन्ती**ति।

१.अत्र केचिदाहुः इत्यारभ्य अनादरणीयाः इत्यन्तोंशः श्रीमद्रामानुजभाष्यतः समुद्धृतः। द्र.१३/३ श्लोके श्रीमद्भगवद्गीतारामानुजभाष्यम्, पृ.सं.२०-२१,भगवद्गीता तृतीयखण्डः, शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकासहिता, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, मुम्बई, १९३५

तत्र[1] भेदश्रुतयः सगुणश्रुतयोऽन्तर्यामिश्रुतयः प्रकृतिपुरुषनित्यत्वश्रुतयस्तथाविधाश्च स्मृत्यादयो विरुद्धा एव। अभेदश्रुत्यादयस्तु मुख्यार्थपरित्यागेन निर्विशेषलक्षकतया तैरेवाभ्युपगमात् मुख्यार्थ-प्रतिपादकाकारेण विरुद्धाः। विषयव्यवस्थादिभिर्विरोधपरिहारे सम्भवति बाध्यबाधकभावाद्यभ्युपगमान्न्याय-विरोधः। स्ववचनविरोधस्तु 'ब्रह्म निर्विशेषम् , एवंत्वात्' इत्यादौ सर्वत्र हेतुसाध्यधर्मान्वयावश्यम्भावात्, 'अनुभूतिरवेद्या' इत्यत्रानुभूतिशब्दबोध्यत्वादेरवश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्, एवञ्च 'ब्रह्म न शब्दप्रतिपाद्यम्' इत्यादिष्वपि भाव्यम्"[2]।

तथाहि साम्प्रतम् वस्तुतः आत्मतत्त्वं किं वेति प्रश्नमुत्तरत्राह भगवान्–

"न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।"

अहं त्वं इमे जनाधिपाश्च सर्वे नातीताः इति विनाशाभावःसर्वेषां प्रतिपाद्यते सर्वे वयमितः परं न भविष्यामः इति प्रागभावो[3] निषिध्यते, येनोत्पत्तिरपि निषिद्धा भवति। तथा च जन्यं स्थूलशरीरं सूक्ष्मशरीरं वा, किं बहुनाऽनाद्यपि विनश्वरं कारणशरीरं नात्मा, किन्तु त्रिविधशरीरविलक्षण आत्मेति प्रकृतश्लोकार्थः। तेन च शरीरत्वव्यापकं विनश्वरत्वमिति सूचनेन प्रकृतिशरीरकृत्वमपि परमात्मनो व्यष्टिरूपेण तच्छरीरकत्वं जीवात्मन इव न स्वाभाविकमिति फलति। अतोऽनादेरपि प्रकृतेर्नाशो न विरुध्यते। परमाणुगतानादिश्यामवर्णस्य पाकेन नाशदर्शनादिति व्यक्तमन्यत्र। तेन सविन्मात्रमात्मा वस्तुगत्या, तदविवेकेन तु देहाद्यविविक्तःस प्रतीयते। अतः शास्त्राचार्योपदेशेन आत्मतत्त्वमेतादृशमिति यो जानाति, स पण्डितो गतासूनगतासूंश्च नानुशोचतीति पूर्वेणान्वयः। संविन्मात्रस्यात्मनो न विनाश इति तु तत्त्वम् । तथा चोक्तं योगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणस्योत्तरार्धे–

"संविदाकाशमेवाहं भवानपि जना अपि।
म्रियामहे नो कदाचित् कुतः संविद्विनश्यति।।"

तथोपशमप्रकरणे–

"त्वं चेद् बभूविथ पुरा तथेदानीं भविष्यसि।
अथ चेह स्थितोऽसीति ज्ञानवानसि निश्चयम्।।"
"चिदिहास्ति हि चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति सङ्ग्रहः।।"

इति चिन्मात्रमेवात्मनः स्वरूपम्। चिन्मात्रपदप्रयोगेण ह्यत्र ज्ञानाश्रयत्वम्, अहंरूपत्वं वा न पारमार्थिकमिति प्रतिपाद्यते। तथापि 'अहं त्वम्' आदिपदप्रयोगस्तु भूतपूर्वगत्या यथा लोकेऽधिकारतःप्राप्तावसराणां तत्तदधि-कारनाम्ना व्यवहारः इति न विरोधः। सति चैवं त्वमहमित्यादिभेदव्यपदेशोऽपि भूतपूर्वगत्या

१.अत्र तात्पर्यचन्द्रिकायां शङ्करमते इति लभ्यते।

२.अत्र न त्वेवाहं इत्यारभ्य भाव्यमिति यावत् श्रीरामानुजभाष्यस्य व्याख्या तात्पर्यचन्द्रिका। द्र. श्रीमद्भगवद्गीतारामानुजभाष्य-वेदान्ततात्पर्यचन्द्रिका, पृ.सं.२०-२१, भगवद्गीता तृतीयखण्डः, तदेव।

३.यस्य प्रागभावो भवति सोऽवश्यमेव भवत्युत्पन्न इति नैयायिकानां सिद्धान्तः। सर्वेषां कस्मिंश्चित् काले भाविनामेव प्रागभावस्वीकारात्। अत एवात्र प्रागभावस्य निषेधः क्रियते। हस्तलेखे तु 'प्रागभावाभावो निषिध्यते' इति पाठः।

शरीरभेदाभिप्रायेणैव। "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मातं मामायु" रित्यादावभूतपूर्वगत्या तत्प्रयोगः, अन्यथा "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्" इत्यादि कथं तत्रोपपद्यते, इतीन्द्रप्रतर्दनाधिकरणगतेन "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेवादिवत्" इति न्यायेनैवात्राहं पदम्, न त्वहं भावं प्राचीनमपि सार्वदिकं मत्वा। एवञ्च सत्यात्मभेदोऽप्यत्र भूतपूर्वशरीरोपाधिकृत एव, न तु स्वरूपभेदकृत इति शङ्करभगवत्पादाः[१]। तथाच योगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणे–

"आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्वप्रसक्तेः सम्भवः कुतः।
अविनाशस्त्वनन्तोऽस्ति सतो नाशो न विद्यते।।
द्वित्वैकत्वपरित्यागे शेषं यत्परिशिष्यते।
शान्तं सदसतोर्मध्यं तदस्तीति परं पदम्।।"

इति स्पष्टमात्मभेदो निषिध्यते। लोकानुभवोऽपि वस्तुगत्या मुख्याहमर्थस्य बहुत्वं वारयति। यत्र यत्र बहुत्वमवगतं, तत्र तत्र सजातीयभेदोऽनुभूयते, तमादायैव बहुवचनप्रयोगश्च, इति सजातीयभेद-व्याप्यबहुवचनशब्दप्रयोगः यथा घटाः, ते, इमे, यूयमित्यादौ। अहमर्थमादाय बहुवचनप्रयोगस्तु अहमहमिति सजातीयभेदमादाय कुत्रापि कदापि न भवतीति। अतो ज्ञायते न सजातीयभेदोऽहमर्थस्य। भेदप्रतीतिस्तु शरीरेणौपाधिक एव, इति शरीरभेदमादायैव कथञ्चन 'सर्वे वयम्' इत्यादयः प्रयोगाः। शान्तिपर्वण्यपि–

"बहवः पुरुषा राजन् साङ्ख्ययोगविचारणे"

इति साङ्ख्ययोगमते तदनुसारिणि मते वा बहुत्वमात्मन इति प्रतिपाद्यते। इदं सर्वमभिप्रेत्यैव शङ्करभगवत्पादोऽत्र श्लोके वदति– 'शरीरभेदाभिप्रायेणाहं सर्वे वयमित्यादिभेदव्यपदेशाः'[२] इति। अयञ्चात्मा व्यापकोऽपीत्याद्युत्तरत्र विशदीभविष्यति।

आक्षेपाणां साररूपेण सङ्कलनम्

किं बहुना सर्वेष्वपरेषु मतेष्वपि आत्मनित्यत्वे न विप्रतिपत्तिलेशोऽपि, आत्मस्वरूपे परमस्ति विप्रतिपत्तिः, यतो भगवद्रामानुजाचार्यादयोऽहमर्थमेवात्मानं मुख्यं मन्यन्ते, न केवलं चिन्मात्रमात्मेति, किन्तु प्रमास्थानीयधर्मभूतज्ञानाश्रयो दीप इव प्रभाश्रयः। तत्र तद्धर्मभूतज्ञानमपि नित्यम्। आत्मा त्वणुपरिमाणः। ते च प्रतिशरीरं स्वरूपतोऽपि भिन्नाः, केवलं परमात्मैकः। एवमभिप्रयन् भगवद्रामानुजाचार्यः– शरीरभेदाभिप्रायेणात्मभेदः स्वरूपेण तु जीवात्मानः परमात्मा च सर्वेऽभिन्ना इति इत्यद्वैतवादो न गीताचार्यसम्मतः इति प्रसङ्गतोऽद्वैतवादमत्र निरस्यति[३]। निरासकारणानि तु तदभिमतानि–

१) औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्याताात्त्विकत्वेन तत्त्वोपदेशसमये 'अहं त्वमिमे' इति

१. 'देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनम्, नात्मभेदाभिप्रायेण' इति शङ्करभगवत्पादभाष्यम्। गीताभाष्यम् २/१२

२. एवं भगवतः सर्वेश्वरादात्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिक इति भगवतैवोक्तमिति प्रतीयते। द्र. श्रीमद्भगवद्गीतारामानुजभाष्यम्, पृ.सं.८३,भगवद्गीता प्रथमखण्डः, तदेव।

३. औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्याताात्त्विकत्वेन तत्त्वोपदेशसमये भेदनिर्देशो न सङ्गच्छते। भगवदुक्तात्म-भेदःस्वाभाविकः इति श्रुतिरप्याह– 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इति। श्रीमद्भगवद्गीतारामानुजभाष्यम्। द्र.पृ.सं.८४,भगवद्गीता प्रथमखण्डः, तदेव।

भेदनिर्देशायोगः, "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति श्रुत्यनुपपत्तिश्च[१]।

२) अज्ञानकृतभेददृष्टिवादे तु परमपुरुषस्य परमार्थदृष्टेर्निर्विशेषकूटस्थनित्यचैतन्यात्मयाथात्म्य-साक्षात्कारान्निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतयाऽज्ञानकृतभेददर्शनं तन्मूलोपदेशा अपि व्यवहारा न सङ्गच्छन्ते[४]। बाधितानुवृत्त्या व्यवहारस्तु न भविष्यति[२]।

३) उपदेशानुपपत्तिः। परमपुरुष इदानींतनगुरुपरम्परा चाद्वितीयात्मस्वरूपनिश्चये सति अनुवर्तमानेऽपि भेदज्ञाने कस्मै उपदिशतीति वक्तव्यम्। तत्र परमेश्वरो यदि स्वप्रतिबिम्बाय तर्हि बाधितम्, न कोऽपि स्वप्रतिबिम्बमुपदिशति उन्मत्तं मुग्धं बालं वा वर्जयित्वा[३]।

४)गुरुपरम्परया उपदेशानुपपत्तिस्तु सरलैव। यतो जीवात्मनामपि परस्परमैक्यस्याद्वैतमते स्वीकारात् एकस्यात्मतत्त्वज्ञानेनैव सर्वेषामात्मज्ञानादेकमुक्तौ सर्वमुक्त्योपदेशाभावान्निष्प्रयोजनोपदेशप्रवृत्ति-र्गुरुपरम्परायाः स्यात्[४]। अत आत्मभेदपारमार्थिकतावश्यमभ्युपगन्तव्येति भगवद्रामानुजस्याशयः।

अयमेवाशयः श्रीमदानन्दतीर्थचरणस्यापि।

५)एतेन मुक्तात्मस्वरूपमपि व्याख्यातम्। अनुवृत्ताहंभावो हि मुक्तो नाम यः परमात्मना भोगमात्रेण सधर्मापि तस्य शरीररूपेणात्यन्तभिन्नरूपेण वा वर्तत इति स्वीकर्तव्यम्। अन्यथा ह्यहं मुक्तः स्यामीतीच्छानुपपत्तिः।

तथा चोक्तम् –

"अहमर्थविनाशश्चेत् मोक्ष इत्यध्यवस्यति
अवसर्पेदसौ मोक्षकथा प्रस्तावगन्धतः।।" इत्यादि।

उपरि सङ्कलितानामाक्षेपाणां क्रमेण समाधानानि

अयमत्राद्वैतसिद्धान्तस्तत्र तत्र भगवत्पादमतानुयायिभिरुपपाद्यमानः। तथाहि–

१)अनुपदोद्धृतयोगवासिष्ठादिगतैः प्रमाणैरहमर्थातिरिक्त एवात्मा, यश्चिन्मात्रस्वरूपः, तद्भेदस्तु न शरीरभेदमात्रेण, किन्तु तत्सम्बन्धेन भिन्नतया प्रतीयमानैरात्मभिर्व्यावहारिक एवाद्वैतमतेऽपि। तथाहि 'न त्वेवाहम्' इति श्लोके भगवता गीताचार्येण परमात्मनः स्वस्याप्युत्पत्तिविनाशयोरभावो यः प्रतिपादितः, स

१.अज्ञानकृतभेददृष्टिवादे तु परमपुरुषस्य परमार्थदृष्टेर्निर्विशेषकूटस्थनित्यचैतन्यात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारान्निवृत्ताज्ञान-तत्कार्यतयाऽज्ञानकृतभेददर्शनं तन्मूलोपदेशादिव्यवहाराश्च न सङ्गच्छन्ते, इति हि रामानुजभाष्यम्। द्र. पृ.सं.८५, तदेव।

२. द्र. पृ.सं.८५-८६, तदेव।

३.किञ्च परमपुरुषश्चेदानीन्तनगुरुपरम्परा चाद्वितीयात्मस्वरूपनिश्चये सति अनुवर्तमानेऽपि भेदज्ञाने स्वरूप-निश्चयानुरूपमद्वितीयात्मज्ञानं कस्मा उपदिशतीति वक्तव्यम्? प्रतिबिम्बवत्प्रतीयमानेभ्योऽर्जुनादिभ्य इति चेत्? नैतदुपपद्यते। न ह्यनुन्मत्तः कोऽपि मणिकृपाणदर्पणादिषु प्रतीयमानेषु स्वात्मप्रतिबिम्बेषु तेषां स्वात्मनोऽनन्यत्वं जानन् तेभ्यः कमप्यर्थमुपदिशति। द्र. पृ.सं.८६, तदेव।

४.किञ्च गुरोरद्वितीयात्मविज्ञानादेव ब्रह्मात्मज्ञानस्य सकार्यस्य विनष्टत्वात्, शिष्यं प्रत्युपदेशो निष्प्रयोजनः। पृ.८७, तदेव।

किमर्थ इति विचारणीयम्। न ह्यत्रार्जुनस्य विषादो भगवतोऽपि युद्धेनानेन वधो नाशो वा भविष्यतीति कृत्वा, इति तदुपन्यासो व्यर्थ एव स्यादद्वैतातिरिक्तेषु सर्वेषु मतेषु। तत्राद्वैतमते मधुसूदन-शङ्करानन्द-श्रीधरस्वामि-सदानन्द-भाष्योत्कर्षदीपिका-परमार्थप्रपा भगवत्पादभाष्याणि दृष्टान्तार्थं भगवतोप्युत्पत्ति-विनाशाभाववचनमिति प्रतियन्ति। एवमेव भगद्रामानुज-श्रीमदानन्दतीर्थचरण-श्रीराघवेन्द्रस्वामि-श्रीवल्लभादयोऽपि। तत्राद्वैत्यभिमतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तभावः शङ्करानन्देन विशदं विवेचितः तत्त्वम्पद-लक्ष्यार्थमादाय स्वरूपैक्यमादाय। अत्र मते शब्दतो दृष्टान्तवत् यथा तथा शब्दतो निर्देशेन प्रतीतावपि वस्तुगत्या तस्यापि नित्यत्वं तात्पर्यविषयतया प्रतिपाद्यत्वेनैव। एवमेव ब्रह्मानन्दगिरिपैशाचभाष्यादौ विवृतमपि। नहि देहादावात्माभिमानेन भीष्मादिवधं तन्मरणं वा शङ्कमानस्यार्जुनस्य श्रीकृष्णे परमात्मबुद्धिः, स्वस्य भीष्मादीनां वा देहातिरिक्तात्मस्वरूपविज्ञानं साम्प्रतमस्ति, येन तादृशात्मनोऽप्यनित्यत्वमाशङ्कमानं प्रति तन्नित्य-त्वमुपदिश्येत भगवद्दृष्टान्तेन। आत्मनित्यत्वशङ्का हि देहादावात्मत्वबुद्धिदशायामेवेति दृष्टान्ततया न समुच्चये तात्पर्यविषयतया प्रतिपाद्यत्वेन वा भगवतोऽपि निर्देशः इति पूर्वोद्धृतयोगवासिष्ठोक्तदिशा चिन्मात्र-स्वरूपमात्रैक्याभिप्रायेणैवेति वक्तव्यम्। दृष्टान्तत्वं हि भगवतो यद्यात्मत्वेन हेतुना तन्नित्यत्वसाधनमभिप्रेत्यैव, तर्हि नित्यशरीरवत्त्वमुपाधिः, तद्वदेव नित्यशरीरवत्त्वस्याप्यापत्तिः स्वरूपैक्येन तत्साधनमादायार्थान्तरं च स्यात्।

तथा चात्र न जीवेश्वरभेदः स्वाभाविकोऽभिमतः, किन्तु कल्पित एव। तथा चात्र सदानन्दः–

"देहाद्युपाधिभेदेन भेदोऽहं त्वमिमे त्विति।
नात्र स्वाभाविको भेदोऽप्यात्मनो हरिणेरितः।।
त्वंपदार्थविशुद्ध्यर्थं भेदमुद्दिश्य लौकिकम्।
आत्मनो नित्यताद्वारा वैलक्षण्यं शरीरतः।।
शास्त्रस्योपक्रमे यस्मात्सिसाधयिषितं हरेः।
उपदेश्योपदेशादिव्यवहारस्तु कल्पितः।।
भेदस्तेनैव तत्सिद्धिर्न वास्तव इहेष्यते।"[१] इति।

एतेन– औपाधिकभेदवादे तत्त्वोपदेशसमयेऽहं त्वमिम इति निर्देशायोग इति शङ्का व्याख्याता। परमात्मनोऽचिन्त्यशक्तेः सर्वदाऽज्ञानपरवशस्य मायोपाधिदशायां सर्वज्ञत्वसर्वजगत्कारणत्वस्याद्वैतमतेऽपि मतान्तर इव स्वीकारात्, तदीया भेदव्यवहाराः न कथमप्यनुपपन्नाः। अज्ञाननिबन्धनो हि कल्पितभेदव्यवहारः, कल्पितस्य सत्यत्वेन भेदस्य व्यवहारोऽज्ञानोपहितजीवानामेव। परमात्मनस्तु कल्पितानां कल्पितत्वेन ग्रहणेन सत्यमिथ्यात्वौदासीन्येन भेदव्यवहारो न विरुध्यते तद्दृष्ट्यैव तेषामुपदेशः कर्तव्य इति। यथा बालानां क्रीडावसरे लोष्ठेषु विपञ्चिकासु अन्यत्र वा पित्रादिरूपेण व्यवहरतां सन्तोषाय तन्मिथ्यात्वमवगच्छन्तोऽपि मात्रादयः सत्यत्वमिथ्यात्वबुद्ध्यौदासीन्येन तद् दृष्ट्यैव व्यवहरन्ति, अन्ते चावसरं प्राप्य तेषां तन्मिथ्यात्वमुपदिशन्ति, एवमेवात्रापि। व्याधकुलसंवर्धितराजकुमारश्चात्र दृष्टान्तः। सर्वथा तु स्वयमनज्ञस्यापि

१.द्र. पृ.७९, सदानन्दीटीका, श्रीमद्भगवद्गीता, तत्त्वप्रकाशिकाद्यष्टटीकोपेता, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुम्बई

परमात्मनो भेदव्यपदेशो न विरुध्यते। निवृत्ताज्ञानस्य कथं व्यवहार इति चोदना हि जीवात्मानमादायैव कथञ्चनावसरेऽपि न परमात्मानमधिकृत्य। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनश्चेतनानां' इति श्रुतिरप्यत एव व्याख्याता। नित्यानां नित्यत्वमपि नित्यपरमात्मानुवेधनिबन्धनमधिष्ठानतयाऽज्ञानोपहितदशायामिति तदर्थः, इति तस्यामवस्थायां सर्व-जगत्कारणत्वमिव भेदव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते।

२)उपदेशानुपपत्तिस्त्वेवं सति न प्रसरमपि लभते। तत्र परमात्मनः स्वप्रतिबिम्बभूतान् जीवान् प्रत्युपदेशानुपपत्तौ कारणन्तु– न ह्यनुन्मत्तः कोऽपि मणिकृपाणदर्पणादिषु प्रतीयमानेषु स्वात्मप्रतिबिम्बेषु तेषां स्वात्मनोऽन्यत्वं जानन् तेभ्यः कमप्यर्थमुपदिशतीति। अयमनुयोगस्तु–श्रीमदानन्दतीर्थचरणीयानां दृष्ट्या न भवितुमर्हतीति। यतःश्रीमदानन्दतीर्थपादोऽपि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" इत्यादौ जीवस्याणोरपि सर्वगतत्वं, ईश्वरप्रतिबिम्बत्वाद् युज्यत इति वदन् प्रतिबिम्बेनापि व्यवहारो भगवतो नानुपपन्न इति मन्यते। मणिकृपाणादौ प्रतिबिम्बने तु स्वशरीरस्यैव जडस्यैव, न तु चिद्रूपस्यात्मनः, चैतन्यस्य वेति नेदं निदर्शनतामश्नुते। संज्ञादेवी दर्पणप्रतिबिम्बितस्वशरीरस्य स्वचैतन्यस्य संवलितस्याह्वानेन सूर्यसविधे संस्थाप्यान्तर्हितेति पौराणिकी कथा[1] नाश्रुतपूर्वा कस्यापि। छायाग्रहोऽपि केतुः बहुकार्यं साधयतीति किमिदमश्रुतपूर्वमदृष्टचरं वा?

अस्तु वा केवलाद्वैतिनां मत उपदेशानुपपत्तिः। इदमेवात्रानुपयुज्यते भगवद्रामानुजमते कथं वोपदेशोपपत्तिः? यदि जीवो भगवतः शरीरमेवेति तदीयः सिद्धान्तः। किमनुन्मत्तः कोऽपि स्वशरीरमुद्दिश्येदं कुरु मा कुरु इत्युपदिशन् दृष्टः, यं प्रति परमात्मन उपदेशः। स बद्धोऽपि तदीयशरीरेण साकमेव किं परमात्मनः शरीरम् उत शुद्धः प्रत्यगात्मा? आद्ये स्वशरीरतया स्वस्वरूपेणोपदेशो बाधितः, द्वितीये तु स्वशरीरं प्रत्येवोपदेशः, कुत्र वा दृष्टान्तः? परमात्मनोऽचिन्त्यशक्तेर्यदि घटते तर्हि किमपराद्धमद्वैतिवादिनां परमात्मना?

३) एतेन गुरुपरम्परयोपदेशोपि व्याख्यातः। गुरवो निवृत्ताज्ञाना अपि प्रारब्धकर्मशेषवशात् सर्वथा ब्रह्मभावमनापन्ना, बाधितानुवृत्तेर्बहुशो दर्शनात्। एवं मिथ्येत्यवगत्यापि व्यवहारस्तु दुष्यन्तादिवेषधारिषु स्वस्य दुष्यन्तत्वमारोपितमिति जानत्स्वपि तद्वदेव व्यवहारस्य दर्शनात् बहुशो दृश्यते। जीवन्मुक्तानामपि तत्त्वज्ञानां स्थितप्रज्ञानां व्यवहारासम्भवशङ्कापि स्वयं गीताचार्य एव परिहरति।

आस्तां तावदद्वैतिनां कथा। **भगवद्रामानुजमतेऽपि**– गुरवः किं शरीरव्यतिरिक्ततया शुद्धप्रत्यगात्मस्वरूपज्ञानिन एवोपदेष्टारः, ते च भगवच्छरीरतयाऽऽत्मानमवगच्छन्तः, मात्रयापि प्राकृतशरीरसम्बन्धरहिताश्च किं मन्यन्ते, उत न? अन्त्ये तेषामुपदेष्टृत्वं किमेतेन शरीरेण उत शरीरान्तरेण। तत्रैतच्छरीरसम्बन्धः, शरीरान्तरसम्बन्धो वा बाधितः। मुक्तात्मरूपास्तु सूक्ष्मत्वादविज्ञेयाः के वा त इति कुतो वाऽवगन्तव्यम्।

१.पुराणेषु श्रूयते खलु कथैषा यत्-संज्ञानाम्नी खल्वासीत् सूर्यस्य भार्या, सा सूर्यस्य तेजोऽसहमाना स्वीयां छायां सूर्यस्य सविधे संस्थाप्य स्वयं तपः कर्तुमन्यत्र गता। संज्ञायाश्छाया च संज्ञायाः पुत्रौ मनुं यमञ्च कन्यां यमीञ्च पालितवती। अनन्तरं च सूर्यश्छायायां सावर्णमनुं शनैश्चरञ्चोत्पादितवान्। सैव कथाऽत्र सूच्यते। द्र. ब्रह्मपुराणम् ६अध्यायः एवं अन्यत्र पुराणेष्वपि।

यदि शास्त्रविवेकज्ञानिन एव स्वयमपरोक्षज्ञानरहिता अपि मुक्तकल्पास्तत्त्वज्ञानिनो गुरवोऽत्र मन्यन्ते, तर्हि केवलाद्वैतवादेऽपि किमियं सरणिर्दण्डवारिता? एकमुक्तौ सर्वमुक्त्यापत्तिस्तु बहुधाऽद्वैतसिद्ध्यादौ परिहृता।

मुक्ताहंभावानुवृत्तिरपि व्याख्याता। तत्र हि मुक्तानामहमिति व्यवहारोऽहंकारोपहितरूपेण, तदुपलक्षित-रूपेण वा भूतपूर्वगत्यैव न तु तद्विशिष्टरूपेण। मुक्तौ हि केवलाद्वैतमते नाहमर्थस्य विनाशः किन्त्वहमवस्थायाः बन्धस्यैव। नहि बद्धः सर्वोपि मुक्तिमिच्छन् स्वयं नश्यतीति किन्तु तस्य बन्ध एव नश्यति। अयमेव न्यायोऽत्रापि। तत्र विशेषणनाशव्यवहारमात्रेण 'शिखी ध्वस्त' इतिवत् विशिष्टनाशव्यवहारमात्रम्, न तु विशिष्टस्य शिखिन एव नाशोऽपि इति कथं मोक्षकथाप्रस्तावगन्धो नोपसर्पेत्।

उपदेशानुपपत्त्यादयो विशिष्टाद्वैतादिसिद्धान्तेऽपि

आस्तां तावदद्वैतिनां कथा। विशिष्टाद्वैतादिमतेऽपि किं बद्धो जीवः, य आत्मानं मुक्तमिच्छति। स किमेतेन शरीरेण साकमेव, विशिष्टरूपेण मुक्तो भवति? सर्वथा तु तत्तन्मतानुसारिणी व्यवस्था तत्तत्सम्प्रदाय-पक्षपातिभिः स्वयमनुसन्धाय तत्तदाचार्यप्रवर्तितमार्गेणैव (अङ्गीकार्या)। यावत्कर्मयोगभक्तियोगाधिकारं, यावद्ब्रह्मलोकावाप्ति वा केवलाद्वैतदृष्ट्याऽपि मतान्तरेष्विव भेदव्यवहारादिकं सर्वमुपपन्नमेव। कश्चनाद्वैत-दृष्ट्या जन्मान्तरपुण्यकर्मभक्तिज्ञानयोगाद्यनुवर्तनेनेहैव विनोत्क्रमणं लोकान्तरगमनं वा यदि ब्रह्मभावमाप्नोति, आप्नोतु नाम किं तावता कस्य छिन्नम् ? कर्मयोगभक्तियोगमात्राधिकारिणां तु कर्मयोगाधिकारो भक्ति-योगाधिकारो वा केवलाद्वैतमते न वार्यते। केवलमाचारविशेषमात्रेण तिलकविशेषादिधारणमात्रेण द्वैतित्ववैष्णवत्वादिपरिभाषा तु न किञ्चित्करी इति तत्तत्सम्प्रदायपरिपालनमेव परमं कर्तव्यं न तु तिलकविशेषादिग्रहणमात्रेण स्वस्वोत्कर्षाभिमानः। अधिकं तूत्तरत्र। मतान्तराभिमतमुक्तावहं-भावानुवृत्तिरद्वैतिनामपि सम्मता, स्वाभिमतायां मुक्तौ त्वहङ्कारमात्रनिवृत्तिः, नत्वहमित्यर्थनिवृत्तिरिति तु तत्त्वम् ।

गुरोरात्मतत्त्वाज्ञानविनाशेन शिष्याज्ञाननिवृत्तिरिति गुरुशिष्ययोरेकस्य तत्त्वज्ञानेन तदीयाज्ञान-निवृत्तिवार्तापि नावसरति, समाधितो व्युत्थितस्यैवोपदेष्टृत्वात् । पूर्वोक्तरीत्या पटुतरसाक्षात्कारा-भावात्तत्रोपदेष्टृत्वविबोधः[१], तत एव यावत्सप्तभूमिकं तस्य जीवन्मुक्तिः। अयमेव न्यायः शिष्यस्यापि।

सामानाधिकरण्यव्यपदेशस्याविरोधोपपादनम्

यत्तु त्रयोदशाध्याये 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति सामानाधिकरण्यव्यपदेशः तत्रेश्वरस्यैव सतोऽज्ञानात् क्षेत्रज्ञत्वमिति। नैतद्विरुद्धं भाषितम् । तत्रेश्वरत्वं हि मायोपाधिकस्य तस्य बिम्बत्वेन तत्र बिम्बप्रति-बिम्बयोर्भेदस्यापि सत्त्वादुपाधेः प्रतिबिम्बमात्रपक्षपातित्वेन बिम्बपक्षपाताभावात्तदौपाधिकं क्षेत्रज्ञत्वमिति न विरुद्धं भाषितम्। न चात्र जीवेश्वरयोरभेदमात्रम्, किन्तु भेदोऽपि 'न त्वेवाहं' इति श्लोके भगवत उपदेशत्वनिर्देशात्तत्रोभयोरपि संविद्रूपेणाभेदसूचनाच्च। भेदो न तयोरात्यन्तिकः, न वा परमार्थ इति सूच्यते,

१.अयं पाठः सम्भवतोऽनया रीत्या सङ्गतिमर्हति पटुतरसाक्षात्कारः समाध्यवस्थायामेव स्यात्, न तु समाधितो व्युत्थितस्य। अतस्तदानीमुपदेशः सम्भवति।

इतीश्वरसर्वज्ञत्वं तस्याज्ञानशून्यत्वं च 'सदेव' इत्यादिविवक्षणान्न कोऽपि दोषः।

तत्र भगवत्पादमते द्विविधाः सगुणश्रुतयः– उपासनापराः, ज्ञेयब्रह्मस्वरूपनिरूपणपराश्च। व्यक्तञ्चैतदानन्दमयाधिकरणे तदीयभूमिकायाम्। तत्रोपासनापराः सगुणपरा एवेतीदं नाद्वैतिनोऽपि वारयन्ति, उपासनायाः उपास्यापारमार्थिकत्वेऽपि तत्कार्यकारित्वाविरोधात्। ज्ञेयपराणि तु तन्मतेऽध्यारोपापवादविधया सविशेषनिर्विशेषवाक्यानां प्रवृत्तत्वात् तत्रापि सविशेषत्वमध्यारोपविधयैवेति स्वीकाराच्च तस्य चापोद्यविशेषसमर्पणपरताया एव युक्तत्वेन तत्पारमार्थिकत्वं न सम्भवति। नहि जगत्कारणमपि पारमार्थिकमुपास्यकोट्यप्रविष्टत्वात्, अन्यथा 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' इति सूत्रविरोधापातः। तथाच ब्रह्म निर्विशेषं सविशेषञ्चेति स्ववचनं न विरुद्धम्, इदं रजतं नेदं रजतमितिवदव्याहतेः। अत्रानुभूतेरननुभाव्यत्वम्, ब्रह्मावाच्यत्वोपपत्त्यादिकञ्च तत्र तत्र व्यक्तम्। विशेषतश्च शतभूषण्यामस्मदीयायामद्वैततत्त्वसुधाद्वितीयभागे च[1]। अतो नोपदेशानुपपत्त्यादिदूषणमुपपन्नम्। इदञ्च दक्षिणामूर्तिस्तोत्रे प्रतिश्लोकं गुरुमूर्तये इति विशेषणेन सूच्यते। अनेन तदेवम् निवृत्ताज्ञान एव गुरुरुपदेष्टा नानिवृत्ताज्ञान इति सिद्धम्।

द्वैतिनामपि त एवाक्षेपास्तदुत्तराणि च

इमावेव प्रश्नोत्तरौ द्वैतिनोऽप्युपक्षिपन्ति स्वीये भाष्यादौ। द्विचत्वारिंशद्वत्सरात् पूर्वं[2] कदाचित्तिरुपतियात्राप्रसङ्गेन तत्रोपस्थितं विधेयतमं दृष्ट्वोत्साहमूर्तयः पूज्यपादश्रीसत्यध्यानतीर्थमहोदयाः अपृच्छन्– श्रीशङ्कराचार्याः मुक्ताः वा न वेति। तदाऽयं विधेयतमोऽपि पर्यनुयुङ्क्त– श्रीमध्वाचार्याः मुक्ताः वा न वेति। ततस्तेऽपृच्छन्– प्रश्नोत्तरमप्रदाय कुतोऽयं प्रतिप्रश्नो भवत इति। तदा विधेयेन प्रत्युत्तरितम्– यदेवोत्तरमत्र श्रीचरणानां तदेवोत्तरं श्रीचरणानां प्रश्नस्यापि भवितेति। ततो विधेयः पर्यनुयुङ्क्त–को वाऽऽशयो भवतां प्रश्नस्येति, ततस्ते न्यवेदयन्, यदि शङ्कराचार्याः मुक्तास्तर्हि कथं तेषां भाष्यरचनादिकं, अद्वैतोपदेशादिकञ्चेति। ततो विधेयेन प्रतिनिवेदितम् यद्– मदीयप्रश्नस्याप्ययमेवाशयः। यदि श्रीमन्मध्वाचार्याः मुक्तास्तर्हि वैकुण्ठलोकं गतानां तत्रैव सर्वदावस्थितानां कथं शिष्यान् भूतलवासिनः प्रति तेषां भाष्यरचनादिकं द्वैततत्त्वोपदेशादिकञ्चेति। ततस्ते जागरूका अवदन् श्रीमध्वाचार्याः भाष्यरचनाकाले न मुक्ताः, किन्तु स्थितप्रज्ञाः सन्तः केवलं वेदान्तार्थस्य परीक्षका एवासन्निति। तदा विधेयेनोत्तरितमेवमेव न्यायः श्रीभगवत्पादानामपि विषयेऽनुसन्धीयतामिति। तेऽपि हि स्थितप्रज्ञाः सन्तः एवोपादिशन्नद्वैततत्त्वम् भाषयामासुश्च ब्रह्मसूत्रादीन् 'नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिञ्च तत्पुत्रपराशरञ्च' इत्यनादिपरम्पराप्राप्तपन्थानमनुसृत्य श्रीदक्षिणामूर्तिरिव।

आत्मतत्त्वज्ञानस्योपायाः

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिर्णयः॥"

१.द्रष्टव्यम्– शतभूषण्याम्-पृ.४६-५५, अद्वैततत्त्वसुधाद्वितीयभागे-पृ.६८९-७०९.

२.एषा घटना प्रायशः १९२२ ख्रिस्ताब्दीया भवेदिति सम्भावयामि।

इति योगवासिष्ठे आत्मतत्त्वविज्ञानस्योपायौ द्वौ मार्गौ निर्दिष्टौ– योगमार्गः, ज्ञानमार्गश्चेति। तत्र योगमार्गेणोपदेशपरम्परा समाधाववस्थायामात्मतत्त्वसाक्षात्कारः, ततो व्युत्थाय तत्त्वोपदेशः शिष्यान् प्रतीति। श्रीदक्षिणामूर्तिरपि योगमार्गमवलम्ब्य सनकादीन् प्रति तत्तद्भूमिकारोहणेन क्रमेणान्तिमभूमिकापर्यन्तं समाधित उत्थायोपादिशन्नात्मतत्त्वम् । भगवत्पादास्तु कर्मयोगादिकं विचारादिकञ्च प्रधानमवलम्ब्य भाष्यादिमुखेनाऽऽत्मतत्त्वं व्यवस्थाप्य श्रीदक्षिणामूर्त्यवलम्बितयोगमार्गेणाप्यात्मतत्त्वमुपदेष्टुं श्रीदक्षिणामूर्तेरवतारत्वात् स्वस्य स्वयं स्थितप्रज्ञतामवलम्ब्य योगमार्गेण स्वयं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रव्याजेनात्मतत्त्वमनुसंदधति। तदत्र योगप्रकारमवगन्तुं तत्सम्प्रदायसिद्धस्थितप्रज्ञभूमिकाभेदाः प्रथमं सङ्गृह्यन्ते, येन कां कां भूमिकामवलम्ब्यात्मतत्त्वनिर्णयः सुकरः स्यादिति विशदं भवेत्।

स्थितप्रज्ञलक्षणानि

प्रकृतोपयुक्तं तत्र भगवद्गीताद्वितीयाध्यायसङ्गृहीतानि सप्तमान्तभूमिकास्थस्थितप्रज्ञलक्षणानि सर्वाणि योगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धे विंशत्यधिकशततमाध्यायगतलक्षणे मूलान्वयेन। तानि यथा–

"शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिका प्रोक्ता योगस्यैव च योगिनः ।।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासना विलयात्मिका।।
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र वर्तते ।।
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशी स्थितिः।।
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ।।
तुर्यातीता च यावस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ।।
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्यभिधीयते।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ।।
आनन्दैकघनीभावात् सुषुप्त्याख्या तु पञ्चमी।
असंवेदनरूपा या षष्ठी तुर्यपदाभिधा ।।
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा।
अन्तः प्रत्याहृतिवशाच्चेत्थं चेन्न विभावितम् ।।
मुक्त एवास्य सन्देहो महासमतया तया ।।" इति।

षष्ठसप्तमभूमिकयोः संस्कारात्मनैवाज्ञानं वर्तते, न तु स्वरूपतोऽज्ञानमिति न तत्र षष्ठ्या गाढसुषुप्तित्वेन

व्यपदेशायोगः इति योगवासिष्ठाशयः। तत्र चतुर्थीभूमिकापर्यन्तं तु न समाधावचला बुद्धिः, किन्तु पञ्चम्या एवेति पञ्चम्यादिसप्तम्यन्तभूमिकारूढत्वमेवात्र 'तदा योगमवाप्स्यसि' इत्यनेन विवक्ष्यते।

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।"

तथाहि तत्र पञ्चविंशत्युत्तरशततमाध्याये–

"जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव।
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ।।"

इति वर्णितचतुर्थभूमिकामारूढः श्रीराम उवाच–

"सप्तानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।
कीदृशानि च चिह्नानि भूमिकां प्रति योगिनः।।"

श्रीवशिष्ठ उवाच–

"कथं विरागवान् भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम् ।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः।।"

प्रथमा भूमिका–

"विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ।।
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते।।
मनोनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगानपेक्षते।।
स्नेहप्रणयमर्माणि पेशलान्युचितानि च।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यनुभाषते ।।
तदासौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।"

द्वितीया भूमिका–

"मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ।।
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते।
एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तारणं प्रति।।
स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ।।
श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्यातान् श्रूयते श्रेष्ठपण्डितान् ।।

पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ।।
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरव्याश्रितामीणत् त्यजत्यहिरिव त्वचम् ।।"

तृतीया भूमिका–

"इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ।।
असंसङ्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम् ।।
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम् ।
तपसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्रमैः ।।
संसारनिन्दकैस्तद्वत् वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ।।
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ।।
अभ्यासात् साधुशास्त्राणां करणात् पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।।
तृतीयां भूमिकां प्राप्य मुधोऽनुभवति स्वयम् ।
द्विप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ।।
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ।।
इत्यसज्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ।।
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ।।
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ।।
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलग्नमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ।।
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ।।

पौरुषेण प्रयत्नेन सन्तताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम ॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनाम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥
विवेकमग्नो रूढोन्तर्विचारार्कविकासिताम् ।
फलं फलत्यसंसङ्गां तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥
समवायाद्विशुद्धानां सञ्चयात् पुण्यकर्मणाम् ।
काकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥
भूमिः प्रोदितमात्रा तैरभूताङ्कुरिकेव सा ।
विवेकेनाम्बुसेकेन रक्ष्या पाल्या प्रयत्नतः ॥
येनांशेनोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
तमेवानुदिनं यत्नात् कृषीवल इवाङ्कुराम् ॥"

चतुर्थी भूमिका–

"एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
द्वितीयां भूमिकां यत्नात् तृतीयां प्राप्नुयात्ततः॥
श्रेष्ठाऽसंसङ्गता त्येषा तृतीया भूमिकात्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसङ्कल्पकलनः पुमान् ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो मुक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वाप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः॥"

पञ्चमी भूमिका–

"भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते।
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥
सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥
शान्तशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।

गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकामितः ।
अन्तर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥"

षष्ठी भूमिका–

"षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात् क्रमति भूमिकाम् ।
यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यनहङ्कृतिः ॥
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ।
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ।
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ॥
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्तथैवैष न किञ्चन ॥"

सप्तमी भूमिका –

"षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ।
कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्ब्रह्मेत्युदाहृता॥
कैश्चित् प्रकृतिपुम्भावविवेक इति भाषिता।
अन्यैरप्यन्यथा नानाभेदैरात्मविकल्पितैः ॥
नित्यमव्यपदेश्यापि कथञ्चिदुपदिश्यते ।
सप्तैता भूमिका प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ॥" इति।

तत्र प्रथमादिचतुर्थ्यन्तभूमिकाः जाग्रत्स्वप्नानुकूल्याः कथञ्चन लक्षणतो ज्ञातुं शक्यन्ते स्वानुभवेनापि, सप्तमी भूमिका तुर्यातीता न व्यपदेश्या। ब्रह्ममात्ररूपेति नास्या अपि लक्षणेनावगमः सम्भवति। परिशेषात् पञ्चमषष्ठयोरेव लक्षणं सूक्ष्मदृष्ट्यावगम्यमित्यवगत्य श्रीराघवेण वसिष्ठसविधे कृतं प्रश्नमेव भगवत्सविधेऽर्जुनः पृच्छति, यत आत्ममात्रसाक्षात्कारावस्थायां विद्यमानस्य सशरीरस्य सर्वशरीरव्यवहारशून्यस्याशरीरकल्पस्य लक्षणं भगवन्मुखेनावगन्तुं शक्यमिति भावः।

अत्र षष्ठभूमिकां स्थितस्य किं लक्षणम्, सा च भूमिका पञ्चमावस्थायाः–

"कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात् क्रमति भूमिकाम् ॥"

इत्यभ्यासवशेनैव भवतीति पञ्चम्याः भूमिकायाश्चतुर्थीभूमिकादृष्ट्या फलस्वरूपत्वेऽपि षष्ठभूमिकादृष्ट्या साधनावस्थापीति साधनावस्थायाः पञ्चम्याः 'समाधिस्थस्य केशव' इत्यनेनैव लक्षणप्रश्नः, षष्ठ्याः भूमिकायाः लक्षणप्रश्नस्तु 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इति। अयमेवाशय आनन्दगिरिणा ज्ञाननिष्ठस्य लक्षणविवक्षया तन्निष्ठां साधनबुभुत्सया पृच्छता– **समाधिस्थे**त्याद्यवतरणग्रन्थेन ज्ञाप्यते। **'स्थितधीः किं प्रभाषेत'** इति तु समाधिस्थस्यैव विषये तत्कर्तृकं भाषणमासनं गमनं च कीदृशम् ; जाग्रत्येव सुषुप्ततुल्यः सुषुप्तवत् किं सर्वथा न व्यवहरतीति प्रश्नाभिप्रायः। सति चैवं पञ्चमषष्ठभूमिकयोः को वा भेद इति तु न प्रश्नतात्पर्यम्। इदमेवाभिप्रेत्याहानन्दगिरिः–(समाधिस्थस्यैव) तस्यैवार्थक्रियां पृच्छति– स्थितधीरित्यवतारयति। अत एव भगवत्पादभाष्यम्–

"स्थितधीः=स्थितप्रज्ञः स्वयं वा किं प्रभाषेत? किमासीत? व्रजेत किम् ? आसनं व्रजनं वा तस्य कथम्? इत्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमनेन श्लोकेन पृच्छ्यते" (श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यम् २/५४) इति।

अनेन च ज्ञायते स्थितप्रज्ञावस्थस्यैवायं लक्षणप्रश्नः, न तूत्थितावस्थायां स्थितप्रज्ञस्य लक्षणप्रश्नोऽयमिति। परमार्थप्रपापि– स्थितप्रज्ञः समाधिस्थ एवोक्तैर्लक्षणैर्बोद्धव्यः, अथ व्यवहारेण वा तल्लक्षणं पृच्छ्यते– इति व्याचक्षाणा व्यवहारगम्यमिङ्गितादिलक्षणं स्थितप्रज्ञस्यैव समाध्यवस्थस्यैव (स्थितधीरित्यनेनापि) विवक्षेति गमयति। श्रीधरस्वाम्यमुमेव पक्षमवलम्बते। पैशाचभाष्यम्, शङ्करानन्दश्च तथैव स्वीकुरुतः।

मधुसूदन-सदानन्द-भाष्योत्कर्षदीपिका-ब्रह्मानन्दगिरयस्तु— स्थितप्रज्ञो द्विविधः– समाधिस्थः, व्युत्थितश्च। तत्र पूर्वार्धेन समाधिस्थलक्षणप्रश्न उत्तरार्धेन व्युत्थितस्येति विवेक इत्यभिप्रयन्ति। अथोपष्टम्भकतया तु भाष्योत्कर्षदीपिका प्रजहातीत्यारभ्याध्यायसमाप्तिं यावत् स्थितप्रज्ञलक्षणं साधनञ्चोपदिश्यते। सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते, यत्नसाध्यत्वादिति भाष्यमवलम्बते। श्रीधराशयस्तु प्रकृते भाष्ये स्पष्टं स्थितप्रज्ञस्यैव लक्षणानि साधनानि चोपदिश्यन्त इति भाषितम्। न च तत्र समाधिस्थव्युत्थितावस्थाद्वयमपि। भाष्याशयस्तु पूर्वपूर्वावस्थायामवस्थायोत्तरावस्थाप्राप्त्यर्थं यानि साधनान्यनुष्ठीयन्ते, तानि तानि साधनानि तदवस्थाप्राप्तप्रयत्नसाध्यानि श्वासनिःश्वासादिवत् स्वयमेवोपसन्नानि भवन्तीति। न हि तावता समाधितो व्युत्थानकल्पनायां भाष्यस्य तात्पर्यम्। न हि पञ्चमामवस्थामनवस्थाय ततो व्युत्थाय षष्ठभूमिकासाधनानुष्ठानम्, किन्तु तत्रैवावस्थायैवेति योगवासिष्ठेऽनुपदोद्धृते व्यक्तमेव। अतः समाधिस्थस्यैवायं लक्षणादिप्रश्नः इति।

विस्तरश्चैतेषां लक्षणानाम्–

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहातीनि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

अत्र तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति षट्सु श्लोकेषु। तत्र श्लोकद्वयं पञ्चमभूमिकास्थं जीवन्मुक्तम्, तृतीयस्तुरीयभूमिकास्थं स्थितप्रज्ञं, तुरीयस्तृतीयभूमिकास्थं जीवन्मुक्तम्, पञ्चमो द्वितीयभूमिकास्थं जीवन्मुक्तम्, षष्ठः प्रथमभूमिकास्थं जीवन्मुक्तम्, आद्ययोर्द्वयोः प्रत्येकमेकैकजीवन्मुक्तविषयत्वेऽपि षड्भूमिकास्थान् जीवन्मुक्तान् स्थितप्रकरणमिदं विषयीकरोति। सप्तभूमिकास्थो हि विदेहमुक्तो ब्रह्मरूपो न जीवन्मुक्तःस्थितप्रज्ञो वेति योगवासिष्ठक्रमानुसारेण योजनमस्य प्रकरणस्य। तत्रैतेषु षष्ठभूमिकास्थः स्थितप्रज्ञ एव सर्वोत्तमः, तदवस्थाप्राप्तिरेव विदेहमुक्तये भवति। सा तु मरणपूर्वक्षणे भवति चेदपि विदेहमुक्तिरेवेति प्रतिपादनेन स्थितप्रज्ञप्रकरणमुपसंहर्तुकामः षष्ठं स्थितप्रज्ञं पञ्चमस्थितप्रज्ञेन साध्यमानानां यत्नानां फलरूपेण प्रकटीभवनं तं प्रशंसति–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" इति।

अयं हि श्लोको योगवासिष्ठे निर्वाणो त्तरार्धे त्रिचत्वारिंशे सर्गे–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

इत्युपक्षिप्य तत्रैवं व्याख्यातम्–

"स्थितमेवाविरामयद् जाग्रदस्य सुषुप्तिवत् ।
चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषिणः॥" इति।

यस्माद्धेतोः सर्वजनानामज्ञानान्धकारावृतत्वात् सुप्तवत्स्थितमेवात्मतत्त्वस्य तत्त्वविदोऽविरागी विरागशून्यो जागरः, तस्मात्–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।"

यस्माच्चास्य मूढजनजागरत्वेन प्रसिद्धो जागर ऐन्द्रियकप्रत्यक्षरसेषणादयः शब्दादिविषयाः स्वादा वा चित्रावलोकितनृत्ययुद्धादय इव पुरोगता अपि न सन्ति। तस्मात् –"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" इति।

तत्रोत्तरार्धस्य व्याख्यानमपरेणापि श्लोकेन क्रियमाणमिदमेव–

"जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।

भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च॥"

इति निशा स्वप्नवद्भाति यदि न भाति, सुषुप्तवन्न भाति यदि न भातीत्युक्तश्लोकार्थः। सति चैवं भुवनस्य सर्वस्य सत्त्वं प्रतिभासमात्रेण, वस्तुगत्या तु न सत्त्वमिति सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वं ज्ञानिदृष्ट्यात्र प्रतिपद्यते। यथा च–

"स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते स्वप्नालोकमनःक्रियाः।
न स्वदन्ते तथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ॥"

तथापि–

"निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः।
आशीतलान्तःकरणो निर्वाणोऽज्ञोऽवतिष्ठते॥
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः।
निम्नं विनैव तोयस्य न सम्भवति काचन ॥"

इत्येव तदीया स्थितिः। ज्ञानिनो विषयोपभोगाभावेऽपि तृप्तिस्तु तस्यैवानन्दरूपेणावस्थानात्, बाह्य-विषयाकर्षणमुक्तस्य ध्यानादिकं चित्तनिरोधादिकं विनैव भवति। यथा तडागोदकं ततोऽतिनीचं स्थानमपि कुल्यादिमार्गं विनापि गच्छति, तथेति युक्तमुक्तम्–

"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" इति।

एतेन– बाह्यप्रपञ्चस्यान्तरस्य वात्मन्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वबुद्ध्या सत्कल्पतानुभवो ज्ञानिनाम्, अज्ञानां तु तत्सत्यत्वग्रह इति विशेष इति विशदं प्रतिपाद्यते। किं बहुना, प्रकृतस्त्रिचत्वारिंशः सर्गोऽपि या निशा सर्वभूतानामिति श्लोकार्थस्य संक्षेपतो विस्तरतश्चोपक्रमपरामर्शोपसंहारैक्येन प्रतिपादनपर इति तत एवाधिकमवगन्तव्यम्।

या निशेति श्लोकस्यार्थः

सति चैवमद्वैतमतरीत्याऽस्य श्लोकस्य योजना– **सर्वभूतानां या निशा**= ब्रह्माज्ञानं प्रपञ्च-मिथ्यात्वाज्ञानं वा, **तस्याम्**=ब्रह्माज्ञाने प्रपञ्चमिथ्यात्वाज्ञाने वा, **संयमी** =ज्ञानी, **जागर्ति**= तद्विरोधिज्ञानवान्, ब्रह्मज्ञानवान् प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानवान् वा भवति। **यस्यां**= प्रपञ्चसत्यतायां ब्रह्मासत्यतायां वा, **भूतानि**= अज्ञाः, **जाग्रति**= साभिनिवेशाः, **सा**= प्रपञ्चसत्यताबुद्धिः,ब्रह्मासत्यताबुद्धिर्वा, **मुनेः**= मननशीलस्य, साक्षात्कारवतश्च ज्ञानिनो, **निशा**= शान्ता भवतीति।

तदत्र भगवत्पादानां योजना– **या निशा**= सर्वप्राणिनामविवेककरी अवस्था, तमःस्वभावतः सर्वेषां भूतानां संयमिव्यतिरिक्तानां, किं तत् परमार्थतत्त्वम्। यथा नक्तञ्चराणामहरेव सदन्येषां निशा भवति, तद्वन्नक्तञ्चरस्थानीयानामज्ञानिनां निशेव परमार्थतत्त्वम्, अगोचरत्वात्; तस्यां परमार्थतत्त्वलक्षणायां निशायां प्रबुद्धो जागर्ति, प्रबुद्ध एवात्र संयमिशब्दार्थः। **यस्याम्**= ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणायामविद्यादशायां निशायां प्रस्वापमेवार्हन्त्यपि भूतानि नक्तञ्चरा इव जाग्रति, प्रसुप्त्या इव स्वप्नं पश्यन्ति जाग्रतीव। अनेन जागरणमप्यज्ञानां स्वप्नदर्शनतुल्यमेव, न तु परमार्थज्ञानमिति व्यज्यते। तेन च ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणस्य

प्रपञ्चस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वमेवेति सूच्यते। यथा स्वप्ने प्रतीयमानानि सर्वाणि स्वप्नदशायां जाग्रदवस्थायामेव प्रतीयमानानि प्रतीयन्ते, एवं ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणप्रतीतिः सर्वापि जाग्रत्प्रतीतिरिव प्रतीयमानापि स्वप्नवन्मायामात्रमिति व्यवस्थेति भावः।

एतेन 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इति बादरायणसूत्रमप्युपष्टभ्यते। जागरणं नाम सत्यताप्रतीतिरेव, सा तु स्वाप्निकानामपि स्वप्नावस्थायामिव स्वप्न एवात्र प्रपञ्चप्रतीतौ जाग्रति शब्दार्थो जागर इति निष्कृष्यते भगवत्पादेन। सति चैवं योगवासिष्ठेनानुपदसङ्गृहीतेनैकवाक्यताऽपि भवति, नहि सत्यताप्रतीतिमात्रं जागरणं नाम, स्वप्नस्यापि जागरणत्वप्रसङ्गात्। यदि चेष्टापत्तिः, तर्हीदं विवेक्तव्यम्- किं जागरस्य स्वप्नतुल्यत्वम्, उत स्वप्नस्य जागरतुल्यत्वमिति? तत्र प्रथमे कल्पे व्यवहारदशायामपि प्रपञ्चमिथ्यात्वम्, द्वितीये तु स्वाप्निकानामपि सत्यवदर्थक्रियाकारित्वापत्तिः, यावद्ब्रह्मसाक्षात्कारं सर्वदा वाऽबाधितप्रतीत्यापत्तिः। परन्तु स्वाप्निकानामनुपदमेव बाध्यत्वदर्शनात् स्वप्नतुल्यतैव जागरस्येति स्वाप्निकमिव जागरमपि मायामात्रमित्येव स्वीकर्तव्यम्। अत एव भगवत्पादाः- 'स्वप्नमेव जागर्तिपदेन व्यपदिशति न तु सज्जागरणम्'। सति चैवं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवत्त्वं जीवस्य स्वतन्त्रतया प्रतीयमानं व्यवहारदशायामेव बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमावस्थाद्वयत्वमभिप्रेत्य यथा जाग्रद्दशायामेव रज्जुसर्पबाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमावस्था, वस्तुगत्या त्ववस्थाद्वयमेव, तदपि वस्तुगत्या स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाद्वयत्वेन, न तु जागरणसुषुप्त्यवस्थाद्वयत्वेन, जागराणामिव स्वाप्निकानामपीश्वरसृष्टत्वेन पारमार्थिकत्वे हि स्वाप्निकपरस्त्रीगमनादिकमपि प्रायश्चित्ताय स्यात्, स्वाप्निकनिधिलाभेनापि कोटीश्वरः स्यात्। न चैवं दृश्यते, किन्तु स्वप्नावस्थामात्रे कोटीश्वरादिबुद्धिवद् यावत्प्रतीति तदुचितसर्वव्यवहारवद् जागरेऽपि यावद्बाधज्ञानं सर्वव्यवहारनिर्वाहो विधिनिषेधशास्त्रव्यवस्था च सर्वमिदमुपपद्यत इति मत्त्वैवात्र भगवत्पादो जाग्रतिपदेनापि स्वप्नं पश्यतीति विवृणुते। इदमेवाभिप्रेत्य वेङ्कटनाथो ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने 'यस्यां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्त' इति भाष्यवाक्यमादाय 'स्वप्नवद्व्यवहरन्ति' इति व्याचष्टे[१]। सति चैवं भाविव्यवहारशून्यत्वे सति परब्रह्मसाक्षात्कारवत्त्वं स्थितप्रज्ञलक्षणम्[२]।

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इति पृष्टमत्रोपदिष्टं भवति। अत्र ब्रह्मदृक्त्वमात्रं भूमिकासाधारणम्। अत आविद्यकव्यवहारशून्यत्वमिति विशेषणम्, व्यवहारवत्त्वे सति इत्येतावन्मात्रं तु तुरीयभूमिकासाधारणं इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाविद्यकेनेति व्यवहारविशेषणम्। आविद्यकव्यवहारशून्यत्वमात्रं तु विदेहमुक्ते ब्रह्मस्वरूपेऽतिव्याप्तमिति तद्वारणाय ब्रह्मदृक्त्वमिति विशेष्यदलम्। ब्रह्मानन्दगिरिस्तु सुषुप्तेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तमिति वदति[३]। तत्र ब्रह्मसाक्षात्कारवत्त्वमिति विशेष्यांशः पूर्वार्धलभ्यः। विशेषणांशस्तु आविद्यक-

१.यस्यां तु द्वैतप्रपञ्चव्यवहाररूपायामविद्यायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्ते, स्वप्न इव व्यवहरन्तीति यावत् इति वेङ्कटनाथब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम्। यस्यां सर्वभूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्ते, इति हि हयग्रीवपैशाचभाष्यमत्र। द्र. पृ. २३९, भगवद्गीता, एकादशटीकोपेता, गु.प्रि.प्रेस।

२.अनेन आविद्यिकप्रपञ्चव्यवहारशून्यत्वे सति परब्रह्मदृक्त्वं स्थितप्रज्ञलक्षणमित्युक्तं भवति, इति वेङ्कटनाथब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम्। तत्रैव।

३.वस्तुतस्त्विदं न सम्यगाभाति, यतोहि सुषुप्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारवत्त्वरूपस्य विशेष्यदलस्यापि समन्वयो न कर्तुं शक्यः।

व्यवहारशून्यत्वमुत्तरार्धार्थः। तत्र व्यवहार आविद्यकत्वविशेषणलाभस्तु पूर्वोक्तरीत्या स्वप्नावस्थाया एवात्र जागरत्वेनोत्तरार्धे विशेषणेनार्थसिद्धिः।

"अक्षिमात्रकल्पो हि विद्वानल्पदुःखक्लेशेनाप्युद्विजते" इति योगभाष्यम् ।

"कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिस्तथा।।
काकोलूकनिशेवेयं संसारोऽज्ञात्मवेदिनः।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत् स्वयं हरिः।।
बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
बुद्धतत्त्वेऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत् ।।"

इति वार्तिकादिवचनानि च यदालोच्यन्ते, तदा 'यस्यां जाग्रति भूतानि' इत्यत्र मुख्या जाग्रदवस्थापि विवक्षितुं शक्यते, तत्र तत्तद्वस्त्वज्ञानमात्रस्यात्र विवक्षणात् ।

अत्राज्ञानिज्ञानिसाधारण्येन निशाशब्दव्युत्पत्तिर्हि शङ्करानन्देनैवं प्रदर्शिता[१]– अज्ञानपक्षे नितरां शेरतेऽत्रेति तमिस्रा रात्रिर्ज्ञानावस्था निशाशब्दार्थः। ज्ञानिपक्षे तु सुतरामानन्दवत्त्वं निशाशब्दार्थः। सति चैवं ज्ञानिनां निशायामात्मानन्दस्याकृतस्य भानं ज्ञानिनो निशायां त्वनावृतस्यानन्दस्य भानम् । जाग्रत्येव सुषुप्तिज्ञानिनोऽखण्डाकारसाक्षात्कारस्य तत्र सत्त्वात् , अज्ञानिनस्तु न मानससाक्षात्कारः, तदीयसुषुप्तौ मनसोऽभावेन विशदतरानन्दानुभवसम्भवादिति विवेकः।

अत्र शङ्करानन्दः– सर्वप्राणिनामज्ञानिनां निशा 'अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्' इति वचनोपक्षिप्ता ब्रह्मविद्या, तस्यां ब्रह्मविद्यासम्पन्नो ज्ञानी जागर्ति, ब्रह्मविद्यासम्पन्नो ज्ञानी । 'यस्यां जाग्रति भूतानि' इति निर्दिष्टा जागरदशा त्वज्ञानिनामविद्या, सा निशा पश्यतो मुनेः रात्रिरिव प्रतीयते। दैनप्रतिभासाज्ञानिनाम्, अज्ञानिनाञ्च दैनप्रतिभासेन समूलं दैनप्रतिभासस्य समुच्चय इति तु तात्पर्यार्थ इति यद्वेति पक्षान्तरेण व्याचष्टे।

रामानुजाचार्यदिशा या निशेति श्लोकस्यार्थः

भगवद्रामानुजाचार्यो नियतेन्द्रियस्य प्रसन्नमनसः सिद्धिमाह– **या निशेति** । **या**= आत्मविषया बुद्धिः, **सर्वभूतानां निशा**=निशेवाप्रकाशा, **तस्याम्**= आत्मविषयायां बुद्धौ, **संयमी**= इन्द्रियसंयमी प्रसन्नमनाः, **जागर्ति**= आत्मानमवलोकयन्नास्त इत्यर्थः। **यस्यां** =शब्दादिविषयायां बुद्धौ, सर्वाणि **भूतानि जाग्रति**= प्रबुद्धानि भवन्ति, **सा** =शब्दादिविषया बुद्धिः, आत्मानं **पश्यतो मुनेः**, **निशा** =निशेवाप्रकाशा

वेङ्कटनाथब्रह्मानन्दगिर्याख्याने तु– 'याज्ञवल्क्यादिषु संन्यासावस्थातः पूर्वमविश्रान्तचित्ततया स्थितप्रज्ञतानापन्नेषु केवलज्ञान्यवस्थेष्वतिव्याप्तिनिरासाय सत्यन्तम्। तत्र च व्यवहारशून्यत्वं नाम तद्वासनाशून्यत्वम्, याज्ञवल्क्यादीनां च तदवस्थायां मलिनवासनानुवृत्तेर्नातिव्याप्तिः। सुषुप्तेष्वतिव्याप्तिपरिहाराय परब्रह्मदृक्त्वम्' इति। द्र. पृ. २३९, तत्रैव।

१.द्रष्टव्या शङ्करानन्दकृता या निशेतिगीताश्लोकस्य व्याख्या।

भवतीति[१] ।

यद्यपि ज्ञानिनामिवाज्ञानिनामपि बुद्धिः स्वप्रकाशैवात्र स्थानीयतया धर्मभूतज्ञानस्य संविद्रूपात्माभिन्नस्य तथाप्यज्ञानिनां धर्मभूतज्ञानं कर्मवशेन प्रतिबद्धविकासं सङ्कुचितावस्थं च भवतीत्यप्रकाशत्वोक्तिरत्र। अत्र स्थितप्रज्ञत्वं शुद्धजीवात्मावलोकनमेव, न तु भगवत्पादमतदिशा ब्रह्माभेदेन जीवात्मदर्शनम्, येन प्रपञ्च-सत्यत्वमिथ्यात्वचर्चाया नात्रावसरः। न हि शुद्धजीवात्ममात्रदर्शनं प्रपञ्चबाधकमद्वैतमतेऽपि शुद्धप्रत्यगात्मनोऽविद्यावृततया जगदध्यासाधिष्ठानं त्वस्य तन्मते स्वीकारात्, ब्रह्मात्मना त्वं पदार्थस्य तस्यापि ज्ञानं तु कर्मयोगप्रकरणेऽप्रसक्तमनुपयोगि विरुद्धञ्च। व्यक्तञ्चैतत् शाङ्करभाष्येऽपि 'यद्यपि शास्त्रीये व्यवहारे नाविदितात्मनः परलोकमधिक्रियते, तथाप्यज्ञानाय धर्मान्तरमप्यधिकारे नापेक्ष्यते, मदनुप्रयोगात्, अधिकारविरुद्धत्वाच्च' इति। अद्वैतिनामाशयस्तु त्वंपदार्थलक्ष्यस्य साक्षात्कारावस्थैवान्तःस्थितप्रज्ञता नाम, या हि कर्मयोगस्यान्तिमं लक्ष्यम्। स तु तत्पदलक्ष्यार्थाभेदज्ञानानन्तरमेवेति वक्ष्यमाणं ज्ञानयोगप्रकरणार्थंमपि प्रकृतेऽनुक्तस्यैव स्थितप्रज्ञत्वं वर्ण्यते इति योगवासिष्ठाद्यनेकवाक्यतयाऽवगम्यत इति प्रपञ्चमिथ्यात्व-ज्ञानचर्चाऽपि न प्रकरणसङ्गतेति।

श्रीमदानन्दतीर्थपाददिशा या निशेति श्लोकस्यार्थः

श्रीमदानन्दतीर्थपादस्त– यद्यप्यात्मज्ञानमत्र न च जीवात्मज्ञानम्, किन्तु परमात्मसाक्षात्कार एव, स च न जीवात्मना ब्रह्मसाक्षात्कारोऽद्वैतदृष्ट्या जीवब्रह्मभेदस्य पूर्वं बहुशः प्रतिपादनात् शुद्धप्रत्यगात्मज्ञानमात्रं तु न ब्रह्मविद्याया लक्ष्यम् परमात्मसाक्षात्कार इव इति भगवद्रामानुजोक्तमपि विवरणं न सङ्गतमित्यभिप्रयन् परमात्मसाक्षात्कारवतां प्रायेण सुप्तानामिव विषयज्ञानं न भवतीति व्याचष्टे[२]। तेन कदाचिदेव स्थितप्रज्ञानामपि विषयाज्ञानं, न सर्वदा येन विषयाणामसत्कल्पनापि सिद्धान्ते ऽपसरेत्। आपादितो हि पूर्वं ज्ञानिनामप्यानन्द-तारतम्योपपादनेनेष्टभोगसम्भव इति सूचनार्थमेवात्र प्रायःपदम्। तदेवं स्थितप्रज्ञानां लक्षणमव्याप्त्य-तिव्याप्तिनिरसनेन सर्वमतसाधारणेन विवेचितम्।

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।" इति।

न केवलं विषयाणां ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणानामज्ञानमात्रेण सर्वेषां भूतानां निशा ज्ञानिनो जाग्रदवस्था, किन्तु पूर्णानन्दानुभवेनापि। सुषुप्त्या हि आनन्दमात्रमविद्यावृत्त्या ऽन्यथा वानुभवन्तोऽपि नानन्दं

१. अत्रायमभिप्रायो रामानुजाचार्याणां विद्यते– तन्मते आत्मावलोकनावस्था काचन विशिष्टाऽवस्था या च मोक्षसोपानरूपा, अस्यामवस्थायां प्राकृताः विषया न प्रकाशन्ते, आत्मानमेवावलोकयन्नवस्थितो भवति विद्वानिन्द्रियसंयमी। शब्दादिविषया बुद्धिर्नाम प्राकृतपदार्थविषया बुद्धिः, शब्दादिपदं लक्षणया प्राकृतपदार्थान् बोधयति, तस्यां बुद्धौ सर्वाणि भूतानि प्रबुद्धानि दृश्यन्ते। आत्मावलोकनावस्थामप्राप्ताः लौकिकाः जनास्तु प्राकृतपदार्थानेव जानन्ति, न त्वात्मानमित्याशयः।

२. या सर्वभूतानां निशा परमेश्वरस्वरूपलक्षणा। यस्यां सुप्तानीव न किञ्चिज्जानन्ति, तस्यामिन्द्रियसंयुक्तो ज्ञानी जागर्ति सम्यगापरोक्ष्येण पश्यति, परमात्मानमित्यर्थः। यस्यां विषयलक्षणायां भूतानि जाग्रति तस्यां निशायामिव सुप्तः प्रायो न जानाति। इति हि आनन्दतीर्थकृतं माध्वभाष्यम्। द्र. पृ. २३८, तत्रैव।

ज्ञात्वाऽनुभवन्ति, किन्त्वज्ञात्वैव, इति न विषयज्ञानमात्रं प्राणिनां निशा ज्ञानिनां जागरावस्था, किन्तु तेषामानन्दज्ञानरूपा निशापि तेषां जागरावस्था पूर्णानन्दानुभवतदनुभवाभ्यामपि तयोर्वैषम्यमस्तीति। जाग्रत्येव सुषुप्तौ विषयानन्दान् तुच्छवत्कृत्वा पूर्णानन्दमेवानुभवन्ति। युगपदेव सर्वानन्दाननुभवन्ति, न च तथानुभवन्तोऽपि सविकारा भवन्ति, अज्ञानिन इव सविकाराः। अपरिपूर्णे हि घटे जलं पुनःपुनरुत्तिष्ठति, न तु परिपूर्णे इत्यनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुतावुक्तरीत्या ब्रह्मभावमापन्नः सन् युगपत् सर्वानन्दाननुभवति, तथाऽनुभवश्च न क्षुद्रकामेषु कामनामश्नुते। सूर्यमण्डले तत्प्रकाशनार्थं न दीपज्वालाया उपयोगः, न वा तेन सूर्यमण्डलस्य प्रकाशः। एवं विषयानन्देन नास्यानन्दानुभवः, न वा तस्य तत्रोपयोगः। अयं हि स्वीयपूर्णानन्दस्यानुभूयमानस्य पुरतो गन्धर्वानन्दादि सगुणब्रह्मानन्दान्तं तृणाय मन्यते। सुन्दरमणिमयगृहे वसन् इन्द्रादिररण्यगतं व्याधादीनां क्षुद्रं कुटीरं किं स्वस्य परमभोग्यं स्वीयमणिमयगृहादुत्कृष्टं च मत्वा स्वीयं मणिमयं गृहं परित्यज्य कुटीराय प्रयतते? किं बहुना, समुद्रतुल्योऽयमित्याह– **आपूर्यमाणमित्यादिना**। यथा नद्यः स्यन्दमानाः वर्षाकाले समुद्रं प्रविशन्त्योऽपि नवैर्नवैरत्यधिकैश्च जलैस्तमापूरयन्त्योऽपि न चालयन्ति, न वोद्वेलं गमयन्ति, तद्वत्कामास्तत्त्वदृशा सर्वे स्थितप्रज्ञं जागरदशायामवतिष्ठमानमपि सुषुप्तावस्थायामवस्थितं पुरुषमिव प्रविशन्ति, ब्रह्मानन्दे सर्वेषामानन्दानामन्तर्भावात् । एवमपि तत्प्रवेशोऽपि स शान्तिमविकारमेवाप्नोति, कामकामी तु न तथेति भावः। श्लोकयोजना तु– यथा आप आत्मना पूर्यमाणमप्यचलं स्वस्थानस्थितमेव समुद्रं प्रविशन्ति, एवं जाग्रत्येव सुषुप्तं पञ्चमभूमिकास्थितमेव स्थितप्रज्ञं षष्ठभूमिकावस्थं च यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, स शान्तिमाप्नोति, कामकामी तु नेति त्यक्तैषणस्य सर्वसंन्यासिनश्च यतेरेव स्थितप्रज्ञस्यैव मोक्षप्राप्तिः ब्रह्मभावो वा। न तु विदुषोऽप्यसंन्यासिनः प्रथमादिभूमिकामवस्थितस्यापि भावः। अत्रापां समुद्रे कामानामात्मनि च प्रवेशस्तत्र लय एव। सा नदीनां रूपप्रहाणेन समुद्रात्मनैव भवतीति भावः। तथा च मुण्डकश्रुतिः–

"यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।" इति।

कठवल्ली च–

'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।' इति।

यथा हि नदीजलमपि समुद्रत उपपन्नं समुद्रांश एव न ततो व्यतिरिक्तं तथैव विषयानन्दा अप्यात्मानन्दस्य लवा एव। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति बृहदारण्यकश्रुतेः, इति न तैर्विषयानन्दैरात्मानन्दस्य वृद्धिरिति भावः। वस्तुस्थितिस्तु ब्रह्मव्यतिरेकेण विषयाणामभावाद् ब्रह्मज्ञानिनो दृष्ट्या न विषया वैषयिकाः कामस्तु दूरे।

योगवासिष्ठनिर्वाणपूर्वार्धगतः–

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।"

इति श्लोकस्तद्व्याख्यात्रैवं व्याख्यातः– 'यद्वदापो नद्यः आपूर्यमाणं समुद्रं प्रविशन्ति तद्भावमापन्ना विलीयन्ते, तद्वदद्वये प्रतिष्ठा यस्य तं संन्यासिनं सर्वे कामा मिथ्यात्वबुद्धिबाधितविषयाः सन्तः प्रविशन्ति= आत्मन्येव विलयमात्ममात्रतामापद्यन्ते, स एव सर्वानर्थशान्तिलक्षणं मोक्षमाप्नोति न तु तत्कामनाशीलः' इति। कामैरविकार्यात्मत्वं स्थितप्रज्ञत्वमिति स्थितप्रज्ञस्य लक्षणान्तरमनेनोच्यते,इदञ्च पञ्चमषष्ठयोः स्थितप्रज्ञयोरेवास्य लक्षणत्व एवोपपद्यते, न तु प्रथमादितुरीयान्तस्थितप्रज्ञस्य निजस्वरूपपरिपूर्णस्य। वर्षाग्रीष्मादिकालयोः समुद्रप्रवेशाप्रवेशाभ्यामविकार्यःस्थितप्रज्ञ इति भावः।

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।"

योगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे ऊनषष्टितमे सर्गे वैरञ्चिमनसो जगत्कल्पनाक्रमं प्रति रामचन्द्रस्य–

"वैरिञ्चपदमासाद्य मनो ब्रह्मन् महामते।
इदं जगत् सुघनतां कथमानयति क्रमात् ।।"

इति प्रश्नोत्तराणि–

"गर्भतल्पात् समुत्थाय पद्मजः प्रथमः शिशुः।
ब्रह्मेति शब्दमकरोत् ब्रह्मा तेन च उच्यते।।
सङ्कल्पजालरूपस्य मनसा कल्पिताकृते।
अकरोत्तस्य सङ्कल्पलक्ष्मीः पदमथोत्तरे।।
संस्मृत्य वेदांस्तदनु यज्ञक्रमगुणान् बहून् ।
जगद्गृहादयं ब्रह्मा मर्यादां समकल्पयत् ।।
मनोहस्तैर्विरिञ्चोत्थैर्यद्यथा कल्पितं पुरा।
तत्तथैवाखिलं द्रष्टुं शक्यतेऽद्यापि मायया।।
इत्थं सर्वेषु भूतेषु केषुचित्त्वथवा पुनः।
सङ्कल्पयति संसारं परं पश्यति चित्स्थितम्।।
मोह एवंमयो मिथ्या जागतः स्थिरतां गतः।
सङ्कल्पनेन मनसा कल्पितोऽचिरतः स्वयम् ।।
सङ्कल्पजालमत्यन्तं मयेदमभितस्ततम् ।
इति निश्चित्य विरतः कल्पनानर्थसङ्कटात्।।
अनादिमत्परं ब्रह्म स्मरत्यात्मानमात्मना।
तमासाद्य तदाभासे पदे गलितमानसे।।
सुखं तिष्ठति शान्तात्मा तल्पेऽधः श्रमवानिव।
निर्ममो निरहङ्कारः परां शान्तिमुपागतः।।
अवलोक्य जगच्चेष्टां मर्यादां विनियुज्य च।

ब्रह्मकमलपीठस्थः पुनः स्वात्मनि तिष्ठति।।
कदाचित् केवलं सर्वसङ्कल्पपरिहीनया।
यदृच्छयाऽनुग्रहार्थं लोकक्रमवदास्थितः।।
नार्जवं नास्य संत्यागो वपुषो न च सङ्ग्रहः।
नाना न चेतनं नेह न स्थितिर्नास्थितिः स्थिता।।
सर्वभावसमारम्भः समः सर्वासु वृत्तिषु।
परिपूर्णार्णवाकारो मुक्तशेषोऽवतिष्ठते।।
कदाचित्केवलं सर्वसङ्कल्पपरिहीनया।
यदृच्छयाऽनुग्रहार्थं लोकानां प्रतिबुध्यते।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पुण्या या मयोक्ता महामते।।"

इति काचन ब्राह्मी स्थितिरुक्ता यत्रानुपदमेव पूर्वं 'महापूर्णार्णवाकारम्' इति 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्' इति प्रकृतेऽप्यनुपदपूर्वश्लोकार्थ एव सङ्गृहीतः। 'निर्ममो निरहङ्कारः' इति तु ततोऽपि प्राचीनस्य 'निर्ममो निरहङ्कार' इति श्लोकस्यार्थोऽपि सङ्गृहीतः। अतोऽवगम्यते विरञ्चिब्रह्मण एव स्थितिः षष्ठभूमिकास्थस्य स्थितप्रज्ञस्यापि स्थितिरिति। ततश्च परमात्मनोऽपि पद्मस्थितस्य ब्रह्मणो या स्थितिस्तल्लोकवासिनस्तत्र वसतां वा, सा यदि मनुष्यलोके स्थितप्रज्ञलक्षणा कस्यचन स्यात्, तर्हि तेषामुत्क्र मणेनार्चिरादिप्राप्तिं विनैव विदेहमुक्तता सम्भवतीति 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति श्रुत्यर्थाधिकारी मानुषोऽपि सृष्टिस्थितिकर्तृसगुणब्रह्मतुल्य इति स्थितप्रज्ञस्य प्रशंसापरोऽयं श्लोक इति योगवासिष्ठैकवाक्यतयाऽवगम्यते।

अत्र च पक्षे श्लोकयोजना– **एषा**=षष्ठभूमिकास्थस्थितप्रज्ञता, **ब्राह्मी स्थितिः**=सृष्ट्यादिकर्तुः सगुणस्य ब्रह्मण एव सृष्टिर्न उपरतावस्था, **एनाम्**= अवस्थां **प्राप्य न विमुह्यति**, मोहकारणसङ्कल्पकान्तः करणाभावात्। अस्य हि चित्तं सङ्कल्पविकल्पशून्यं केवलात्मानुभवैकप्रवणमिति सृष्ट्यादिकर्तुर्लोकानुग्रहार्थं सङ्कल्पविकल्पादिमतो ब्रह्मणोप्यपेक्षयाऽयमुत्कृष्ट इति सृष्ट्यादिकर्तृसगुणब्रह्मलोकगमनात् तादृशी ब्रह्मणः स्थितिरेवोत्कृष्टेयं स्थितिरिति भावः। **अस्यां स्थित्वा अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति**=आयुषो विनोत्क्रममप्यखण्डब्रह्मभावमाप्नोतीति। अस्मिन् पक्षे देवलोके षष्ठभूमिकास्थः स्थितप्रज्ञः सृष्ट्यादिकर्ता ब्रह्मेति तन्निदर्शनमत्रत्यम्। अनेन ज्ञायते द्वितीयाध्यायभगवद्गीतासिद्धान्तो योगवासिष्ठसिद्धान्तश्चैक इति।

भगवद्गीता हि साङ्ख्ययोगनाम्ना द्वितीयाध्यायेन शोधितत्वंपदार्थविगलितान्तःकरणसमस्तोपाधिक-संविन्मात्रसाक्षात्कारात्मकासम्प्रज्ञातसमाधिरेवानासक्तियोगस्य मुख्यं लक्ष्यमिति प्रतिपादयति। अत्र च 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति ब्राह्मयोगः, न तु तत्त्वमसिमहावाक्यार्थजीवत्वेश्वरत्वोपलक्षितसंविन्मात्रसाक्षात्कारः, किन्तु शोधितत्वंपदार्थमात्रसाक्षात्कारः। सत्यप्येवं तत्र ब्रह्मपदप्रयोगः परमार्थतो विदेहकैवल्यावस्थायां शुद्धप्रत्यगात्मन ईश्वरत्वोपलक्षितसंविन्मात्रेणैक्यमभिप्रेत्येति जीवन्मुक्तावस्थापर्यन्तमनासक्तियोगेन विनापि भक्तियोगं ज्ञानयोगस्य स्थितिः सम्भवति, तथा च जीवन्मुक्तावस्थैव योगसाध्या, यत्र स्थितो न दुःखेन गुरुणापि चाल्यते।

योगवासिष्ठानुसारेण मोक्षसाधनम्

तत्र यद्यपि–

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
असाध्यः कस्यचन योगः कस्यचित्तत्त्वनिर्णयः।।"

इति मोक्षं प्रति साधनद्वयमुपदिश्यते, तथापि योगवासिष्ठं योगमार्गेणैव जीवन्मुक्तपराकाष्ठायां सप्तमभूमिकापर्यन्तायां लब्धायां विनापि ज्ञानमार्गं मुक्तिमभिप्रैति। अत एवोत्पत्तिप्रकरणे नवमाध्याये 'ब्रह्मन् विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्' इति प्रश्ने जीवन्मुक्तं योगसिद्धं स्थितप्रज्ञं प्राप्तसप्तभूमिं निरूप्य–

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देशे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव।।"

इति योगिनो विनापि नानामार्गनिबन्धनं तत्त्वसाक्षात्कारं शरीरवियोगमात्रेण विदेहमुक्तत्वं प्रतिपाद्यते। जीवन्मुक्तत्वं हि गीताभिमतं द्विविधं एकं स्थितप्रज्ञत्वं, अपरं गुणातीतत्वम्, यत्तु चतुर्दशाध्याये प्रतिपादितम्। तत्र गुणातीतत्वं भक्तियोगसाध्यम्, स्थितप्रज्ञत्वं कर्मयोगलक्ष्यम् । योगैकपरं योगवासिष्ठं स्थितप्रज्ञेनैव शास्त्रपरिसमाप्तिं मन्यते। योगवासिष्ठं हि यद्यप्यात्मतत्त्वमद्वैताभिमतं परमार्थं मन्यते, तथापि न जीवब्रह्मैक्यपर्यन्तं गच्छति।

तत्र योगवासिष्ठं यद्यपि दृश्यस्यात्यन्ताभाव एव मुक्ताविति प्रतिपादयति, तथापि तदत्यन्ताभावबाध-सम्बोधो नाद्वैतिनामिवाखण्डाकारसाक्षात्कारनिबन्धनः, किन्तु योगनिबन्धन एवेति मन्यते। अत एव योगवासिष्ठे प्रज्ञानमार्गनिबन्धनो न भक्तियोगो ज्ञानयोगो वा गीतायामिव कुत्राप्यवतारितः।

योगावस्थायां हि प्रारब्धकर्मणामपि योगेनोपमर्दः. न तु प्रारब्धकर्मणो मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमिति तु योगवासिष्ठाशयः। पातञ्जलयोगसिद्धान्ताद् योगवासिष्ठस्यायमेव विशेषो यत् पातञ्जलसिद्धान्ते चित्तवृत्ति-निरोधमात्रं योगः परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारसाधनः, योगवासिष्ठमते तु योग एवात्मतत्त्वसाक्षात्कारः। व्यक्तश्चायं विवेको गूढार्थदीपिकायां षष्ठाध्याये[१]।

प्रारब्धकर्मणां योगैकनाश्यत्वपक्षस्तु तत्त्वानुसन्धाने नृसिंहाश्रमिभिर्व्यक्तीकृतः। योगवासिष्ठस्या-द्वैतसिद्धान्तपक्षपातित्वं पातञ्जलाद्यनभिमतं विगलितसर्वोपाधिकसंविन्मात्रप्रत्यगात्मैकत्वसिद्धान्तमभिप्रेत्य, न तु भक्तिज्ञानयोरपि साधनत्वपक्षमभिप्रेत्य।

१.अस्मिन् विषये गूढार्थदीपिकायां मधुसूदनसरस्वतीमहोदयैः प्रतिपादितम्– चित्तनाशस्य भवति साधनद्वयम्, एकं साधनं योगः, द्वितीयं तु तत्त्वनिश्चयः। पातञ्जलसिद्धान्ते प्रपञ्चस्य परमार्थता स्वीकृता, इति तन्मते चित्तनाशस्योपायो भवति चित्तवृत्तिनिरोधाख्यो योगः। पूज्यपादशङ्करभगवत्पादमतोपजीविन औपनिषदास्तु प्रपञ्चानृतत्ववादिन इति तन्मते तत्त्वनिश्चयस्यैव चित्तनाशोपयोगिता। योगवासिष्ठस्याप्यस्मिन्नेव पक्षेऽन्तर्भावः। इत्यस्मिन् मते आत्मतत्त्व-साक्षात्काररूपस्य तत्त्वनिश्चयस्यैव योगत्वमङ्गीकर्तुं शक्यम्। द्रष्टव्या षष्ठाध्यायस्य मधुसूदनसरस्वतीमहोदयानां गूढार्थदीपिकानाम्नी व्याख्या, विशेषतस्तु १५,२६,२९श्लोकानाम्।

आत्मतत्त्वविषये कठवल्लीयोगवासिष्ठभगवद्गीतानामैक्यम्

भगवद्गीता योगवासिष्ठं वा कठवल्लीमूलमिति निर्वाणप्रकरणद्विपञ्चाशत्तमाध्यायादितोऽवगम्यते। कठवल्ली हि–

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।"

इति शुद्धजीवात्मतत्त्वमेव यत्र–

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।"

इति वाक्यशेषेणेश्वरस्याप्यधिष्ठानं शुद्धं प्रत्यगात्मतत्त्वं प्रतिपाद्यते। अनेन प्रत्यगात्मतत्त्वस्यापि अत्तुः= संहर्तुः, सविशेषस्याधिष्ठानतया बोधितत्वाद् यद्यपि तस्य महावाक्यस्थानीयत्वम्; तथापि कठवल्लीशोधितत्वं-पदार्थत्वमेव ज्ञापयति। तस्यैव–

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः।।"

इति पृष्टत्वात्। पुनश्च–

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।"

इत्यत्र छायातपाविति द्विवचनेन जीवात्मपरमात्मानौ विवक्षिताविति 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इत्यधिकरणे प्रतिपादितम्।

तत्र जीवात्मा–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति वाक्यावगतो बद्धो जीवः–

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषःपरः।"

इत्यादिवाक्यैः स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरविविक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं परमात्मपदार्थः, न तु सगुणं निर्गुणं वा तत्पदवाच्यार्थः, तल्लक्ष्यार्थो वा।

अत एव 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' इति सूत्रविवरणावसरे भगवत्पादाः–

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मत् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद।।'

इति प्रश्नविषयः परमात्मा न जीवातिरिक्तः, अन्यथावरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नोत्तरवर्णनं न सङ्गतम्; अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति, येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति, इति च प्रश्नद्वयमपि जीवात्मस्वरूपमेकमेव, जीवात्मन एव जीवप्राज्ञरूपेण विशिष्टेन भेदेऽपि वस्तुगत्या जीवप्राज्ञयोरभेद एव विवक्ष्यते, एक एव जीवः कर्तृत्वादिविशिष्टो बद्धस्तद्रहितस्तु परमात्मा; यद्रूपेण जीवस्यानुसन्धानं कर्मयोगस्यात्यन्तमुपकारकम् ।

कठवल्लीभगवद्गीतयोर्जीवात्मस्वरूपविषये प्रश्नोत्तरे एकरूपे एव दृश्येते, अतीतदेहादिसम्बन्धशुद्ध-प्रत्यगात्मजिज्ञासा, तत्स्वरूपोपदेशश्च कठवल्ल्याम् । भगवद्गीतायामप्यज्ञातशुद्धप्रत्यगात्मस्वरूपमर्जुनं प्रति भगवता तस्यैव तत्त्वस्यैवोपदेशः। तत्र कठवल्ल्यां 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः' इत्यादिना वैषयिकसुखं तुच्छतया त्याज्यमुपस्थाप्य धर्माधर्माद्यतीतमात्मतत्त्वमुपदिश्यते। इयमेव नीतिर्भगवद्गीतायां योगवासिष्ठे चानासक्तियोगोपस्थापनपूर्वकमनुश्रियते।

आत्मतत्त्वोपदेशप्रङ्गे कठवल्ली-योगवासिष्ठ-भगवद्गीताःएकरूपेण प्रवर्तन्ते। तत्र कठवल्ली द्वितीय-वल्ल्यामेवमात्मतत्त्वमुपदिशति–

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।"

तत्र योगवासिष्ठम्–

"तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये।
हरिबुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

इति कठवल्लीमेव वाचाऽनुकुरुते। भगवद्गीता तु शुद्धं प्रत्यगात्मानं संविद्रूपं न त्वेवाहमित्यादिना उपदेष्टव्यं निष्कृष्टात्मतत्त्वोपदेशोपसंहारे कठवल्लीयोगवासिष्ठे एव यथावदनुवदति–

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

अयञ्चार्थः– 'शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं न प्रवर्तकमित्येतस्यार्थस्य साक्षिभूते ऋचावानिनाय भगवान्' इति भाषमाणैर्भगवत्पादैः सुविशदमनुसंहितः।

योगदर्शनयोगवासिष्ठभगवद्गीतानां मोक्षसाधनविषये मतानि

इदमनेन ज्ञायते योगवासिष्ठं सम्प्रज्ञातसमाधियोगमार्गम्–

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिर्णयः।।"

इति वचनात् स्वतन्त्रं मोक्षसाधनं वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानपेक्षमभिप्रैति। पातञ्जलयोगात् योगवासिष्ठसिद्धान्तस्यायं विशेषो यत् पातञ्जलयोगः ईश्वरप्रणिधानसाध्योऽसम्प्रज्ञातसमाध्यन्तो योगश्चित्तवृत्तिनिरोधमात्रात्माणिमाद्यष्टविधैश्वर्यसाधनमित्यभिप्रैति। योगवासिष्ठं तु न चित्तवृत्तिनिरोधमात्रमसम्प्रज्ञातसमाध्यन्तो योग इति। अपरोऽयं विशेष– पातञ्जलयोगे जीवात्मानः साङ्ख्यदर्शन इवानेकेऽकर्तृत्वेऽपि भोक्तारः, अहमर्थकाश्चेति। योगवासिष्ठन्तु पातञ्जलयोगवद् यद्यप्यात्मस्वरूपमसङ्गं संविन्मात्रमकर्तृस्वभावञ्च मन्यते, तथापि न तद्वत् भोक्तृत्वमहमर्थत्वं वा स्वीकरोति, भगवद्गीता त्वत्र द्वितीयाध्याये योगवासिष्ठसिद्धान्तमेवोभयत्रानुसरति।

सारांशस्तु सम्पूर्णस्य योगवासिष्ठस्य कर्मयोगपरभगवद्गीतायाः प्रथमषट्कस्य च सर्वात्मना साम्यम्। विशेषस्तु भगवद्गीता न योगवासिष्ठवद् जीवात्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रेण मोक्षसिद्धिं विवक्षति, किन्तु जीवात्मपरमात्मोभयतत्त्वसाक्षात्कारेणैव। अत एव भक्तियोगज्ञानयोगयोरपि भगवद्गीतायां स्थानम्।

ततश्च 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।' इति वचनसिद्धयोः प्रथमेन योगमार्गेणैव चित्तनाशः इति योगवासिष्ठसिद्धान्तः, भगवद्गीताराद्धान्तस्तु ज्ञानेन योगसिद्धिरिति।

निष्कर्षस्तु विनापि भक्तियोगज्ञानयोगौ मोक्षसिद्धिर्योगवासिष्ठसिद्धान्ते। अत एव योगवासिष्ठम्–

"पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं प्रति"

इति भगवद्गीताया अनासक्तियोगमात्रं निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धेऽनुसन्धत्ते।

यद्यपि–

"द्वे रूपे तव देवेश! परञ्चापरमेव च।
कीदृशं तत्कदा रूपं तिष्ठाम्याश्रित्य सिद्धये।।"

भगवानुवाच–

"सामान्यं परमञ्चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाधरम्।।
परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम्।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते।।
सक्रमात् सम्प्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम्।
मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते।।

यदि वा वेदविज्ञातो भावस्तदरिमर्दन।
तन्ममात्मानमात्मानमात्मनश्चाशुसंश्रयः।।
इदञ्चाहमिदञ्चाहमिति यत्प्रवदाम्यहम् ।
तदेतदात्मतत्त्वन्तु तुभ्यं ह्युपदिशाम्यहम् ।।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्येकत्वमात्मनः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।"

इत्यादिना भगवत्पादसम्मतभक्तियोगज्ञानयोगावपि योगवासिष्ठ उपक्षिप्यन्ते; तथापि भगवद्गीतार्थो वक्ष्यमाण एवात्रानूद्यते। श्रीरामचन्द्रं प्रति वसिष्ठोपदेशस्तु न भक्तियोगस्य ज्ञानयोगस्य वा कुत्रापि।

अत्र योगवासिष्ठं गीतायां भगवता भक्तियोगप्रसङ्गेनोपदिश्यमानमात्मतत्त्वं निर्विशेषं मुख्यं परत्वमेव, उपास्यतया त्वपरं सविशेषमपि विवक्ष्यते, तथापि तत्र न परमं तात्पर्यमित्यनुपदोद्धृतेन प्रकरणेन ज्ञापयति।

योगवासिष्ठदिशा कर्मयोगविभागः

योगवासिष्ठं हि त्रेधा कर्मयोगं विभजति– अनासक्तियोगेन कर्मानुष्ठानं, ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानं, ईश्वरार्पणबुद्ध्या च कर्मानुष्ठानमिति। त्रितयमपीदं संन्यासयोगद्वारेणैव फलाय कल्पते, कर्मयोगमात्रेणेति गीतातात्पर्य योगवासिष्ठं विशदयति। तद्यथा–

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
निस्सङ्गस्त्वं यथाप्राप्तकर्मवान्न निबध्यसे।।
शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।।
ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भवभूषितभूतलः।।
संन्यस्तसर्वङ्कल्पः समश्शान्तमना मुनिः।
संन्यासयोगमुक्तात्मा कुर्वन् मुक्तमतिर्भव।।" इति।

एवं विशदीकृतस्य त्रिविधस्य कर्मयोगस्य संन्यासस्य च भगवद्गीताभिप्रेतस्य निर्णयो हि–

"सङ्गत्यागस्य भगवन् तथा ब्रह्मार्पणस्य च।
ईश्वरार्पणरूपस्य संन्यासस्य च सर्वशः।।
तथा ज्ञानस्य योगस्य विभागः कीदृशः प्रभोः।
क्रमेण कथयैतन्मे महामोहनिवृत्तये।।"

इत्यर्जुनप्रश्नोत्तरप्रसङ्गेन निर्वाणप्रकरणे त्रिपञ्चाशत्तमे द्वाविंशश्लोकमारभ्य विवेचयति योगवासिष्ठम्। अनेन ज्ञायते भगवद्गीतायाः न कर्मयोगमात्रे तात्पर्यं किन्तु सोपानक्रमेण भक्तियोगज्ञानयोगयोरपि।

यत्तु गीताया अष्टादशाध्याये त्यागं सात्त्विकादिक्रमेण त्रिविधं विभज्य–

"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।"

इति सात्त्विकत्यागस्यैव मुख्यसंन्यासत्वम्, न तु स्वरूपतः कर्मत्यागः संन्यासो नामेति गीताशय इति केचन मन्यन्ते, तमिमं योगवासिष्ठे कर्मयोगातिरिक्तस्य संन्यासस्यानुपदोक्तरीत्या संन्याससाधनत्वेनोपदेशान्न समाद्रियते।

ततश्च–

"असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।"

इत्यत्र संन्यासशब्दार्थः कर्मयोगफलस्य संन्यासस्यैव ज्ञानद्वारा मुक्तिफलमिति योगवासिष्ठैकवाक्यतया ज्ञायते। श्रीमानात्रेयस्तु परिमितानां गीताश्लोकानामेव सप्तविंशतीनां योगवासिष्ठे सङ्कलनात् गीतासिद्धान्तस्य योगवासिष्ठसिद्धान्तस्य च नैकमत्यमथवा योगवासिष्ठानुसारिणी काचनापरैव गीता स्यादिति वर्णयति। (Page-103, The Philosophy of Yogvasishtha) मम तु प्रतिभाति योगवासिष्ठे तत्र तत्र सङ्गृहीताः गीताभावाः सर्वेऽपि भगवद्गीतायां विद्यमानायामेवोपलभ्यन्ते। एवं योगवासिष्ठानूदितगीतासिद्धान्तस्य न लेशतोऽपि विशेषः साम्प्रतिक्याः भगवद्गीताया इति।

भगवद्गीतायां साम्प्रतिक्यां दृश्यमानाः प्रायेण द्वितीयाध्यायगताः प्रथमषट्कगता अन्ये च श्लोकाश्शब्दतोऽर्थतश्च समानास्तद्व्याख्यारूपाश्च बहुशो दृश्यन्ते। किं बहुना–

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।"

इति साम्प्रतिकगीताया अष्टादशाध्यायस्य योगवासिष्ठगीतोपसंहारेऽपि निर्देशात् प्रकृतभगवद्गीता-योगवासिष्ठयोर्न विषयभेद इति विज्ञायते।

योगवासिष्ठान्तर्गतभगवद्गीताऽर्जुनं प्रति भगवतोऽर्जुनस्योपदेशरूपा, योगवासिष्ठं तु भगवन्तं रामचन्द्रं प्रति वसिष्ठस्योपदेशरूपा। तत्राहंपदार्थः संविदाकाशमेवाहमित्यादौ वसिष्ठस्योपदेष्टुस्संविन्मात्रस्वरूपमभिप्रेत्य। भगवद्गीतायामहमर्थस्तु भगवतस्संविन्मात्रस्वरूपमभिप्रेत्य। उभयत्राहंपदार्थैक्यरूप्यं संविन्मात्रतयैव न तु, तत्तत्सविशेषस्वरूपमाश्रित्येति बोधनार्थमेव गीतार्थसङ्ग्रहेन नान्यथा ग्रहणं कस्यापि भूदिति 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायसिद्धमात्मस्वरूपमेव परमार्थमिति पञ्चत्रिंशाध्याये योगवासिष्ठे–

"परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम्।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते।।
इदञ्चाहमिदञ्चाहमिति यत्प्रवदाम्यहम्।
तदेतदात्मतत्त्वन्तु तुभ्यमुपदिशाम्यहम् ।।"

इति स्वयं भगवानेव गीताभिमतमहमर्थं विविनक्ति। वस्तुगत्या तु जीवात्मपरमात्मनोरैक्यस्यैव गीता-

वासिष्ठयोस्तात्पर्यविषयत्वेऽपि श्रीरामचन्द्रं प्रति भगवान् वसिष्ठः शुद्धशोधितत्वंपदार्थप्रत्यगात्मस्वरूप-साक्षात्कार एवासम्प्रज्ञातसमाधिसप्तमभूमिकागतो मोक्षसाधनमित्यभिप्रेत्यैव योगवासिष्ठस्य–

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।"

इति वचनावगतयोर्योगमार्ग एव मुख्यं तात्पर्यमिति ज्ञाप्यते। अत एव भगवद्गीताया द्वितीयाध्यायस्य साङ्ख्ययोग इति नाम। साङ्ख्यशब्दो हि शुद्धप्रत्यगात्मतत्त्वमेवाभिप्रैति, यस्य स्थितप्रज्ञलक्षणेन समाप्तिः।

भगवद्गीतायां चतुर्दशाध्याये गुणातीतस्वरूपं सलक्षणं यद्गीतं तद्–

"ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकीभावावगाहिनी।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते।।"

इति विवेकचूडामणौ वर्णितशोधिततत्त्वम्पदार्थगोचराखण्डाकारसाक्षात्कारवन्तं जीवन्मुक्तमभिप्रेत्य–

"सुस्थिता सा भवेद्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते।।
यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते।।
लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते।।
शान्तसंस्कारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चिन्तः स जीवन्मुक्त इष्यते।।
वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिन् छायावदनुवर्तिनि।
अहंताममताऽभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।
अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।
गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।
ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।
देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंभाववर्जितः।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्तलक्षणः।।
विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः।।
देहेन्द्रियेष्वहम्भावः इदम्भावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते।।
न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः।

प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते।।
साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।।
अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः।।
यत्र प्रविष्टाः विषयाः परेरिता
नदीप्रवाहा इव वारिराशौ।
लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया-
मुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः।।
विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः।।
प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत्।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना।।"

इति विवेकचूडामणिलक्षितो जीवन्मुक्तो भगवद्गीताद्वितीयाध्यायसङ्गीतजीवन्मुक्तलक्षणलक्षितः, य एव सप्तविधतद्भूमिकारूढो योगवासिष्ठलक्षितो जीवन्मुक्तः।

भगवद्रामानुजादयस्तु– 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः' इति गीताव्याख्यानावसरे स्थितप्रज्ञ-गुणातीतयोरैक्यं मत्वाद्वैत्यभिमते तत्त्वज्ञान एव गीतायास्तात्पर्ये उपदेशानुपपत्त्यादीनि दूषणान्युपक्षिपन्ति। गीतायामपि द्वितीयाध्यायनिर्दिष्टजीवन्मुक्तो गुणातीताभिन्न इति नाभिप्रेतम्, अन्यथा चतुर्दशाध्याये पृथग्गुणातीतलक्षणं वितथमापद्येत। मधुसूदनसरस्वत्योऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्या-नामखण्डार्थबोधकत्वप्रकरणेऽसम्प्रज्ञातसमाधेः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वादिति सिद्धान्तबिन्दौ वदन्तो वस्तुगत्या स्थितप्रज्ञगुणातीतयोरैक्यं मुख्यतात्पर्यविषयं मत्वैव संविन्मात्रं तत्त्वं पदलक्ष्यार्थस्वरूपं पदार्थस्मृत्यपेक्षित-पूर्वानुभवविषयमुपस्थापयन्ति।

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव' इति स्वतन्त्रसाधनेन विभक्तयोरपि योगज्ञानमार्गयो-र्योगमार्गोऽपि विना कर्मयोगं न कल्याणकारीति मत्त्वैव योगवासिष्ठे कर्मयोगमनासक्तियोगं वापि समाद्रियते।

लोकमान्यतिलकस्तु–गीतायाः कर्मयोगस्यैव मुख्यलक्ष्यत्वेऽपि भक्तियोगज्ञानयोगयोरपि तदुपकारकत्वं मन्वानो न योगवासिष्ठसिद्धान्तं गीतासिद्धान्तं वानुसरति। गीतारहस्यं हि भगवद्गीताभिमतो ज्ञानयोगः शङ्करभगवत्पादानामेवेति वर्णयत् तस्य विरोधिनः कर्मयोगोपकारकत्वं वदन् 'मम माता वन्ध्या' इति-वद्व्याहतत्वार्थम् ।

भगवद्रामानुजाद्यभिमतो ज्ञानयोगस्तु योगवासिष्ठाभिमतशुद्धप्रत्यगात्मसाक्षात्कारात्मा यद्यपि कर्मयोग-स्योपकारकः, परन्तु योगाश्रयस्याप्येकैकप्राधान्येन समुच्चय इव तैरभिमन्यते। योगवासिष्ठन्तु–

"परं रूपमनाद्यन्तं तन्मात्रैकमनामयम्।

ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते।।
यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मतया स्थितः।
तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव।।
तत्क्रमात्सम्प्रतिबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम्।"

इतिकर्मयोगभक्तियोगयोर्ज्ञानयोगेन समुच्चयं नाभिप्रैति। ज्ञानयोगोऽपि योगवासिष्ठाभिमतो न भगवद्रामानुजादिसम्मतः किन्तु भगवत्पादाभिमतः साङ्ख्ययोग एव। अतो योगवासिष्ठाभिमतयोग-मार्गस्तदुपबृंहणः कर्मयोगश्च न समुच्चितौ मोक्षसाधनम्। विश्वस्यते 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति श्लोको योगवासिष्ठाभिमतं योगमार्गमेव कर्मयोगप्रकरणे विषयीकरोति। भगवद्गीतायां कर्ममार्गनिरूपणपरे प्रथमे षट्के षष्ठाध्याये योगमार्गप्रपञ्चेन।

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।"

इति योगवासिष्ठनिर्दिष्टमात्मतत्त्वसाक्षात्काररूपं स्थितप्रज्ञत्वमेवोपसंह्रियते। तत्र यद्यपि गीतायां जीवब्रह्मैक-साक्षात्कारोऽपि षष्ठाध्याये प्रस्तूयते, तथापि योगवासिष्ठस्य लक्ष्यं स्थितप्रज्ञतायामेवेति योगवासिष्ठतो ज्ञायते।

योगवासिष्ठस्य योगमार्गे मुख्यं तात्पर्यं तदविरोधेनैव कर्मयोगस्य भक्तियोगस्य वा पर्यवसानम्, योगवासिष्ठाभिप्रेतस्साङ्ख्ययोग एव भगवद्गीतायां कर्मयोगप्रकरणे–

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"

इति भगवतो गीतं विशदयति। अत्र सत्स्वपि सम्भावितेष्वपि व्यासशुकादिषु जनकस्य प्राधान्येन निर्देश उपशमप्रकरणे योगवासिष्ठ एकादशद्वादशाध्यायौ स्मारयति। तत्र हि विगलिताहङ्कारादिप्रत्यगात्मतत्त्वं जानञ्जनकोऽनासक्तियोगेनैव राज्यकार्यमपि निरवहदिति प्रतिपाद्यते। अत्रानुसन्धेयाः केचन श्लोका अत्र सङ्गृह्यन्ते–

"इति सञ्चित्य जनको यथाप्राप्तां क्रियामसौ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिने दिनपतिर्यथा।।
इष्टानिष्टाः परित्यज्य चेतसा वासनाः स्वयम्।
यथाप्राप्तं चकारासौ जाग्रदेव सुषुप्तिवत्।।
सम्पाद्य तदहः कार्यमाद्यावर्जनपूर्वकम्।
अनयच्छर्वरीमेकरतो हि ध्यानलीलया।।
मनःसमरसं कृत्वा संशान्तविषयभ्रमम्।

शर्वर्यां क्षीयमाणायामित्थं चित्तमबोधयत् ।।
चित्तचञ्चलसंसार आत्मनो न हि सुखायते।
शममेहि शमाच्छान्तिसुखं सारमवाप्यते।।"

इमानि हि वचनानि जनकस्यासक्तस्यैव समाधितो व्युत्थानदशायां क्रियापरत्वं ततः समाधिनिष्ठत्वं स्थितप्रज्ञत्वापरपर्यायम् 'असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ जाग्रदेव सुषुप्तिवत्' 'सम्पाद्य तदहः कार्यम्' 'शर्वर्यां क्षीयमाणायां चित्तमवबोधयत्' इत्यादिवाक्यैर्विशदयन्ति। अत्र 'शर्वरी'पदं 'जाग्रदेव सुषुप्तवत्' इति पदञ्च–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।"

इति गीतार्थं सूचयति। एतच्छ्लोकोक्तस्थितप्रज्ञावस्था तु पूर्वमत्र सङ्गृहीतस्थितप्रज्ञावस्थासु पञ्चम्यां भूमिकायां षष्ठ्यां वा तस्यां जनकस्यावस्थानमिति प्रतीयते। तत्र जनक इति विदेहानां सर्वेषां साधारणं नाम, न तु व्यक्तिविशेषस्येति विष्णुपुराणे व्यक्तम् । 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यत्र को वा जनकः गृहीतः इति न वक्तुं पार्यते। योगवासिष्ठपरामृष्टो जनकः स्थितप्रज्ञः कर्मयोग्येवासीत् । महाभारते जनकः कश्चन प्रव्रजितोऽप्यासीदिति प्रतिपाद्यते। ततस्तु प्रतीयते कश्चन जनको ज्ञानमार्गाधिकार्यप्यासीदिति। 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति वाक्यमवष्टभ्य क्षत्रियाणां संन्यासाधिकारोऽपि नास्तीति वादस्तु निरालम्बः।

समाधिसाधनभूमयः

तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपूर्विका मोक्षेच्छा प्रथमा भूमिः, ततो गुरुमुपसृत्य श्रवणमननादिरूपो वेदान्तविचारो द्वितीया भूमिः, ततो निदिध्यासनाभ्यासान्मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया भूमिः, ततो वेदान्तवाक्यादपरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिः, ततः सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्था पञ्चमी भूमिः, ततस्तदभ्यासातिरेकेण चिरकालावस्थायिनी सैव षष्ठी भूमिः, ततस्तस्या अपि परिपाकेन सर्वदापि स्वप्रकाशचिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि मग्नतया समुद्रमध्यस्थापितकुम्भवदन्तर्बहिः पूर्णत्वं सप्तमी भूमिः। अत्राद्यं भूमिकात्रयं साधनं जाग्रदवस्था, यदा कर्मयोगस्य प्राधान्यं, योगमार्गस्याप्राधान्यं तुरीयाद्यवस्थापि तस्य साधनं तस्य स्वप्नावस्था, यदा कर्मयोगस्य ह्रासः, योगमार्गस्य तु वृद्धिः अपराः तिस्रो भूमिकास्तस्य फलावस्था, यदा योगमार्गस्यात्यन्तं वृद्धिः, कर्मयोगस्य व्युत्थितावस्थायामेवानुष्ठानम् ,अत्यन्तमेव ह्रासश्च, सप्तम्यां भूमिकायां तु गाढसुषुप्तौ न लेशतोऽपि कर्माधिकारः।

श्रीशङ्करभगवत्पादकृतस्य श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य तात्पर्यम्

एवं स्थिते दक्षिणामूर्तिरपि तुरीयादिषष्ठान्तभूमिकां क्रमश आरुह्य व्युत्थितावस्थायामात्मतत्त्वोपदेशेनान्तेवासिनोऽनुगृह्णानः अन्ते सप्तमभूमिकामारुह्यमानेनात्मतत्त्वमाचक्षाण आसीत्, इति मत्त्वा स्तोत्रेणानेन प्रशंसन्ति।

अत्र भगवत्पादाः श्रीदक्षिणामूर्तिनानुसंहितं श्रीगौडपादश्रीगोविन्दपादादिपरम्परासिद्धमद्वितीयमात्मतत्त्वमेव स्थितप्रज्ञतुरीयभूमिकावस्थायामनुसन्दधते, भगवन्तं श्रीदक्षिणामूर्तिं प्रणमन्ति स्वीयेन दक्षिणा-

मूर्तिस्तोत्रेण दशश्लोक्यात्मकेन। तत्र गौडपादकारिकाया आगमप्रकरणान्ते–

"प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति।।
अमानोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।।"

इत्यद्वितीयमात्मतत्त्वं जागरितस्वप्नसुषुप्ताद्यात्मकमनाद्यविद्याकल्पितानादिभेदवत् वस्तुतत्त्वमद्वैतमुपसंहृत्य वैतथ्यप्रकरणमेवमुपक्रमते–

"वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।।
अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः तस्मिन् देशे न विद्यते।।
अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्।।
अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्मात् जागरितं स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते।।
स्वाप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।।"

इति स्वाप्नानां मिथ्यात्वमुपवर्ण्य तद्दृष्टान्तेन 'जागरिकाः भावाः मिथ्या दृश्यत्वात्' इति मिथ्यात्वम्। तस्माज्जागरितं स्मृतमिति निगमयति।

तत्र स्वाप्नजागरयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः, स्वाप्नदृश्यानामन्तःस्थानं संवृतत्वञ्च समानं दृश्यानामिति न ततो वैषम्यमित्युभयोः पक्षसपक्षभावः। तत्राज्ञानिदृष्ट्या जागरिकानां बहिरेव भावे विद्यमानेऽपि ज्ञानिनां दृष्ट्यात्मनोऽपरिच्छिन्नतया भासमानत्वात् स्वाप्नानामिवाऽऽत्मन्येव कल्पितानामिव भानम्, न तु तेषां भानं बहिः, किन्तु बहिर्वत्, यथा दर्पणे बिम्बं बहिर्बिम्बात्मना भानेऽपि न बहिरस्तीति न्यायोऽत्रापि।

तत्र यद्यपि विज्ञानां बहिर्वदपि भानं विरुद्धं, तथापि विज्ञानां स्थितप्रज्ञतुरीयभूमिकारूढानां निद्रारूपो दोषोऽस्तीति दोषवशात्तथा ज्ञानमिति मन्तव्यम् । तदेवं स्थितप्रज्ञः तुरीयभूमिकामारूढः सर्वं मिथ्येति मन्यमानोऽपि तेषु मिथ्यात्वनिश्चयात्, यथा भरतः तत्तद्वेषधारी तत्तद्रूपेणाभिनयन्नपि नाभिनयेनात्मानं स्वं जानाति, न वा तदीयेन दुःखेन दुःख्यति। एवं विज्ञोऽपि प्रबोधसमय आत्मानमेकमद्वितीयसमयेऽनुसन्दधानः स्वशरीरादिषु मिथ्यात्वनिश्चयेन न दुःख्यति। स्वाप्नानिव जागरितानपि दर्पणसदृशान्तःकरणोपाधिकान्, अविद्योपाधिकानेव स्थितप्रज्ञस्तृतीयभूमिकारूढः पश्यतीति निष्कर्षः।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कर्मकृत्स्नकृत् ।।"

इतीश्वरस्य हृदि संस्थितत्ववर्णनात् 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ' इति तैत्तिरीयोपनिषदर्थः प्रत्यभिज्ञायते। तेन च गुहानिहितत्वमेव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम् 'इति प्रत्यभिज्ञातब्रह्मस्वरूपप्रत्यभिज्ञानद्वारा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति क्रमिका सृष्टिस्तस्यैव 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'इति पुच्छात्मना-ऽधिष्ठानविधया ब्रह्मकारणत्वमुपसंह्रियमाणमध्यारोपापवादन्यायेन विवर्तोपादानत्वाभिप्रायेणैवेति ज्ञाप्यते। तेन च विवर्तत्वाविशेषात् स्वाप्निकानामिव जागरिकानामपि मिथ्यात्वे सृष्टेस्तात्पर्यम् । अतः सृष्टिश्रुतीनामपि न सृष्टौ तात्पर्यमित्यवगम्यते। तथा च भाष्यं कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणे– 'न चेयं परिणामश्रुतिः परिणाम-प्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्, सर्वव्यवहारहीन ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्' (ब्र.सू. २-१-२७)।

इदमेवाभिप्रेत्यात्र श्लोके 'विश्वं निजान्तर्गतं बहिर्वत् पश्यति'इत्युक्तम् । अयं भावः– सर्वस्य जगत आत्मविवर्ततया भानमात्रम् , न तु तस्य परिणामविधया तथाभाव इति।

अत्र विश्वशब्दप्रयोगात् न केवलं स्थावरं किन्तु जङ्गममपि गम्यते, परन्तु जङ्गमं न स्थावरमिव स्वरूपत आत्मतत्त्वविवर्तः किन्तु तदौपाधिकेन रूपेणेति ज्ञाप्यते। तल्लक्ष्यन्तु जीवात्मनां महाकाशस्यैव न स्वरूपतो मिथ्यात्वम्, किन्तु घटाकाशस्यैवौपाधिकं मिथ्यात्वम् । तमिममर्थं सुरेश्वरः स्वीयेनावतरणेन ज्ञापयति, येन तेनानुबन्धचतुष्टयान्तर्गतात्मसाक्षात्काररूपं प्रयोजनं सूच्यते। यत्तु 'यत्साक्षात्करणात्प्रबोधसमये' इत्यादिवाक्येनापि व्यज्यते।

❊ ❊ ❊

ॐ

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितः

मानसोल्लासः

प्रथमोल्लासः

मङ्गलाचरणम्

मङ्गलं दिशतु मे विनायकः
मङ्गलं दिशतु मे सरस्वती।
मङ्गलं दिशतु मे महेश्वरी[१]
मङ्गलं दिशतु मे सदाशिवः॥१॥
आत्मलाभात् परो लाभो नास्तीति मुनयो विदुः।
तल्लाभार्थं कविः स्तौति स्वात्मानं परमेश्वरम् ॥२॥

अत्र मानसोल्लासः प्रथमया कारिकया अविघ्नसमाप्त्यर्थं मङ्गलमारचय्य द्वितीयतृतीय-तुरीयपञ्चमषष्ठसप्तमकारिकाभिः श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य प्रथमश्लोकमवतारयति। ततोऽष्टम्या कारिकया श्लोकस्य प्रथमपादम् , नवमदशमैकादशकारिकाभिर्यथासम्भवं पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं द्वादश-त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशकारिकाभिर्विविच्य विशिष्टं वाक्यार्थमवशिष्टाभिरेकत्रिंशत्कारिकाभिर्विशदयतीति विवेकः। तत्र–**"मङ्गलं दिशतु मे— सदाशिवः॥"**इति मङ्गलश्लोकः।

तत्र प्रथमपादेन निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं विनायकप्रार्थना, द्वितीयेन वाक्प्रसरार्थं सरस्वतीप्रार्थना, तृतीयेन परविद्याया उमाख्याया केनोपनिषत्प्रतिपादिताया अनुग्रहप्रार्थना, तुरीयेन तु 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इत्युक्त्याऽद्वितीयात्मतत्त्वं प्रतीयं प्रार्थनेति भावः। अनेन चात्मलाभ एव मुख्यं लक्ष्यं मानसोल्लासस्येति प्रतीयते। सा चाद्वितीयात्मतत्त्वसाक्षात्कार एव ॥१॥

तमिममर्थं बोधयितुं मानसोल्लासस्य द्वितीया कारिका–**आत्मलाभादिति।**

अस्यार्थः– नित्यप्राप्तस्य व्यापकस्य चात्मनः मुख्यप्राप्यत्वाभावात् तत्साक्षात्कार एव तल्लाभः, अत **आत्मलाभात्**= आत्मसाक्षात्कारादित्यर्थः। **परो नास्ति**= साक्षात्कारस्यैवाज्ञाननिवृत्तिरूपस्य परत्वात् कर्मविधीनामिव अनुष्ठानानपेक्षणेन न तदतिरिक्तं फलमित्यर्थः।

अनेन जाग्रत्स्वप्नावस्थां स्थितप्रज्ञतुरीयभूमिकामारूढाः भगवत्पादाः स्वात्मस्वरूपं श्रीदक्षिणामूर्तिं परमेश्वरबुद्ध्या वर्णयन्ति। तेन च गौडपादकारिकागमप्रकरणोपसंहारगतम्–

"प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।

१.महेश्वरो इति पाठान्तरम्।

स्वेच्छया सृष्टमाविश्य विश्वं यो मनसि स्थितः।
स्तोत्रेण स्तूयतेऽनेन स एव परमेश्वरः॥३॥

अस्तित्वप्रकाशत्वयोराधारः कः?

अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारः प्रवर्तते।
तच्चास्तित्वं प्रकाशत्वं कस्मिन्नर्थे प्रतिष्ठितम्॥४॥
किं तेषु तेषु वाऽर्थेषु किं वा सर्वात्मनीश्वरे।

ईश्वरत्वजीवत्वे कीदृशे?

ईश्वरत्वञ्च जीवत्वं सर्वात्मत्वञ्च कीदृशम् ॥५॥
जानीयात्तत्कथं जीवः किं तज्ज्ञानस्य साधनम्।
ज्ञानात्तस्य फलं किं स्यादेकत्वञ्च कथं भवेत् ॥६॥

सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥"

इति कारिकार्थः प्रत्यभिज्ञायते। अयमर्थः प्रकृतदक्षिणामूर्तिश्लोकेनापि 'यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्' इत्यनेनावगम्यते। अत्रात्मानमेवाद्वयमित्यंशे वैतथ्यप्रकरणैकवाक्यतया आगम-प्रकरणोपसंहारस्य पूर्वोक्तरीत्या साम्प्रतमित्यभिप्रेयते।

अत्र गौडपादा इव भगवत्पादाः, भगवत्पादा इव सुरेश्वराचार्या अपि स्थितप्रज्ञतुरीयभूमिकामारूढ-मेवात्मानं मत्वैतत्प्रकरणार्थमनुसन्दधते।।२॥

अत्राद्वैतपदार्थव्युत्पादनं द्वितीयानां स्वाप्निकानामिव जागरिकाणामपि वैतथ्याभिप्रायेणेति यदुक्तं मे तदपि सुरेश्वराचार्याणां तदर्थोपबृंहणाभिप्रायेणैव। इयमत्र मानसोल्लासस्य तृतीया कारिका–**स्वेच्छयेति।**

सृष्टं विश्वं स्वेच्छया= स्वसङ्कल्पमात्रेण, **आविश्य**= स्वात्मनानुविध्य, **मनसि स्थितः**= अहं ममेत्याद्यध्यस्ताहमादिरूपेण **यः**= परमेश्वरो वर्तते इत्यन्वयः। अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकृत्य, 'सन् घटः' इत्यादावधिष्ठानविधया सदादिरूपेण भासते परमात्मा, तेन च तत्सत्तातिरिक्तसत्ताया अभावः। किं बहुना? 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिन्यायोक्तविधया तद्व्यतिरेकेण सर्वभावः, ततः परमेश्वराद्वितीयत्वञ्च सिद्ध्यति। तेन च 'आत्मानमेवाद्वयम्' इत्यद्वितीयत्वं तद्व्यतिरिक्तद्वैताभावेन। अद्वैतत्वञ्चास्य 'सन् घट' इत्यादिसामानाधिकरण्यावगतैकत्वान्यथानुपपत्त्या॥३॥

'सन् घट' इत्यादिसामानाधिकरण्यभावं तु 'मृद् घटः' इत्यादाविव न विशेष्यविशेषणभावेन, न वा परिणाम्युपादानविधयेति समर्थयितुमुत्तराः कारिकाः–

"अस्ति प्रकाशते— वक्तुमारभते गुरुः॥" (४-७) इति।

अस्ति प्रकाशते इति व्यवहारे प्रकाशमानमस्तित्वं प्रकाशश्च घटादिधर्मः उतान्यधर्मः॥४॥

तत्र यद्यस्तित्वं प्रकाशश्च घटादिधर्मस्तर्हि सर्वेषां सत्त्वाविशेषात् एकन्यायेन सर्वात्मत्वं प्राप्तं भवति,

सर्वज्ञस्सर्वकर्ता च कथमात्मा भविष्यति।
शिष्यं प्रतीत्थं पृच्छन्तं वक्तुमारभते गुरुः।।७।।

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।१।।

अस्यार्थः—

प्रपञ्चस्वरूपम्

अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तरस्मिन्निदं जगत्।

अथ यदि तदात्मधर्मस्तर्हि न जीवेश्वराभेदः, तत्रेश्वरत्वजीवत्वयोर्ज्ञानिन न सर्वात्मत्वज्ञानं स्यात्, जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यां भेदात्, इति शिष्यस्य प्रश्नः। ।।५-७।।

विश्वं दर्पणमितिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रप्रथमश्लोकस्य व्याख्या

तं प्रतीदमुत्तरं **विश्वं दर्पणमिति।**

अत्रेमौ प्रश्नावुन्मिषतः— आत्मनोऽद्वयत्वेऽत्र विवक्षिते 'सन् घटो भाति' इति प्रतीत्या घटादीनां सत्त्वं प्रत्यक्षावगतं किमबाध्यत्वमुतान्यत्। आद्ये घटादीनां न मिथ्यात्वमित्यद्वयत्वं व्याहतम्। यद्यन्यत् तर्हि, तत् किं सत्ताजात्यादिकं, अर्थक्रियाकारित्वं वा। तत्र मिथ्याभूतस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् द्वितीयः पक्षो न युज्यते। किञ्चाबाध्यत्वादिरूपे सत्त्वे घटादीनां प्रत्येकं तन्नाना उत एकम्। तन्नानात्वे सन् घटः, सन् पटः इत्यनुगतसत्प्रतीतिविरोधात्, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इति श्रुत्यर्थव्याकोपः। यदि तदविरोधार्थं ब्रह्मैव सत् तर्हि 'सन् घटः' इति घटादौ सत्प्रतीतिः कथम्?

अत्र 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं' इति विश्वशब्देन जीवेश्वरयोरपि ग्रहणे तदुभयस्य सत्यत्वादद्वयस्य विरोधः। तदुभयमिथ्यात्वे तु तस्य प्रकाशमानस्य सत्त्वविरोधः, स्वत एव प्रकाशमानत्वात्। कथञ्चात्र विश्वस्यात्मोपादानकत्वमुपपद्यते? ईश्वराभावे कः सर्वज्ञः? कथञ्च जीवस्य तत्त्वज्ञानम्? न चैतत्प्रश्नोत्तरं विना विश्वस्य मिथ्यात्वदर्शनम्, आत्मनोऽद्वयसाक्षात्करणम्, तदद्वयत्वञ्च, श्रुतिसिद्धमुपपन्नं स्यात्। अतः 'विश्वं दर्पणम्' इति प्रथमश्लोकः।

एवं बहिर्वदाभासमानस्य जगतो जागरिकस्यान्तरात्मनि कथं दर्शनम्? तत्रान्तरे प्रकाशमानं हि स्वाप्नमेव वस्तु न तु जागरमिति उक्तश्लोकार्थं व्याख्यातुं मानसोल्लासोऽष्टमीं कारिकां प्रस्तौति—**अन्तरस्मिन्निति।**

अनेन पूर्वोक्तरीत्या वैतथ्यप्रकरणोक्तस्वप्नदृष्टान्तेन सर्वस्य बहिर्वद्भासमानस्य मिथ्यात्वञ्च ज्ञायते, इति सुरेश्वरेण वैतथ्यप्रकरणोक्तस्वाप्नवस्तुविवेकोऽत्रानुसन्धीयते। तेन 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया' इति प्रकृतश्लोकस्य पूर्वार्धो व्याख्यायते। अत्र

बहिर्वन्मायया भाति दर्पणे स्वशरीरवत् ॥८॥

'विश्वं ... निजान्तर्गतम्' इत्यनेन भगवत्पादैः–

"अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।
अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति॥
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते।
अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ॥
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ।
अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्॥
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते।
स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः॥
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।"

इति गौडपादार्थ एव मानसोल्लासेनानुसन्धीयते। तेन च प्रथमश्लोकोक्तदिशा विश्वस्य दर्शनं स्वप्नवदन्तःस्थितत्वेन। तच्चान्तःस्थस्यैव विश्वस्य दर्पणसदृशमायोपाधिकत्वेन यथा ग्रीवास्थमुखवत् दर्पणेऽवस्थितं भासते, तेन स्वप्नतुल्यत्वम्, ततो जगन्मिथ्यात्वम्, ततोऽद्वयमात्मानञ्च स्थितप्रज्ञस्तुरीयावस्थामारूढः पश्यतीति मानसोल्लासो विशदयति। अत्र विश्वस्य परमात्मान्तःस्थत्वम्– 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्युक्तरीत्या सन् घटो भातीत्यादिरूपेण तस्यानुवेध एव, तस्यान्तर्यामितया, अधिष्ठानतया वा, विवर्तोपादानत्वाच्च, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ' इत्युक्तरीत्या सदात्मनाऽवस्थितस्यैव विश्वस्याज्ञान-विषयब्रह्मविवर्ततयैव बहिर्वद्भासमानमात्रमेव तदनुवेधनिबन्धनं विवक्ष्यते न तु परमार्थतः सत्यत्वं विश्वस्य, यतो मिथ्यात्वं तस्य, यथा दर्पणदृश्यमाननगर्याः। अयमत्र विशेषः बिम्बस्यान्तरवस्थानमात्रं न बहिर्वदभावसोऽपि, यतो न दर्पणस्यानुबेधः, आत्मन इव तस्य विवर्तोपादानत्वाभावात्, प्रतिबिम्ब-स्यौपाधिकभ्रमत्वात्, विश्वस्य निरुपाधिकभ्रमत्वाच्च। तत्रोपाधिर्दोषत्वेन न गण्यते, अत एव न तत्रानिर्वचनीयख्यातिः, माया तु न तथोपाधिः ब्रह्म वा, किन्तु दोष एव सा, यथावरणमात्रेण ब्रह्मणो विवर्तो-पादानतया तत्र प्रतिबिम्बस्याप्युपाधिनिवृत्तौ निवृत्त्या गौणो मिथ्यात्वव्यपदेशः, विश्वस्य तु दोष-जन्यज्ञानविषयत्वादनिर्वचनीयत्वं मिथ्यात्वं मुख्यमिति स्थितम्। तत्र प्रतिबिम्बस्य सत्त्वमौपाधिकं बिम्बस्य सत्त्वं तु सत्तादात्म्यमात्रेण। तथा च स्वाप्नवदेव जागरिकमपि विश्वं मिथ्येति सूचयितुमेवं **यथा माययेत्युक्तम्।** इयांस्तु विशेषः– स्वाप्निकानां निद्रोपप्लुतमनउपहितचैतन्यविवर्तत्वम्। जागरिकाणां मायैव दोषोऽपि उपाधिरपीति दोषोपाध्युभयात्मना मायोपहितेन चैतन्यस्य विवर्तत्वमिति। इदं तु शास्त्रतोऽवगम्यते। स्थितप्रज्ञानां तु जाग्रत्येव सुषुप्तानां समाधिमात्रेण तत उत्थानेऽपि च। विश्वस्यते सुरेश्वराचार्योऽपि तुरीयावस्थस्थितप्रज्ञतामारुह्यैव श्लोकमिमं व्याचष्टे। अनेन च तुरीयावस्थामारूढा अन्येऽप्यात्मानमेवाद्वयं द्रष्टुमर्हन्तीति॥८॥

स्वप्ने स्वान्तर्गतं विश्वं यथा पृथगवेक्षते।
तथैव जाग्रत्कालेऽपि प्रपञ्चोऽयं विविच्यताम्॥९॥

स्वप्नजाग्रतोः सत्तयोः समानता

स्वप्ने स्वसत्तैवार्थानां सत्ता नान्येति निश्चिता।

स्वप्न इति। किं बहुना? स्वप्नेऽप्यन्तर्गतं जीवोपादानकं रथादि बहिर्वदवभासते, येन च देशान्तरमपि सुदूरं वयं गच्छामः इति बहिरेव दृश्यमानत्वेन जारगिका न मिथ्या भवन्तीति कल्पनं न युक्तम्। अतो जागरावस्थापि यदि स्वप्नवदालोच्यते यदि वा तुरीयावस्थारोहेणात्मसाक्षात्कारोऽपि भवति, सम्प्रज्ञात-समाध्यवस्थायां तस्य जागरिका अपि बहिर्वदवभासमाना अपि स्वप्नवदकार्यकारिणो न बन्धाय भवितुमर्हन्ति, यथा तुरीयावस्थामारूढानामिति प्रकृतश्लोकपूर्वार्धस्य तात्पर्यम्।

एतेन–

"अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारः प्रवर्तते।
तच्चास्तित्वं प्रकाशत्वं कस्मिन्नर्थे प्रतिष्ठितम्॥
किं तेषु तेष्वर्थेषु किं वा सर्वात्मनीश्वरे।"

इति प्रश्ना अपि व्याख्याताः, येनात्मन एव सत्ता न घटादीनाम्, यतः स्वप्नवज्जागरिकाणामपि मिथ्यात्वमिति ज्ञायते। अतोऽद्वयत्वमात्मनः इति फलति॥९॥

फलितमिममर्थं मानसोल्लासः सङ्गृह्णाति– **स्वप्न** इति। **स्वसत्तैव**=आत्मन एव सत्ता, उपादानातिरिक्तसत्ताया उपादेयेऽभावात्, स्वाप्निकानामात्मोपादानकत्वाच्च स्वप्नसत्ताऽऽत्मसत्तैव। एवं जाग्रतानामात्मसत्तैव **जडानाम्=** अचेतनानाम्, कुतः? आशुविनाशनादिति योजना। स्पष्टोऽर्थः। तेन च सत्त्वं प्रकाशमानत्वञ्चाचेतनानामात्मन्येव। तेषां तदुपादानकत्वात्, तदनुविद्धतया तत्प्रतीयमानत्वाच्च। तदुक्तम्– 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र सत्ता न भासते' इति। अतोऽस्तित्वमात्मनीश्वर एवाज्ञानोपहिते विवर्तोपादानकारणे तेषु तेष्वर्थेषु सत्त्वप्रतीतिप्रयोजकम्।

अयं भावः– अर्थानां प्रत्येकं सत्त्वं मृत्त्वादिकमिव घटादीनां परिणामत्वादेव भवितुमर्हति। तत्र तत्रोपादानसत्ताया एवोपादेये स्वीकारात्। तत्र च सत आत्मनोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं निर्वोढुं परिणामवादी न स्वीकर्तुमर्हति, आत्मनोऽनित्यत्वापातात्। सृष्टिश्रुतिस्त्वात्मनो विवर्तोपादानत्वेनैव नेया। आरम्भवादे तु पूर्वमसतः कार्यावस्थायां सत्ता तेन साकं प्रतीयते, तत्तु न सम्भवति। तथापि–

"भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्॥
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति वै।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत॥"

इति गौडपादकारिकाः सद्वादं परिणामवादाभिप्रायं साङ्ख्यानाम्, आरम्भवादञ्चासत्कार्यवादिनाञ्च निरस्य

को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनाम्।।१०।।

स्वप्ने प्रकाशो भावानां स्वप्रकाशान्न हीतरः।

जाग्रत्यपि तथैवेति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः।।११।।

सद्विवर्तवादं स्थापयन्ति। तत्रारम्भवादेऽसतः कार्यत्वायोगः, कारकव्यापारवैयर्थ्यञ्च, अतोऽसत एव जन्मेति सिद्धान्तः। साङ्ख्यास्तु सत्कार्यवादिनः सतोऽपि कार्यावस्थाविशेषाभिव्यक्त्यर्थं कारकव्यापारसार्थक्यम्, असदुत्पत्तौ सर्वत्र सर्वोत्पत्तिः स्यात् इत्यसत्कार्यवादो न युक्तः किन्तु सत्कार्यवाद एव युक्त इति। तत्राभिव्यक्तेरपि सत्या एवाभिव्यक्तिः, उतासत्येत्याशङ्कायां पुनरप्यभिव्यक्त्यन्तरविवक्षायां तत्रापि सत्त्वासत्त्वविकल्पे तदर्थमपि कारकव्यापारवैयर्थ्यमिति समापतति। अतो वादद्वयस्याप्ययोगात् सद्विवर्तवाद एव युक्त इति गौडपादकारिका सद्विवर्तवादं ख्यापयति। व्यक्तञ्चैतदद्वैतब्रह्मसिद्धौ प्रथममुद्गरे। अतो नार्थानां पृथक्सत्त्वं पारमार्थिकम्, न वा परिणामिसत्ताया अनुप्रवेशेन, किन्त्वात्मन एकस्यैवाबाध्यत्व[१]रूपसत्ता, घटादीनां तु तत्तादात्म्यात्रेण सत्प्रतीतिविषयत्वमिति सत्त्वप्रतीतिरेकसत्तावादेन निर्वहणीया। इदमेवाभिप्रेत्य–

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।" इति भगवद्गीता।

इदमेव मनसि कृत्य 'नान्यस्य'[२] इति मानसोल्लासो लिखति। तदेवं साक्षात्स्वाप्निकानां सत्ताप्यात्मसत्तेति प्रतिपाद्य गौडपादोक्तरीत्या जागरिकानामपि सत्ताऽऽत्मसत्तैवेति विवेचयति। 'को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनाम्' इति। अनेन 'आत्मानमद्वयम्' इति सुष्ठु व्याख्यातम्। अनेनैकसत्तावादो विवक्ष्यते, यत्रात्मनः संसर्गमात्राध्यासः, न स्वरूपतोऽपि। सत्तात्रैविध्यवादस्तु मिथ्याभूतार्थस्यार्थक्रियाकारित्वरूपा स्वरूपतोऽपि मिथ्यात्वमभिप्रेत्य, न त्वबाध्यत्वरूपसत्तयेति तत्रापि संसर्गमात्राध्यासं विना न गतिः।।१०।।

अयमेव न्यायः प्रकाशेऽपि, इति बोधनार्थमाह– **स्वप्न** इति। **स्वप्रकाशादात्मनः**= स्वप्रकाशात्म-संसर्गाध्यासादेव, स्वप्ने भावानां प्रकाशोऽपि, ननु स्वप्रकाशात्मप्रकाशातिरिक्तप्रकाशः, तथा जाग्रत्यपि। सच्चिदात्मनो ब्रह्मणः प्रकाशमानस्यैव सर्वभावाधिष्ठानत्वात्, तत्तदाकारवृत्त्याऽऽनन्दात्मनाऽप्रकाशेऽपि सच्चिदात्मनोऽसत्त्वापादकाभानापादकाज्ञानविषयत्वे तत्तदज्ञानेषु वा नष्टेषु चैतन्यत्वेनैव अभिव्यक्तेन सर्वभावानां प्रकाश इति भावः। अन्तःकरणवृत्तयोऽपि जडधर्मित्वादावरणाभिभवद्वारा चैतन्यमभिव्यज्यैव भानात् प्रकाशयन्ति। तेन च यावदावरणं न प्रकाशो भावानां स्वाप्निकानां जागरिकानां वा।

तत्र स्वप्ने साक्षिणैव सर्वदाऽज्ञानाऽनावृतेन भावानां यावत्सत्त्वं प्रकाशः, जागरे तु वृत्तौ सत्यामेव प्रकाशः इति साधारणो न्यायः। तुरीयभूमिकामारूढविषये तु जागरिकावस्थायामेव स्वप्नावस्थेति न तत्र कुत्राप्यावरणाभिभवार्थं वृत्त्यपेक्षेति तु विशेषः इति स्वाप्निकानामिव जागराणामपि मिथ्यात्वबुद्धिरेव तत्र भवति, तदानीमात्मसाक्षात्कारेण भावानां बन्धकत्वशक्तेः प्रतिबन्धात्। तदा हि भरतादिवत् तत्तद्भावानां व्यवहारेऽपि न बन्धकत्वमिति मन्तव्यम्। सति चैवं विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं पश्यन्नात्मानं तदसंसृष्ट

१.किन्त्वात्मन्येकस्यैवावाध्यत्वरूपा इति हस्तलेखे पाठः।

२.नान्य इतिमूलानुसारी पाठः।

'प्रबोधसमये' इत्यस्य व्याख्या

निद्रया दर्शितानर्थान् न पश्यति यथोत्थितः।
सम्यग्ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति।।१२।।

पश्यतीति तूपपन्नं तस्यात्मदर्शनम्।।११।।

इममर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति– **निद्रयेति**। अनेन 'प्रबोधसमये' इति विशेषणांशो विव्रियते। अयमत्र निष्कृष्टार्थः– स्वाप्निकान् स्वप्नोत्थितो मिथ्येति मन्यते, न तु स्वप्नदशायां, तुरीयभूमिकारूढस्तु जाग्रदवस्थायामेव स्वप्नवत् सर्वं पश्यति। तस्य हि तदा भावानां मिथ्यात्वेनानुभवः, तदा तस्यात्मसाक्षात्कारस्यैव सत्त्वात्। सम्प्रज्ञातसमाध्यवस्था हि तुरीया भूमिका, मध्ये मध्ये विषयाणामपि तत्रावभासात्, न त्वसम्प्रज्ञातसमाधाविव द्रष्टुरेव तदा स्वरूपेऽवस्थानम्। अतो जागरेऽपि स्वप्नवद्भावानामवभासः। तत्र हि भावानामिवाऽऽत्मनोऽपि ज्ञानमपटुतममेव वर्तते, एवञ्चेदप्यात्मनोऽद्वयत्वबुद्धिरनुवर्तते। तेन सुषुप्तितो व्युत्थितानामिव जागरे प्रपञ्चे नाभिनिवेशः, किन्तु समाधितः पञ्चमादिभूमिकात उत्थितानामिवानभिनिवेशेनैव समाध्यवस्थाया इति समाध्यवस्थयैव व्यवहारः। पञ्चमभूमितोऽव्युत्थितानामिव तुरीयभूमिकारूढानामिव भावानां प्रतिभासो न बन्धकः[१] इत्यात्मनोऽद्वयत्वदर्शनं तदानीं गौणम्, न तु सर्वात्मना दृढतरोऽद्वयत्वानुभवः। अत्र सर्वत्र–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।"

इत्यत्रोपन्यस्ता निशा दिवा चैवमवगन्तव्ये। आत्मदर्शनं विना सर्वेषां भूतानां दिवा=भावानां दर्शनम्, स्थितप्रज्ञानां तु तत्तद्भूमिकारूढानां तद्विपरीतम्, तद्यथा तेषां भावानामदर्शनं निशा, आत्मदर्शनं तु दिवा जागरो वेति। अयमेव न्यायः स्वप्नेऽपि। विशेषस्तु तेषां जागरे स्वप्नवदवभासः। यमिनां स्थितप्रज्ञानां तु जागरेऽपि भावानां स्वप्नवदनवभासः, आत्मनस्तु जागरवदवभास इति तथा च स्थितप्रज्ञानां प्रबोधसमयो जागरावस्थात्मप्रकाशावस्थ इवेति तुरीयभूमिकारूढानामात्मसाक्षात्कारस्यापि विद्यमानत्वात्तदा जागराणां भावानां भानं स्वप्नवदेवेति सिद्धम्–तदाऽद्वयत्वानुभवो द्वैतावभासेऽपि।

इदमत्र तत्त्वम्– स्थितप्रज्ञस्य प्रथमा भूमिका नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्विका मोक्षेच्छा शुभेच्छा नाम। ततो गुरुमुपसृत्य श्रवणमननादिरूपो विचारः द्वितीया भूमिका। ततो निदिध्यासनाभ्यासान्मननहेतुकैकाग्र्येण सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया भूमिका। ततो वेदान्तवाक्यार्थसाक्षात्कारोऽद्वितीयात्मसाक्षात्कारापरपर्यायःतुरीया भूमिका निर्विकल्पकसमाध्यवस्था नाम। परन्तु न सा पटुतमा तुरीया तु जागरे स्वप्नावस्था तत्रोत्तरोत्तरावस्थायास्साधकावस्था पूर्वपूर्वावस्था। पूर्वपूर्वावस्था तु सिद्धावस्था। पञ्चमादिभूमिका जागृतिसुषुप्तेरवस्थाविशेषः। तत्र चतुर्थावस्थामारभ्य समाधिदशायां व्यत्थितावस्थायां वा सर्वेषां व्यवहारो भरतादीनामिव पूर्वोक्तरीत्या तेषु तेषु मिथ्यात्वनिर्णयेनाऽनभिनिवेशेन। सति चैवं तुरीयभूमिकायामात्मानमद्वयं पश्यन् मध्ये मध्ये विषयाणां दर्शनेऽपि नाभिनिवेशेन तान् पश्यति, इत्यभिप्रेत्यैव–

१.अत्र प्रतिबन्धक इतिपाठः समुचितः प्रतिभाति।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवो विबुध्यते[१]।

"यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्" इति।

पञ्चमावस्था तु निर्विकल्पकसमाध्यवस्था, यत्र भावानां सुषुप्ताविव सर्वात्मनाऽभानम्। तदा हि तदवस्थाऽऽरूढः आत्मानमद्वयमेव पश्यति। अतोऽत्र 'प्रबोधसमये' इत्यनेन तत्तद्भूमिकानां समाध्यवस्थैव विवक्ष्यति नोत्थानावस्थामात्रमिति फलति।।१२।।

तमिमर्थं मानसोल्लासः सर्वस्यास्य प्रकरणस्य गौडपादकारिकैव मूलमिति सूचयन्नत्र गौडपादकारिकामेव स्वयमुदाहरति- **अनादिमाययेति**।

अत्र प्रबोधसमये इति पञ्चमषष्ठसप्तमभूमिकानामुपलक्षणम्। तत्र तुरीयभूमिकानन्तरं तदभ्यासे निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसाक्षात्कारावस्था पञ्चमी भूमिका यत्र प्राज्ञः प्रकाशते।

"कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतेजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः।।"

इति सुषुप्त्यवस्था पञ्चमी भूमिका, षष्ठभूमिकाऽपि। तत्र पञ्चमी भूमिका साधारणी सुषुप्तिः, षष्ठी तु पटुतमा या पञ्चमभूमिकाऽभ्यासपाटवेन चिरकालानुवर्तिनी यतोऽन्येनोत्थापनं विना नोत्थानम्। ततस्तस्या अपि परिपाकेन सर्वदा स्वप्रकाशे चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि निमग्नतया समुद्रमध्यस्थितकुम्भवदन्तर्बहिःपूर्णता सप्तमी भूमिका, यत्र तुरीयमात्रायां तत्त्वं स्वयं प्रकाशते। यत्र न प्राज्ञः, नतरां विश्वतैजसौ प्रकाशेते। तत्र प्राज्ञतुरीययोः विशेषोऽपरो गौडपादकारिकायां वर्णितः। स यथा–

"नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदिक् यथा।।
द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतो प्राज्ञः स च तुर्ये न विद्यते।।" इति।

निष्कर्षस्तत्र गौडपादकारिकागतोऽयमेव, यत्

"स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां चैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः।।
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते।।" इति।

इत्येवमवस्थाषट्कस्य विवेचनानन्तरं गौडपादकारिका प्रवर्तते–

"अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।।" इति।

इति मानसोल्लासोऽपि तामेव कारिकामुदाहरन् पूर्वोक्तं सर्वमत्रोपसंहर्तव्यं मन्यते। येन 'यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्' इत्यंशः सुष्ठु व्याख्यायते। इयञ्च गौडपादकारिका–

१.अत्र विबुध्यते इति पाठः टीकाकृदभिमतः। रामतीर्थस्य तु प्रबुध्यते इति यथाप्रसिद्धं पाठः।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥१३॥
श्रुत्याचार्यप्रसादेन योगाभ्यासबलेन च।
ईश्वरानुग्रहेणापि स्वात्मबोधो यदा भवेत्॥१४॥

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्"

इति माण्डूक्योपनिषद्व्याख्यानार्थं प्रवृत्ता प्राधान्येनाद्वैतात्मस्वरूपमेव विवेचयति। अत एव 'अनादिमायया सुप्त' इति मानसोल्लासोदाहृतकारिकानन्तरं–

"प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥"

विकल्पो विनिवर्तेत। कल्पितो यदि केनचिदुपदेशादयं वादो निवर्तेत, ज्ञाते द्वैतं न वर्तत इत्युपसंहृतम्। यस्यैव स्वप्नादिसाधर्म्येणोपपादनार्थं वैतथ्यादिप्रकरणानि भगवद्गौडपादाचार्याणाम्। सुरेश्वरोऽपि मानसोल्लासमुल्लासयितुं प्रवृत्तः भगवद्गौडपादाचार्यं तदीयकारिकाञ्च भगवत्पादैः मनस्याद्यन्तमनुसंहितां मत्वैव दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमात्मानमलभतेति मन्यते। विश्वस्यते, भगवत्पादोऽपि स्वीयस्य दक्षिणा-मूर्तिस्तवस्याध्ययनमध्यापनं प्रचारो वा गौडपादकारिकामवलम्ब्यैव साधुरित्युपदिदेश सुरेश्वराचार्यमत्यन्तं प्रियतममन्तेवासिनं प्रतीति[१]। 'उपदेशादयं वादः' इत्युपदेशमात्रगम्यत्वं सर्वस्य तत्त्वस्यास्य भगवत्पादा अप्यमन्वत इति प्रतीयते।

अनादिमायया= अनाद्यज्ञानेनाऽऽवरणशक्तिप्रधानेन, **सुप्तः**= आवृतस्वस्वरूपो, जीवः= जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थामारूढो विशिष्टो जीवात्मा, **यदा विबुध्यते**= यदा शास्त्राचार्योपदेशान्वितः निवृत्ताज्ञानः, **स्वयम्**= स्वस्वरूपमात्रेण प्रकाशते, तुरीयावस्थामारूढः आत्मस्वरूपमात्रप्रकाशः, **तदाऽऽत्मानं, अनिद्रं, अस्वप्नं, अद्वैतं बुध्यते** इति योजना। बद्धो हि जीवः आत्मानं जायमानं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थापन्नं, सद्वितीयं च मन्यते, समाधिस्थस्तु तुरीयं जानन् तद्विपरीतमनिद्रादिरूपं पश्यतीति भावः॥१३॥

अत्र गौडपादकारिकायां 'उपदेशादयं वादः' इत्यत्रोपदेशपदं श्रुत्याचार्यप्रसादस्य, योगाभ्यासस्य चोपलक्षणम्, यतो न विनाचार्यप्रसादमुपदेशस्तस्य साफल्यं तस्यानुष्ठानपर्यवसायित्वञ्च भवति। विश्वस्यते, गौडपादाचार्या भगवत्पादमपि स्वोपदेशस्यानुष्ठानपर्यवसायितां ज्ञापयन्ति इति मत्त्वैव सुरेश्वराचार्योऽपि सर्वस्य तत्त्वस्योपदेशादिनिबन्धनत्वं मन्यते। तत्र गौडपादकारिकास्थोपदेशपदप्रयोगस्य शास्त्राचार्यप्रसादाद्युपलक्षणत्वं मन्यते। तत्रापि– 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना' इति मत्त्वा, न केवलं शास्त्राचार्यप्रसादस्य किन्त्वीश्वरानुग्रहस्याप्यावश्यकतां मन्यते। तत्र विश्वः तैजसः सुषुप्तो वा स्वस्वशरीरादिकमात्मानमहंममेति पश्यति, इति सर्वत्र तस्य मिथ्यात्वदृष्टिर्योगवशेनैव इति देहादीनामेव दर्पणदृश्यमानदेहतुल्यत्वेनानुसन्धानमुपपादयति, न तु विश्वमात्मन्येवानुसन्धत्ते, इति 'दर्पणदृश्यमाननगरी-

१.अत्र 'साधुरित्युपदिदिक्षुः सुरेश्वराचार्यमत्यन्तप्रियतममन्तेवासिनं प्रतीयत' इति हस्तलेखे पाठः। सोऽपि कथञ्चित् सङ्गमयितुं शक्यते सुरेश्वराचार्यं प्रति ईयत = अगच्छत् इति व्याख्यानद्वारा।

भुक्तं यथान्नं कुक्षिस्थं स्वात्मत्वेनैव पश्यति।
पूर्णाहन्ताकवलितं विश्वं योगीश्वरस्तदा ॥१५॥
यथा स्वप्ने नृपो भूत्वा भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्।
चतुरङ्गबलोपेतः शत्रुं जित्वा रणाङ्गणे॥॥१६॥

तुल्यत्वेनानुसन्धानं' नोपपद्यत एवेति भाति। अत एवाध्यासभाष्यादावपि – 'अहं ममेदम्' इत्यध्यास एवान्तःकरणाध्यासेनैव भाष्येण समर्थ्यत इति शङ्का स्यात्, तथाप्यध्यासभाष्येऽपि 'ममेदम्' इति इदम्पदेन विश्वस्याध्यासस्योपलक्षणेन सर्वमिथ्यात्वमपि तस्य विषय इति मनसि निधाय विश्वस्याध्यासमभिप्रेत्योपदेशेनात्मतत्त्वे ज्ञाते द्वैतमात्राध्यासे निवृत्तिरिति प्रतीयते। अत एव 'उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' इति द्वैतमात्राभावेन तुरीयावस्थायामात्मतत्त्वोपदेशः उपसंह्रियते। अतो दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यता तुरीयभूमिकारूढस्य सर्वथोपपद्यते॥१४॥

अन्यासु भूमिकासु व्युत्थितावस्थायामपि सुष्ठु भगवत्पादैरपि आत्माद्वयत्वमनुसन्धाय श्रीदक्षिणामूर्तिः स्तूयते इति मत्वा मानसोल्लासो लिखति– **भुक्तमिति।**

कुक्षिस्थमन्नमिव सर्वमिदं **विश्वं** ममेदमित्यध्यासकवलितत्वात् द्वैतमात्रस्यात्मसाक्षात्कारे जाते निवृत्त्याऽऽत्मनोऽद्वितीयत्वमुपपद्यते। इदमत्राभिमतम्– तदन्तस्थभुक्तान्नादिष्वपि ममताभिमानवत् सर्वस्यात्मस्थत्वेन आत्मविवर्तत्वात् सर्वत्र ममताभिमान इति तदभिमाननिवृत्तिरेवात्मसाक्षात्कारस्य फलम्, इति तस्मिन्निवृत्तेऽद्वयात्मासाक्षात्कारः सूपपन्नः॥१५॥

तदेवम्–

"स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥"

इति स्वप्नमाये इव विश्वमिदं द्वैतमसदेव, इति 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' 'आत्मैवेदं सर्वमासीत्' 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'न तु तद् द्वितीयमस्ति' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादिश्रुतिसिद्धमर्थं 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यम्' इति प्रकृतार्थमुपसंहृत्य कथं स्वप्नतुल्यत्वं जागरस्य तयोर्वैषम्यात् स्वाप्निकाः–

"अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।
अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति॥"

इति गौडपादोक्तरीत्या केवलमन्तःस्थाः, अदीर्घकालाश्च जागरास्तु तद्विपरीताः। अत एव वैयासिकसूत्रम्– 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र.सू.२-२-२९)इति, भगवत्पादभाष्यं च 'कथं वैधर्म्यमित्याशङ्क्य बाधाबाधाभ्यामिति'[१]। अतो वासनानुसारिवेदनमेव स्वप्नः, जाग्रच्च स्वप्नविशेष एवेति सिद्धान्ते कश्चित् स्वप्न उषसि दृष्टराजारोहणादिलाभसूचकत्वात् सत्यः, अन्यस्त्वरण्यगमनश्रमादिफलादर्शनादसत्य इति

१.अत्र हि 'कथं पुनर्वैधर्म्यं? बाधाबाधाविति ब्रूमः' इति शङ्करभगवत्पादभाष्यम्।

परात् पराजितो भूत्वा वनं प्राप्य तपश्चरन्।
मुहूर्तमात्रमात्मानं मन्यते कल्पजीविनम्।।१७।।
तथैव जाग्रत्कालेऽपि मनोराज्यं करोत्यसौ।
कालगत्या च योगेन[१] क्षीणमायुर्न पश्यति।।१८।।
मेघच्छन्नोंशुमालीव मायया मोहितोऽधिकम्।

स्वप्नदृष्टा सत्यासत्यता कथमुपपद्येत इति। योगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽष्टचत्वारिंशदधिकशततमेऽध्याये व्याधमुनिसंवादे –

"एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ! सत्यताऽसत्यता कथम्।
स्थितः स्वप्नदृशा चैष सुमहान् संशयो मम।।"

इति व्याधशङ्कायाम् तत्र मुनिवर्योक्तं तत्त्वमिदमेव–

"देशकालक्रियाद्रव्यैर्या संविन्निश्चितोदिता।
काकतालीयवद्भाति सा सत्यस्वप्ननामिका।।
मणिमन्त्रौषधिद्रव्यैःक्वचिदव्यभिचारिणी।
न बहिर्नान्तरे सन्ति पदार्थाः केचन क्वचित्।
संविदेका जगद्रूपैर्यथेच्छति तथा स्थिता।।
यथा स्वप्नं समालोक्य सुषुप्तमनुभूयते।
तथा जाग्रत्समालोक्य निद्रा समनुभूयते।।
अतस्त्वं जाग्रदेवेदं स्वप्नं विद्धि महामते।
स्वप्नं च विद्धि जाग्रत्त्वमेकमेतदजं द्वयम्।।"

इत्यादीन्युत्तराणि योगवासिष्ठे सप्तोत्तरशततमाध्यायमारभ्याष्टचत्वारिंशदधिकशततमाध्यायपर्यन्तं स्वाप्नानां भावानामपि नान्तःस्थत्वमेव, न वा जागराणामपि बाह्यत्वमेव।

तथा च स्वप्नानामदीर्घत्वमात्रम्, किन्तु जागरवत् दीर्घत्वं बहुजन्मवृत्तविषयत्वम्, एकस्मिन्नेव स्वप्ने भयराज्यरक्षणपुत्रपौत्राद्यनुभवादिकं बहुकालसाध्यं दृश्यत एवेति प्रश्नान्तराणि मनसि निधाय प्रकृतश्लोकार्थं समर्पयति मानसोल्लासः– **यथा स्वप्न** इति। स्पष्टोऽर्थः। इदं स्वाप्नजागरभावसाधर्म्यम्। तुरीयावस्थस्थितप्रज्ञदृष्ट्या, यत्र स्वाप्निकानामिव जागरिकाणामप्यन्तःस्थत्वम्, अदीर्घकालत्वं च न 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् इति बाधाबाधाभ्यां वैधर्म्यम्' इति भाष्यं च बद्धदृष्ट्या प्रायिकत्वाभिप्रायमिति न विरोधः।।१६-१८।।

अतः 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यं निजान्तर्गतम्' इत्यत्र विश्वस्य कर्ता यदीश्वरः, तर्हि जागराणां भावानामीश्वरसृष्टत्वात्, स्वाप्निकानाञ्च भावानां जीवसृष्टत्वात् न स्वप्नजागरयोरेकत्वम्। अथ यदि विश्वकर्ता

१.कालनद्योघयोगेन, कालनद्योघवेगेन इतिपाठो मुद्रितपुस्तकेषु।

किञ्चित्कर्ता च किञ्चिज्ज्ञो लक्ष्यते परमेश्वरः॥१९॥

यद्यत्करोति जानाति तस्मिंस्तस्मिन् परेश्वरः।

जीवः स्वाप्निकभावमात्रमधिकृत्य, अतो विश्वमिदं नियमयति, बहिर्वदिति चानुपपन्नमित्याशङ्कां समाधातुमाह– **मेघच्छन्न** इति।

अयं भावः– अज्ञानोपहितं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानविशिष्टं तु तत् जीवः। उभयत्राप्यज्ञानस्योपाधित्वेऽप्याद्ये न तस्योपाधित्वमुपाधिधर्मभाक्त्वेन। द्वितीये तु तत्र तस्य विशेषणत्वात् तद्धर्मभाक्त्वम्, यथा बिम्बप्रतिबिम्बयोः, स्वरूपमात्रेण तूभयोरप्यैक्यमेव, य एवेश्वरः, स एव जीवोऽपीति। तत्र बद्धानां दृष्ट्या जागरभावा ईश्वरसृष्टाः एव न तु जीवसृष्टाः इति तद्वैलक्षण्यमनपोहम्। स्थितप्रज्ञदृष्ट्या तु पञ्चदश्यामद्वैतविवेकप्रकरणोक्तरीत्या सर्वस्य जडप्रपञ्चस्य तदुपाधिकजीवस्य, किं बहुनेश्वरस्यापि जीवसृष्टत्वं यावत्प्रतिभासं सर्वेषां सत्त्वात्, स्वाप्नजागरयोरुभयोरपि प्रातिभासिकत्वेन जागराणामपि भावानां जीवसृष्टत्वाकारेणैवार्थक्रियाकारित्वात् न स्वाप्नजागराविशेषाविरोधः।

जीवेश्वरयोरुभयोरपि हि गौडपादकारिकाया अद्वैतप्रकरणोक्तरीत्या घटाकाशमहाकाशयोरिवौपाधिके भेदेऽपि स्वरूपतोऽभेद एव। तदुक्तमद्वैतप्रकरणे–

"आत्मा ह्याकाशवज्जीवो घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवः सुखादिभिः॥
रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र हि।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥
नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनस्तथा जीवो विकारावयवौ तथा॥
सङ्घाताः स्वप्नवत्सर्व आत्ममायाविसर्जिताः।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते॥
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितः।" इत्यादि।

अनेनेश्वरत्वं जीवत्वं परमात्मत्वञ्च कीदृशमिति प्रश्नोऽपि व्याख्यातः। अनुपहितं चैतन्यं परमात्मा, अज्ञानोपहितं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानविशिष्ट अज्ञानोपाधिधर्मभाग् जीव इति। तथा च विश्वमात्मनि पश्यति जीवः, स एवाज्ञानोपहितः विश्वस्य स्रष्टा, स एव क्षेत्रविविक्तरूपेण ज्ञायमानोऽद्वितीयपरमात्मेति सिद्धम्। तथा चाद्वयात्मसाक्षात्कारवान्, तत्कर्ता, तद्द्रष्टा चात्र विवक्षितो व्याख्यातः। तेन च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रं तद्विविक्तात्मस्वरूपञ्च व्याख्यातं भवति। स्वाप्नजागरयोर्भेदेऽपि व्यष्टिरूपेण कर्ता भोक्ता च जीवः, स

राजा विद्वान् स्वसामर्थ्यादीश्वरोऽयमितीर्यते।।२०।।

ज्ञानक्रिये शिवेनैक्यात् सङ्क्रान्ते सर्वजन्तुषु।

ईश्वरत्वञ्च जीवानां सिद्धं तच्छ्रुतिसङ्गमात्[१]।।२१।।

ज्ञानस्य स्वयम्प्रकाशता

अयं घटोऽयं पट इत्येवं नानाप्रतीतिषु।

एव समष्टिरूपेण कर्ता भोक्ता चेश्वर इतीश्वरसृष्टत्वमात्रेण स्वाप्नानां जागरवैधर्म्यस्याशङ्काऽपि परास्ता।।१९।।

तदिदमभिप्रेत्याह– **यद्यत्करोती**ति। तथा च जीवस्य राजत्वविद्वत्त्वसर्वेश्वरत्वप्रसिद्धिरपि जीवेश्वरयोरभेदं साधयति। व्यक्तं चैतद्भगवद्गीताविभूत्यध्याये–

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।" इति।

मनुष्यावताराणां श्रीरामकृष्णादीनामीश्वरत्वमपि तत्सामर्थ्यवशादेव सर्वैरनुसन्धीयते।

किं बहुना–

"ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।"

इति सर्वात्मत्वं परमात्मनः प्रतीयत इति युक्तमनुसंहितम्– 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्' इति।।२०।।

तत्र मायोपहितस्यैव सर्वकारणत्वात् तदुभयात्मत्वप्रयुक्तमेव विश्वस्य ज्ञानक्रियाशक्ती अपीत्याह– **ज्ञानक्रिये** इति। तच्च निःसङ्गमासङ्गमात् 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थः। जीवस्यान्तःकरणोपहितस्यापि स्वतो ज्ञानरूपत्वमौपाधिकं च कर्तृत्वमिति भावः। किं बहुना–

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र सत्ता न भासते।
सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ज्ञानरूपे व्यवस्थिते।।"

'तदनुप्रविश्य' इत्यादिवचनात् जडानामपि तत्तदवच्छिन्नचैतन्याभिन्नचैतन्यभास्यत्वेनैव ज्ञानं तत्तदर्थक्रियाकारित्वं वा। तदिदमभिप्रेत्याह–**ईश्वरत्वञ्चे**ति।

तत्रायं विशेषः– चिन्मात्रस्य वृत्त्याऽऽवरणनिवृत्तिमात्रेण स्वप्रकाशत्वम्, घटादीनां तु वृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिचैतन्याभिन्नस्वावच्छिन्नचैतन्यभास्यत्वेन स्वप्रकाशत्वम्। इदमेवाभिप्रेत्योच्यते–

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशार्थं वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते।।"इति।

वृत्तिव्याप्यत्वं वृत्तिप्रयुक्तावरणराहित्यम्।।२१।।

तदिदं सर्वमभिप्रेत्याह–**अयमि**ति। घटादीनां सच्चिदात्मन्यध्यासात् सूर्यप्रकाशेनेव तत्तदधिष्ठानचैतन्यसत्ताप्रकाशेनैव सन् घटो भातीत्यादिप्रत्ययाः। तत्र घटादिप्रतीतावपि ब्रह्मभानेऽपि तज्ज्ञानेन तत्तद-

१. तच्छक्तिसङ्गमात्–इतिरामतीर्थादिसम्मतः पाठः।

अर्कप्रभेव ज्ञानं तत् स्वयमेव प्रकाशते।।२२।।

ज्ञानं न चेत् स्वयंसिद्धं जगदन्धं तमो भवेत्।

न चेदस्य क्रिया काचिद्व्यवहारः कथं भवेत्।।२३।।

वच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानविषयकत्वमेव तत्तत्प्रतीतिकाल एव नश्यति, न तु सर्वात्मनाऽज्ञानमपि। आनन्दात्मनाऽपि ब्रह्मस्वरूपस्य तदाऽभानाभावेन, इति न तदा ज्ञानाज्ञानविभागशून्याखण्डाकारब्रह्मज्ञानम्, इति न घटज्ञानादेव तत्रापि ब्रह्मभानेऽपि मोक्षापातः। तथा च 'सन् घटः''सन् पटः'इत्यादिप्रतीतिषु सदात्मनः, चिदात्मनो वा सर्वत्रानुवेधात् घटादीनाञ्च प्रतीत्यनन्तरव्यावृत्तत्वाच्च ब्रह्मात्मतैव परमार्था, न तु घटाद्यात्मतेति सिद्धम्। अत एवानुमानम्–'सत् परमार्थं अनुवर्तमानत्वात्' 'घटादिकं मिथ्या व्यावर्तमानत्वात्' इति। व्यक्तञ्चैतत्–

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"

इत्यत्र, शतभूषण्याञ्च[१]। अयं चार्थः 'विश्वं माययाऽऽत्मनि पश्यति'इत्यनेन ज्ञाप्यते, इति तदुल्लासार्थं मानसोल्लासः। अत्र स्वज्ञानमित्यनेन तत्तद्घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यमेव विवक्ष्यते। तथा च चैतन्यस्यैव घटादिज्ञानेऽप्यज्ञाननिवृत्त्या साक्षाद् भानम्, घटादीनां तु तदवच्छेदकतया। किं बहुना? अन्तःकरणवृत्तेरेव साक्षादज्ञाननिवर्तकत्वेऽपि ज्ञानत्वं स्वावच्छिन्नचैतन्यावच्छेदकत्वेनैव, यथार्कप्रभयैव घटादिप्रभाव्यपदेशः, घटादीनां चैतन्याध्यस्तानां नानात्वेऽपि सर्वाधिष्ठानं चैतन्यमेकमेव। ततश्चोक्तचैतन्यतादात्म्यं विना न घटादेर्जडस्य प्रकाश उपपद्यते, वृत्तेर्वेति निष्कर्षः।।२२।।

तदिदमाह– **ज्ञानं न चेदिति।**

एतेन– 'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशाऽनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् यथा घटादिः। न चाप्रयोजकत्वं; अनुभूतेरप्यनुभाव्यत्वे घटादिवज्जडत्वापत्तिर्घटादेरनुभूतित्वप्रसङ्गो वा'[२] इत्यनुमानमपि व्याख्यातम्।

अत एव 'नचेदन्धं तमो' घटादिः स्यादित्युक्तम्, स्वप्रकाशत्वाभावेऽनुभूतेरप्यन्धतमस्त्वापातः, अन्यथा प्रकाशकान्तराङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिः, वृत्तेस्तु न प्रकाशकत्वम्, तस्याः स्वयंप्रकाशत्वाभावादिति व्याख्यातम्। इदमात्मनि पश्यतीत्यंशेन विवक्षितम्– आत्माधीनप्रकाशं विश्वमिति। अयमेव न्यायः क्रियायामपि। क्रिया हि नाम घटादेरात्मविवर्तस्य सम्बन्धःसत्तया[३], ततो विवर्तत्वमात्मनो मायाविषयत्वेन, परिस्पन्दश्च सत्तासम्बन्धेन। तथा च विश्वं मायया ब्रह्मविवर्तः, तत एवाधिष्ठानसत्तया सदपि। अनेन–

"अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारः प्रवर्तते।
तत्रास्तित्वं प्रकाशत्वं कस्मिन्नर्थे प्रतिष्ठितम्।।
किं तेषु तेषु वाऽर्थेषु किं वा सर्वात्मनीश्वरे।"

१.द्रष्टव्या-शतभूषणी, पृ.५८-६५।

२. इदमनुमानं चित्सुख्यादौ बहुधाऽन्यत्र च किञ्चित्परिवर्तनेनोपन्यस्यतेऽनुभूतेः स्वप्रकाशत्वसाधनाय।

३. जन्मना इति हस्तलेखे पाठः।

ज्ञानक्रिययोरभेदः

क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत्॥२४॥
उत्पाद्यप्राप्यसंस्कार्यविकार्योपाश्रया क्रिया।

इत्युत्तरितं भवति॥२३॥

अत्र क्रिया परमात्मनः परिस्पन्दः परिणामो वा। तत्र परिणामपदेन विवर्तता विवक्ष्यते, यथा 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यधिकरणे 'आत्मकृतेः परिणामात्' इत्यत्र परिणामपदम्। व्यक्तञ्चैतद् ब्रह्मसूत्रभाष्यव्याख्यायाम्। वार्तिकमिदं सत्ताया अस्तित्वस्याप्युपलक्षणम्। ब्रह्मविवर्तत्वाद् ब्रह्मवद् भाति तद्वदिवास्तीति भावः। एतेन 'बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया'इति व्याख्यातम्। तदाह– **क्रिया नाम** इति।

अत्राङ्कुरवदिति दृष्टान्तेन 'बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदम्' इत्यनन्तरश्लोकार्थः प्रत्यभिज्ञायते। तेन च बीजस्य भेदने किमपि यथा न दृश्यते, तथापि तदङ्कुरादिरूपेण दृश्यते, एवमत्राप्यविद्यमानमेव विश्वं सद् ब्रह्मणो विवर्त इति ज्ञाप्यते। तेन च नासत्कार्यवादः, परिणामवादो वाऽत्र विवक्ष्यते, किन्तु सद्विवर्तवाद एवेति पूर्वोक्तगौडपादकारिकातः सिद्धो भवति। अत्र ब्रह्मणः सद्रूपस्य विवर्तवत् न सत्तासम्बन्धः, ज्ञानसम्बन्धो वा चिद्रूपस्य, तेन नोत्पाद्यत्वं, प्राप्यत्वं, विकार्यत्वं, संस्कार्यत्वं वा वृत्तिरूपप्रमाणतन्त्रज्ञानाख्य-क्रियासम्बन्धेऽपि, किन्तु विश्वस्यैव। अतो विश्वं पश्यतो ज्ञेयत्वं बिम्बस्यैव, यदिवोद्भूतमित्युक्तत्वादिति। उत्पाद्यत्वं चात्र विवर्तत्वमेव। अतो विवर्तस्य परस्पराध्यासरूपत्वात् ब्रह्मसंसर्गाध्यासेन विश्वस्यो-त्पाद्यत्वादावपि विश्वस्येव विश्वसंसर्गाध्यासस्याप्यध्यासेऽपि न ब्रह्मणः सच्चिद्रूपस्योत्पाद्यत्वादि। व्यक्तं चैतत् समन्वयसूत्रभाष्ये भगवत्पादीये। तत्र परस्पराध्यासेऽधिष्ठानांशस्य संसर्गाध्यास एवेत्यत्र प्रमाणं तु–

"ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥" इति।

स्मृतिरपि–

"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" इति॥२४॥

अनेन च 'आत्मनि विश्वं पश्यति' इत्यस्य विवर्तविधयाऽऽत्मनि विश्वाध्यासात् विश्वं आत्मसंसर्गाध्यासेनेति प्रतिपाद्यते। तत्प्रयोजनं तु आत्मनि विश्वस्य सत्तादात्म्येन सत्त्वेऽपि 'न च मत्स्थानि भूतानि' इति, स्मृत्यधिष्ठानेऽभावेन विश्वमिथ्यात्वात् नात्माप्यसदिति ज्ञायते, इति ज्ञाप्यते। तथा चाद्वयत्वमात्मप्रपञ्चस्य, इत्यात्मनि विश्वमात्मानमित्यनयोर्न व्याघातः। तदेतत् सर्वं मनसि निधायाह– **उत्पाद्येति**।

इदमेवाभिप्रेत्य समन्वयसूत्रभाष्यम्– 'तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपलक्ष्यते'[१] इति। एतदाशयस्तु न केवलं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म, किन्तु तद्विषयाज्ञाननिवर्तकान्तःकरणवृत्तिरपि

१. 'तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते' इति ह्यत्र भाष्यमाचार्याणाम्।

करोति गच्छत्युन्मार्ष्टि छिनत्तीति प्रतीयत।।२५।।
शिवो ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञ इति भासते।
देवतिर्यङ्मनुष्येषु किञ्चिज्ज्ञस्तारतम्यतः।।२६।।
जरायुजोऽण्डजश्चैव स्वेदजः पुनरुद्भिदः।
एते चतुर्विधाः देहाः क्रमशो न्यूनवृत्तयः।।२७।।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता स्वप्नकल्पैव कल्पना।

प्रमाणजन्यैव न चोदनातन्त्रेति ज्ञाप्यते। स्पष्टञ्चैतन्मण्डनप्रस्थाने ब्रह्मसिद्ध्यादौ विवरणप्रस्थानेऽद्वैतसिद्ध्यादावुपन्यस्यते। ततश्च— 'यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये'इत्यनेन साक्षात्क्रियमाणत्वमद्वयस्यात्मनोऽत्र प्रतिपादितमप्युपपद्यते।।२५।।

अत्रायं प्रश्न उत्तिष्ठति— यः साक्षात्कुरुते इत्यत्र यच्छब्दार्थः स्थितप्रज्ञो गुरुर्जीवो वा ईश्वरो वा? आद्ये नायमीश्वरस्य दक्षिणामूर्तेः स्तवः, द्वितीये स्थितप्रज्ञस्य जीवस्याभिनयो नोपपद्यते इति। कथमस्येश्वरस्य सतो गुरोर्दक्षिणामूर्तेः स्तवः। अथ यदि दक्षिणामूर्तेरीश्वरस्यैव सतः स्तवः, तर्हि कथमात्मानमद्वयमित्युपपद्यते इति शङ्कावारणार्थमाह— **शिव** इति।

अनेनेश्वरस्यैव समष्टिजीवरूपस्य व्यष्टिसमष्ट्योरभेदाद् ब्रह्मादिरूपत्वं,सर्वजीवात्मस्वरूपत्वम्। किं बहुना? निर्विशेषसंविन्मात्रत्वमपि, तत्रोपाधिमात्रतो भेदः, न तु स्वरूपभेदः। यथा—

"न त्वेवाहं जातु नासं न च त्वं नेमे जनाधिपाः।"

इत्यत्र 'त्वमहमादिभेदाद्देहाद्युपाधिमात्रेण संविद्रूपमात्रजन्यभेदः' इति भगवत्पादानां भाष्यम्। तथा च स्थितप्रज्ञरूपेण गुरुरपि तथाभिनयेनेश्वरोऽपि, विगलितोपाधिसंविन्मात्ररूपेणाद्वयोऽपि, दक्षिणामूर्तिरूपोऽपि इति प्रकृतश्लोकोपसंहारः। सर्वतोगतस्य 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने'इति श्लोकस्यांशोऽपि व्याख्यातः। ब्रह्मादिः सर्वोऽपि शिवरूपी दक्षिणामूर्तिरिव। स चाद्वितीयात्मस्वरूप एव। यथा भगवद्गीतायां श्रीकृष्ण इति भावः।।२६।।

न केवलं ब्रह्मादिदेहेषु देवतिर्यङ्मनुष्येषु वा किन्तु जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिदेषु चतुर्विधेष्वपि तारतम्येन शिवस्याभिव्यक्तिरित्याह— **जरायुज** इति।।२७।।

एतेन ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः सर्वे ईश्वरसृष्टा एव विश्वपदार्थः इति सूच्यते। वस्तुतस्तु न ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः ईश्वरसृष्टा एव विश्वशब्दार्थः, किन्तु जीवसृष्टा स्वाप्निकाः अपि पूर्वोक्तरीत्योभयेषामभेदाद्वा ईश्वरसृष्टत्वजीवसृष्टत्वयोरप्यविशेषादिति सूचयन् ईश्वरसृष्टानामपि स्वाप्नतुल्यत्वकल्पनैवेत्याह— **ब्रह्मादिस्तम्बे**ति।

जागराणामीश्वरसृष्टानामपि स्वप्नतुल्यत्वोक्तिः तुरीयादिस्थितप्रज्ञभूमिकारूढदृष्टौ वा साऽपि समाध्यवस्थायामेव, न तु, समुत्थानदशायाम्। स्वप्नतुल्यत्वं चेदं समाधिदशायामात्मव्यतिरेकेणाभावदृष्ट्या,

साक्षात्कृतेऽनवच्छिन्ने प्रकाशे परमात्मनि॥२८॥

अणोरणीयान् महतो महीयान् इति वेदवाक्।

अभ्युत्थानदशायां तु भरतादिवत् मिथ्यात्वेन निर्णयादनभिनिवेशमात्रेणेति विशेषः।

तमिमं विशेषमाविष्कुरुते–**अनवच्छिन्नप्रकाशे परमात्मनि साक्षात्कृत** इति। तदेतत्–

"ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥"इति॥२८॥

प्रथमतः श्लोकार्थमुपसंहरिष्यन् प्रथमश्लोकार्थं निष्पीडितं सङ्गृह्णाति–**अणोरणीयानि**ति।

अत्रा**णोरणीयानि**त्यनेनाद्वितीयत्वं प्रपञ्चसम्बन्धशून्यत्वमखण्डाकारसाक्षात्कारदशामभिप्रेत्य, **महतो महीयानि**त्यनेनापि साक्षात्कारानन्तरं सर्वोपाधिबाधेनौपाधिकभेदनिबन्धनपरिच्छिन्नत्वबाधेनानवच्छिन्नत्वदशामवलम्ब्य।

तत्र 'अणोरणीयान्' इतिप्रपञ्चसम्बन्धायोग्यतामुपवर्ण्य, 'महतो महीयान्' इत्युपाधिबाधप्रयुक्तापरिच्छिन्नताबाधोऽव्याहत इत्यत आह–**रुद्रोपनिषदे**ति।

इयमत्र रुद्रहृदयोपनिषत्–

"श्रीरुद्ररुद्ररुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः।
कीर्तनात् सर्वदेवस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रो यज्ञ उमा वेदिस्तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रो वेद उमा शास्त्रं तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रो गन्ध उमा पुष्पं तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रोऽर्थोऽक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः॥
रुद्रो लिङ्गमुमा पीठं तस्मै तस्यै नमो नमः।
सर्वदेवात्मकं रुद्रं नमस्कुर्यात् पृथक् पृथक्॥"

इति सर्वदेवात्मकत्वं प्रक्रम्य 'सत्यवद्भाति तत् सर्वं रज्जुसर्पवदास्थितम्' इति तस्य जगतो रज्जुसर्पवदसत्यत्वबोधनात्सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वयोरविरोधः प्रदर्श्यते। ततश्च 'अणोरणीयान्' इति

रुद्रोपनिषदप्येवं स्तौति सर्वात्मकं शिवम्।।२९।।

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।

व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।३०।।

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

परविद्याप्रस्तुतादृश्यत्वादिनिरूपणम्। 'महतो महीयान्' इति सर्वोपाधिकत्वेन सर्वात्मकत्वं तत्तद्बुद्ध्या च सर्वबाधेन महतो महत्त्वं व्यापकत्वात् प्रतिपाद्यते। तत्र महत्त्वं सर्वोपाधिकत्वेन, महतो महीयस्त्व-मनवच्छिन्नरूपेण विवक्ष्यते। अत एव श्रुतिः– 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति, अतो न व्याघातलेशोऽपि।।२९।।

तदेवं– 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी' इति श्लोकेन ईश्वरत्वं, जीवत्वं, द्वैततत्त्वं, तस्यास्तित्वप्रकाशत्वादि, स्वाप्नजागरतुल्यत्वं, स्थितप्रज्ञावस्थाभूमिकास्वरूपनिष्कर्षः, आत्मतत्त्वं, तस्याद्वयत्वं, गुर्वीश्वरात्मना गीतायामिवैक्यं, मानसोल्लासस्य गौडपादकारिकामूलत्वादिकं सर्वं निर्धारितम्। अतः मङ्गलादीनि मङ्गलान्तानीति नीतिमनुसृत्य नमस्क्रियावस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमातनुते– **ईश्वरो गुरु**रिति।

वस्तुनिर्देशात्मकत्वादादिमङ्गलत्वमप्यस्य युक्तमिति प्रथममेवायं श्लोको व्याख्यातः। तत्रेश्वरत्व-मज्ञानोपहितत्वेन कारणत्वात्,गुरुत्वं स्थितप्रज्ञावस्थामारुह्योपदेष्टृत्वेन, तत्र जीवत्वाभिनयोऽपीति कृत्वा स्थितप्रज्ञावस्थाभिनयोऽपि तस्येश्वरस्यापि सतः श्रीकृष्णस्येव परिच्छिन्नत्वभ्रमो मा भूत्, एवं प्रतिपाद्यात्मतत्त्वं च स्यादिति सूचयितुं वस्तुगतिमनुसृत्याह–**व्योमवद्व्याप्तदेहाये**ति। अत्र देहपदं स्वरूपमात्रपरं, अद्वयात्मनः सदेहत्वव्याघातादिति भावः।।३०।।

अत्र प्रथमश्लोकव्याख्यामुपसंहरति-**इति श्रीदक्षिणामूर्तिश्लोकार्थप्रतिपादके**ति।

अत्राद्वितीयात्मतत्त्वं प्रत्यक्स्वरूपं प्रतिपाद्यम्।

अत्रामरनाथप्रभृतयः[१]– श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रं मानसोल्लासश्च न भगवत्पादानां तदनुयायिनां वा, किन्त्वभिनवगुप्तस्य प्रत्यभिज्ञादर्शनप्रवर्तकस्य तदनुयायिनः कस्यचन वेति वर्णयन्तः–स्तोत्रस्यास्य विषयः प्रत्यभिज्ञादर्शनं, न त्वद्वैतवेदान्तदर्शनम्। पुनः कारणानि कानिचन सङ्गृहीतानि। तत्र प्रत्यभिज्ञादर्शनमेवास्य दर्शनस्य लक्ष्यमित्यत्र प्रथमश्लोके, तदुल्लासे च प्रत्यभिज्ञादर्शनसिद्धान्ता एव सङ्गृह्यन्ते। ते यथा– अयं हि– 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्' इति श्लोकमधिकृत्य विचारावसरे स्वमतोपबृंहणार्थं प्रथमं 'विश्वम्' 'यथा निद्रया' 'यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये' इति पदानां प्रत्यभिज्ञादर्शनाभिमते विवरणे परमार्थसारस्य–

'दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।

भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च।।

१.अत्र हि सी. मार्कण्डेयशास्त्रिमहोदयानां आर.बी.अमरनाथ रायमहोदयानाञ्च मतमस्ति–यत् मानसोल्लासो दक्षिणामूर्तिस्तोत्रञ्च न स्तः सुरेश्वराचार्यशङ्कराचार्ययोः कृती। किन्तु उभावपि ग्रन्थौ प्रत्यभिज्ञादर्शनस्य कस्यचिदाचार्यस्य कृती स्तः। आर.बी. अमरनाथमहोदयानामालेखोऽस्मिन् विषये चर्चितः 'Dakṣiṇāmūrti Hymn and The Mānasollāsa' इतिनामकः। अत्र विषये विशेषतः विवेचनं सी.मार्कण्डेयशास्त्रिमहोदयानां 'Sureśvara's contribution to Advaita' अभिधे ग्रन्थे द्रष्टव्यम्।

प्रबन्धे मानसोल्लासे प्रथमोल्लाससङ्ग्रहः।।३१।।

।।इति श्रीमानसोल्लासे प्रथमोल्लासः।।

विमलतमपरमभैरवबोधात्तद्वद्विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।।
मय्येव भाति विश्वं दर्पण इव निर्मले घटादीनि।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात्।।
अहमेव विश्वरूपः करचरणादिस्वभाव इव देहः।
सर्वस्मिन्नहमेव स्फुरामि भावेषु भास्वरूपमिव।।' इति श्लोकान्;
'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति।।' इति स्पन्दकारिकासु तद्विवरणं चावलम्बते।

तत्र परमार्थसारप्रथमश्लोकव्याख्या– यथा निर्मले मुकुरान्तर्गते नगर-ग्राम-पुर-प्राकार-अट्टस्थल-नद-नदी-ज्वलन-वृक्ष-पर्वत-पशु-पक्षि-स्त्री-पुरुषादिकं सर्वं प्रतिबिम्बतया चित्रं स्वालक्षण्येन नानारूपं भासते। अविभागेन दर्पणादविभक्तं सद् भाति, तदभेदेन वा नानाकारं समर्पयति। तत्ताभेदेन भासमानमपि भाति , विभागेनैव च परस्परमिति=अन्योन्यस्य लक्षणेन 'घटात् पटो भिन्नः' 'पटाद्भिन्नो घटः' इति विविक्ततया स्फुरति। तदन्तर्गताः भावा एव पृथक्त्वेन परामृश्यन्ते, न तु तं दर्पणं त्यक्त्वा पृथक् किञ्चिदुपलभ्यते, किन्तु दर्पणसान्तरस्थेन स्थितमपीति सर्वतो भिन्नं जगत्प्रतीयते। तद्वत् तथैव दर्पणनगरादिदृष्टान्तेन विमलतमस्य पूर्णानन्दस्य[1] प्रकाशात् जगत् विश्वभावशून्यमपि दर्पणप्रतिबिम्बवत् ततः प्रकाशादविभक्तमपि परस्परं नानारूपं प्रथते। अयं विशेषः– दर्पणे भिन्नं बाह्यमेव नगरादि प्रतिबिम्बत्वेनाभिमते भाति, न तु स्वनिर्मितम्। अतो दर्पणे 'अयं पुरुषः' इति यो निश्चयः सः भ्रान्तः स्यात्, प्रकाशः पुनः स चमत्कारः, स्वेच्छया स्वात्मभित्तावभेदेन विश्वमाभासयति। विश्वस्याभासनमेव प्रकाशस्य निर्मातृत्वमिति।

अयमेवार्थः– मय्येव विश्वमित्यत्रापि श्लोकद्वयेऽपि प्रतीयते, पूर्वत्र प्रकाशाभेद उक्तः, अत्र त्वात्माभेद इति परं विशेषः। तत्र विश्वेऽपरो विशेषस्तु स्वप्नदृष्टान्तः। अत्र मय्येव भाति विश्वमिति वा। तत्र मय्येव भानं सर्वस्यास्मदर्थविश्रान्तं सर्वस्याहंरूपेणैव भानम्। तच्चाहंरूपं चिन्मात्रस्य भावस्य परमशिवस्य स्वस्वातन्त्र्य-माहात्म्यात् परानन्दचमत्कारतारतम्येन प्रथममहमिति शान्तिदशाया(मारूढं)[2] प्रस्फुरति, अनन्तरमहमिद-मित्यादिरूपेण प्रकाशः, इति सर्वस्य चिन्मात्रस्वभावपरमशिवाधीनप्रकाशनम्, न तु स्वभावत इत्यपि। तथा च प्रकृते श्रीदक्षिणामूर्तिप्रथमश्लोकेऽपि दृश्यमाननगरीदृष्टान्तानुसन्धानात्, आत्मन्येव भानस्यापि प्रतिभानवर्णनाच्च प्रत्यभिज्ञानदर्शनमेव प्रत्यभिज्ञायत इति प्रतिभातीति श्रीमदमरनाथादयः।

तदिदं सर्वं न साम्प्रतं प्रतिभाति– तथाहि तत्र प्रत्यभिज्ञानदर्शने दर्पणनगरीदृष्टान्ते एकत्र भ्रमः, दार्ष्टान्तिके तु प्रमा न भ्रान्तिरिति व्यवस्थापितम्, स्वप्नदृष्टान्तोऽप्यहम्भावानुवृत्तावेव सर्वत्र, न तु सर्वस्य मिथ्यात्वे। न

१.अत्र पाठत्रुटितः।

२.अत्र पाठत्रुटितः।

चातः स्वप्नेन निश्चयः[१], अन्यत्र मायाया वा बहिर्विदवभासे निमित्तत्वमुक्तम्, शब्दमात्रसाम्यं त्वर्थ-वैषम्ये[२]ऽकिञ्चित्करम्। अतः पूर्वोक्तरीत्या विवर्तवाद एव श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य मानसोल्लासस्य च स्वारस्यम्। विश्वशब्दस्य सदाशिवार्थस्यापरत्र प्रत्यभिज्ञानदर्शने कुत्रचनाप्रसिद्धत्वात[३]। प्रकृतेषु श्लोकेषु कार्यप्रपञ्चस्यैव ग्रहणात् नात्र तदुल्लेखस्य किमपि प्रयोजनम्। अत्र प्रत्यभिज्ञानदर्शने शिवदृष्टौ प्रकाश-मानतामात्रस्य सत्त्वस्य व्यवस्थापनात्, भ्रमस्य सत्ख्यातिरूपतास्वीकारात्[४]। प्रकृते मायिकत्वेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेनानिर्वचनीयख्यातेरेव स्वीकारान्न मायया प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्य सम्बन्धः[५]। शिवोऽहमित्यादि-प्रत्यभिज्ञानं हि माण्डूक्योपनिषदुक्तरीत्याऽभेद एव (सङ्गच्छते)[६] न तु भेदाभेदयोः प्रत्यभिज्ञान-दर्शनाभिमतयोरित्यादि व्यक्तमन्यत्र। अत्र प्रथमोल्लासे मानसोल्लासे नैकाऽपि कारिका प्रक्षिप्तेत्यमरनाथोऽपि मन्यते। अतो न प्रथमस्य श्लोकस्य अभिनवगुप्तः[७] कर्ता तथा न प्रथमोल्लासस्य तदनुयायी कश्चन कर्तेति निष्कर्षः। अत्र श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य स्वयंप्रकाशयतिव्याख्या लघुतत्त्वसुधा, श्रीरामतीर्थकृति-र्मानसोल्लासवृत्तान्ताख्या व्याख्या आपादचूडमनुसन्धीयमाना सर्वानाक्षेपान् सम्यग् निरसितुं प्रभवतीत्यलमत्र विस्तरेण। द्वितीयाद्युल्लासेषु वक्तव्यं तु तत्र तत्रैव व्यक्तीकरिष्यते। प्रबोधसमयस्तु स्थितप्रज्ञानां पञ्चम्यपि भूमिका, महावाक्यजन्याखण्डाकारसाक्षात्कारदर्शिता, न तु बालानां जागरावस्था, तेन नात्मानमद्वयं साक्षात्करोतीत्यस्य विरोधः, स्वाप्नानां मिथ्यात्वं 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इत्यत्र ब्रह्ममीमांसायां व्यक्तम्। यथा स्वप्नरथादिकारणभावेऽपि स्वप्नरथादीनामनुभूयमानानां मिथ्यात्वं स्थाप्यते, यद्दृष्टान्तेन जागराणामपि गौडपादकारिकया मिथ्यात्वं स्थापितम्। प्रत्यभिज्ञानदर्शने तु न जागराणां, न वा स्वाप्नानां मिथ्यात्वम्। स्वप्नदृष्टान्तस्तु तत्रान्तर एव प्रतिभानमात्रेण, अहंरूपेण भानेन वा। न चात्र स्वाप्नानां जागराणां वा तथा भानं प्रतिपाद्यते, इति न तत्साम्यकथाऽत्र दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं विश्वं यथा निद्रया, तथाऽऽत्मनि मायया बहिरुद्भूतमिव पश्यन् यः प्रबोधसमयेऽद्वयमात्मानं साक्षात्कुरुते, तस्मै गुरुमूर्तये श्रीदक्षिणामूर्तये नम इतिपदयोजनात्।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां प्रथमा वर्धिनी।।

१.पाठोऽयं प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसारी, अद्वैतवेदान्तानुसारी वेति स्वप्नदृष्टान्तेन निर्णेतुं न शक्यमित्याशयः प्रतिभाति।

२.अत्रायमाशयः प्रतिभाति– विभिन्नेषु दर्शनेषु विविधानि पदानि विविधेष्वर्थेषु प्रयुक्ताः सन्ति, अतः यद्यत्र केवलं शब्दमात्रसाम्यं विद्यते तर्हि न तेन किमप्यधिकं साधयितुशक्यते।

३.अत्र तु विश्वपदं सदाशिवार्थं बोधयितुं प्रयुक्तमित्यतः दक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य न प्रत्यभिज्ञादर्शनीयत्वं स्वीकर्तुं युक्तम्।

४.प्रत्यभिज्ञादर्शने तावत् सत्ख्यातिःस्वीक्रियते, श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रे मानसोल्लासे च विवर्तवादप्रदर्शनेनानिर्वचनीयख्यातिरेव स्वीकृता विद्यत इति न तयोः प्रत्यभिज्ञादर्शनसाम्प्रदायिकता स्वीकर्तुं शक्यते।

५.गन्धः इति हस्तलेखे।

६.कोष्ठस्थःपाठो हस्तलेखे नास्ति स्पष्टः।

७.नाभिनवगुप्त इतिपाठो हस्तलेखे।

ॐ

अथ मानसोल्लासे
द्वितीयोल्लासः

परमाणुवादोपस्थापनम्

उपादानं प्रपञ्चस्य संयुक्ताः परमाणवः।
मृदन्वितो घटस्तस्माद्भासते नेश्वरान्वितः।।१।।
परमाणुगता एव गुणाः रूपरसादयः।
कार्ये समानजातीयमारभन्ते गुणान्तरम्।।२।।
कार्यं यत्र समन्वेति कारणं समवायि तत्।

प्रथमोल्लासान्ते 'अणोरणीयान्' इति कारणस्याणोरप्यणुत्वं प्रतिपादितम्, तदिदं छान्दोग्ये षष्ठे त्रयोदशखण्डे प्रतीयते। तद्यथा–'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच' इति प्रतिज्ञाय 'न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति, भिन्धीति ...भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति, तं होवाच यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सौम्येषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्येति स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इत्याम्नायते। इयमत्राशङ्का – यदि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति मृत्तिकादृष्टान्ताद् ब्रह्मोपादानं, तर्हि धाना-निदर्शनादणुरपि कथं न जगदुपादानम्। अत्र हि स्पष्टमणव एवादृश्याः जगदुपादानमित्याम्नातम्। अतः परमाणुकारणतावाद एवात्र युक्त इति प्रतीयते, इति वैशेषिकाः नैयायिकाश्च। तामिमामाशङ्कामनुवदति मानसोल्लासः– **उपादानमिति**। तत्र चेतनं ब्रह्म यदि जगत्कारणं स्यात्तर्हि तदारब्धमाकाशादिकमपि चेतनं स्यात्, कारणगुणरूपेण कार्यगुणारम्भो दृश्यते, यथा शुक्लैस्तन्तुभिरारभ्यमाणः पटः शुक्लः, न जात्वसौ कृष्णः प्रभवति। अतः परमाणुगुणान्वयात् परमाणव एवोपादानं भवितुमर्हन्ति।

अयं भावः सूक्ष्मात् खलु स्थूलस्योत्पत्तिर्दृश्यते, यथा तन्तुभ्यः पटस्य, एवमंशुभिस्तन्तूनाम्, एवमपकर्षपर्यन्तं कारणद्रव्यमतिसूक्ष्ममनवयवमवतिष्ठते, स च परमाणुः, तस्य तु सावयवत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽन्तावयवत्वेन सुमेरुसर्षपयोस्समानपरिमाणत्वप्रसङ्गः। तत्र प्रथमं तावददृष्टवत्क्षेत्र-सम्प्रयोगात् परमाणौ कर्म, ततोऽसौ परमाण्वन्तरेण संयुज्य दृश्यमारभते, बहवस्तु परमाणवः संयुक्ताः न सहसा स्थूलमारभन्ते, समानत्वे सति बहुत्वात्, घटोपगृहीतपरमाणुवत्, अन्यथा मुद्गरप्रहाराद् घटादिनाशे न किञ्चिदुपलभ्येत, तेषामारब्धत्वात्। तस्मान्न बहूनां परमाणूनां द्रव्यं प्रति समवायिकारणत्वम्।।१।।

अतो न ब्रह्म जगदुपादानकारणं तदिदं निरूपयति– **परमाणुगता** इति। स्पष्टोऽर्थः। अतोऽद्वैतिनां ब्रह्मकारणतावादो न युक्तः, ते हि ब्रह्म न केवलमुपादानं किन्तु निमित्तकारणमपीति स्वीकुर्वन्ति। न हि

चक्राद्यं साधनं यत्तु घटस्यासमवायि तत्॥३॥
समवायिनि तिष्ठेद्यत् समवाय्याश्रये तथा।
कार्येऽवधूतसामर्थ्यं कल्प्यतेऽसमवायि तत्॥४॥
निमित्तं कारणं तेषामीश्वरश्च कुलालवत्।
यत् कार्यं जायते यस्मात् तस्मिन् तत् प्रतितिष्ठति॥५॥
मृत्तिकायां घटस्तन्तौ पटः स्वर्णेऽङ्गुलीयकम्।
इति वैशेषिकाः प्राहुः तथा नैयायिका अपि॥६॥

निमित्तकारणं चक्रादि घटादिष्वनुवर्तते[1]॥२॥

तत्र कुलालादेश्चक्रादेर्वा घटादावनुवृत्तिमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति– **कार्यमिति। असमवायि=** अननुवर्तमानम्। सति चैवं न ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमपि चैतन्यस्य घटादावनुवेधस्वीकारत्, तथा नोपादानं घटादावननुवर्तमानत्वात्[2]। अथ यदि तस्योपादानत्वनिर्वाहार्थं कार्येष्वनुगतिरङ्गीक्रियते, तस्य निमित्त-कारणत्वायोग इत्युभयतः पाशारज्जुरिति ब्रह्माभिन्ननिमित्तकारणतावादो न युक्तः॥३॥

न च चक्रवद् ब्रह्मासमवायिकारणम्; अतो नानुवृत्तिरिति वक्तुं शक्यम्। अत्र चक्रवदननुवृत्ति-मात्रमसमवायिपदेन विवक्षितम्, न तु तस्यासमवायिकारणत्वेन, असमवायिकारणलक्षणलक्षितत्वस्य चक्रादावसम्भवादिति बोधयति– **समवायिनीति**। तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणम्। न चैवं निमित्तकारणं ब्रह्मासमवायिकारणमपि स्वीक्रियते॥४॥

अत ईश्वरो निमित्तकारणमेवेति स्वीकर्तव्यम्। तच्च परमाणुकारणतावाद एव सम्भवति। सति चैवं यस्माद्यज्जायते, तत् तत्र प्रतितिष्ठति। न च घटादि ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति, मृद् घट इतिवत् चेतनो घट इत्यननुवृत्तेरिति वैशेषिकमतोपसंहारः। तमेतं मानसोल्लासः स्वशब्देन सङ्कलयति– **यत्कार्यमिति। इति वैशेषिकाः प्राहुस्तथा नैयायिका अपीति**। इयं शङ्का न केवलं वैशेषिकाणां किन्तु नैयायिकानामपि इति न पृथङ्नैयायिकमतरीत्या शङ्केयम्। इदं हि 'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपारिमाण्डल्याभ्याम्'इति सूत्रं निरस्य

१.नैयायिकास्तावत् समवायिकारणस्य गुणा एव कार्यगुणोत्पत्तौ कारणीभूताः इति स्वीकुर्वन्ति। तथाहि कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्त इति हि नैयायिकानां राद्धान्तः। अत्रापि विद्यते पिठरवादपीलुपाकवादभेदेन मतद्वैविध्यम्। कुत्रचन पृथिव्यादौ तु पाकवशात् कार्य एव घटादौ पिठरपाकवादिनां मतेन नवीनस्य रूपादेरुत्पत्तिर्भवतीति स्वीक्रियते, पीलुपाकवादिमते तु परमाणावेव पाको भवति। सामान्यतः जन्यगुणास्तावद्द्विविधाः – कारणगुणपूर्वकाः पाकजा वा। पृथिव्यां सामान्यतः पाकजाः गुणाः स्वीक्रियन्ते, कदाचित्तु कारणगुणपूर्वका अपि पटादौ। जलादौ तु सर्वे गुणाः कारणगुणपूर्वका एवेति व्यक्तं कारिकावल्यादौ, तर्कसङ्ग्रहादौ च प्रकरणग्रन्थेषु।

२.अत्रायमाशयष्टीकाकृतः न्यायमतस्यानुवादकः प्रतिभाति– उपादानतास्वीकरणाय निमित्तकारणतास्वीकाराय च उभयथापि कार्यकारणयोर्भेदोऽभ्युपगन्तव्य एव भवति। ब्रह्मणि घटादेरसमवेतत्वाद्ब्रह्मणो घटाद्युपादानता न सम्भवति, यतो हि यत्र कार्यं समवायसम्बन्धेनोत्पद्यते तदेवोपादानं समवायिकारणं वा स्वीक्रियते इति न ब्रह्मणश्जगदुपादानता स्वीकर्तुं शक्या। सद्रूपेण घटादौ ब्रह्मणोऽनुवेधस्वीकाराच्च न ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः, यतो हि निमित्तकारणं तदेव भवति यत् कार्ये न भवत्यनुविद्धः।

साङ्ख्यमतोपक्रमः

रजस्सत्त्वं तमश्चेति प्रधानस्य गुणास्त्रयः।
रजो रक्तं चलं तेषु सत्त्वं शुक्लं प्रतिष्ठितम्।।७।।
तमः कृष्णं चावरकं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः।
इति साङ्ख्याश्च भाषन्ते तेषामुत्तरमुच्यते।।८।।

पूर्वपक्षमनुसृत्य। इदं ह्युल्लासप्रकरणं द्वितीयश्लोकोक्तानुकरणमात्रम्। अत उक्तश्लोकविवरणावसरे स्पष्टीभविष्यति। इदमचेतनकारणतावादस्योपलक्षणम्। अत एव 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रभाष्ये– 'न च यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा, अन्यतः प्रधानादेरचेतनात्, अणुभ्यो-ऽभावाद्वोत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यते' इति भाष्य एव वर्णितम्। 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इत्यत्र च, यत्र तु विशेषेण श्रुत्यारूढोऽणुकारणतावाद इत्याक्षिप्य निरस्यते।।५-६।।

तदेवं 'अणोरणीयान्' इति श्रुत्युपष्टब्धपरमाणुकारणवादस्याभिप्रेतत्वमुपलक्ष्य तन्मतं प्रथममुपस्थाप्य 'महतो महीयान्' इति श्रुत्युपष्टब्धव्यापकप्रधानकारणतावादमप्यन्यत्र निरस्यते, यं पूर्वपक्षत्वेनोपक्षिप्य साङ्ख्यमतमत्रानुवदति। तत्र परमाणुकारणतावादे ईश्वरोऽपि चेतनो निमित्तकारणं स्वीक्रियते। अतो न तत्राप्यात्यन्तिकाचेतनकारणतावादः साङ्ख्यमत इव। अतोऽत्र द्वितीयतया प्रधानकारणतावादस्योपक्षेपः।

अत्राद्वैतमतेन साम्यं तु ज्ञानस्वरूपासङ्गजीवात्मस्वरूपाङ्गीकारेण, मायापरपर्यायप्रधान-परिणामवादस्वीकारेण च। तत्र यद्यपि मण्डनमते सुरेश्वरमते च न माया परिणामिकारणम्, किन्तु ब्रह्मविवर्तमानतामात्रमेव, तथाप्यत्र मायाया आवरणशक्त्यनङ्गीकाराद् ब्रह्मविवर्तवादस्यापि स्वीकाराद् ब्रह्मविवर्तवादस्यापि साङ्ख्यवादो विरोधीति मत्त्वा साङ्ख्यमतनिरासो ब्रह्मसूत्रे, तद्भाष्यादौ मायापरिणामिकारणतावादस्तु कथञ्चन श्रौतादिसाङ्ख्याभिमतो ब्रह्मकारणतावादविरोधित्वात् निरस्यते। एवमपि निमित्तकारणत्वमपि प्रधानस्य साङ्ख्यैर्मन्यते, अद्वैतिभिस्तु ब्रह्मणः, परन्तु प्रधानस्यैव कार्येषु परमाणुकारणतावादोक्तरीत्या चैतन्यस्याननुगमेऽपि प्रधानस्य कार्येष्वेवानुगमात् प्रधानकारणतावादनिरासे सूत्रभाष्ययोः प्रवृत्तिः। तत्र प्रधानवादस्य श्रुतिमूलत्वम्, क्वापि च स्मृतिमूलत्वम्, युक्तिमूलत्वञ्च वर्तते, इति वेदवर्णितमहिमत्वात् कपिलस्य तत्र तत्र विश्वासं भाविनमुत्पश्य प्रधानमल्लनिर्वहणन्यायेन निरासो भाष्ये मन्यते। अतस्तन्मतमप्यत्रोपक्षिपति निरासार्थं – रज इति।

तेषामिति। परमाणुकारणतावादिनामपीत्यर्थः। अयमपि सद्विद्याप्रतिपादितत्वात्श्रौत एवेति शङ्कामुपलक्ष्यात्र तस्य दूषणम्। तथा च भाष्यं भगवत्पादानां 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्'इति सूत्रे– 'ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तम्, किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरणेन? बाढमेवम्। तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति साङ्ख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलक्ष्य भवेत् केषाञ्चिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा (इत्यतस्तदसारतो-पपादनाय प्रयत्यते)।

न्यायसाङ्ख्यमतयोर्निरासः

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुनः
मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।२।।

ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः' इति च पूर्वत्रापि साङ्ख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति? तदुच्यते; साङ्ख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तावाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते'[1] इति। अतोऽत्र साङ्ख्यमतस्यापि निरास इत्यभिप्रायः।।७-८।।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदमितिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रद्वितीयश्लोकस्य व्याख्या

तदेवं परमाणुकारणतावादप्रधानकारणतावादयोर्निरासार्थं द्वितीयश्लोकः-**बीजस्येति**।

अनेन 'जन्माद्यस्य यतः'(ब्रह्मसूत्र-१-१-२) इति सूत्रभाष्यगतम्-"अस्य= जगतः=नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य, अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य, प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाश्रयस्य, मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य, जगतः, जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्म। न च यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावाद्वोत्पत्त्यादिकं सम्भावयितुं शक्यम्" इति भाष्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते।

देशकालविशेषकलनया देशविशेष एव केषाञ्चनाविर्भावः, कालविशेषकलनात्कालविशेष एव केषाञ्चनाभिभवाः, तत्प्रयुक्तेन वैचित्र्येण मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपता जगतः तत्तद्धर्मादिवशात् कञ्चन सर्वज्ञं कर्तारं, एवं सर्वजगतोऽसद्वैलक्षण्येनैकसत्स्वरूपानुवेधेनाविर्भावः। तत्र सदात्मना, केषाञ्चन केवलचिदात्मना सुखादीनां प्रातिभासिकानाम्, केषाञ्चन सच्चिदात्मना प्रादुर्भावः, सुषुप्तौ तु केवलमानन्दात्मनैव प्रकाशः। स्थितप्रज्ञानां भाव्यमानप्रकाशेनानन्दः, अन्येषाञ्चानात्ममात्रप्रकाशेनानन्द इत्यादि कथमिति चिन्तयितुमशक्यं सच्चिदानन्दात्मनो ब्रह्मण एवोपादानत्वम्, तस्यैवाज्ञानोपहितस्य कर्तृत्वं विना च।

तत्र परमाणुकारणतावादनिरासो बीजस्यान्तः कस्यचिद्दर्शनेऽप्यणोरणीयसोऽत्यन्तसूक्ष्मतत्त्वस्य ब्रह्मण एव कारणत्वमवगमयति, न तु परमाणोः, परमाणोरणीयद् ब्रह्मेत्यतः, ततोऽपि महीयान्, अणुरणुरेव, न तु महान्, अन्यथा घटादेः कार्यजातस्याप्यणुकारणत्वेऽप्रत्यक्षत्वमेव स्यात्, न महतो न्यग्रोधस्येव प्रत्यक्षत्वम्। अत एव महतो द्रव्यस्य फलाहरणपरीक्षणादिप्रत्यय उत्पद्यते। अतः श्रुतावणुशब्दो न परमाणुपरः, सर्वत्र कारणस्वरूपविचारप्रसङ्गेऽणुशब्द आत्मसत्तासमानाधिकरण एव प्रत्याम्नायते। तद्यथा 'अणोरणीयान्' इति वाक्यशेषः- 'आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' इति। ब्रह्मवल्ल्यां 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इतिवत्, सद्विद्यायामपि- 'स एषोऽणिमा तत्सत्यमित्यनन्तरम्-स आत्मा' इति। अयमेव न्यायः प्रधानकारणतावादेऽपि।

१.ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-२-२-१

अस्याभिप्रायः–

सच्चिदनुवेधः

अङ्कुरादिफलान्तेषु कार्येष्वस्तित्वमिष्यते।
कुत आगत्य सम्बद्धाः वटबीजेषु ते कणाः॥९॥
कारणान्तर्गतं कार्यमिति सर्वैश्च सम्मतम्।

सम्यगिदं ब्रह्ममीमांसायामीक्षत्यधिकरणे परीक्ष्य निर्धारितम्। बीजस्यान्तरिदं व्यज्यते जगदिव निर्विकल्पकमिदं तया निर्वक्तुमशक्यमासीत्। पुनर्मायावशाद्व्यक्तरूपमिति ज्ञाप्यते, इदं च परमाणौ जगतोऽन्तः सत्त्वस्यारम्भवादे वैशेषिकाभिमतेऽसम्भवात् परमाणुकारणतावादं वारयति। सोऽपि तत्र व्यक्तीभावः परमात्मनः सङ्कल्पवशादेव सदात्मना निर्वक्तुमशक्येन न वाऽसदात्मना[१], 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः। स चायमाविर्भावः क्वचित् क्रमशः, कुत्रचन युगपच्च, क्वचिन्मायाविन इव इति नात्र परमाणुकारणतावादो न वाऽचेतनप्रधानकारणतावाद इति भावः।

अमुमर्थं विशदयति मानसोल्लासः– **अङ्कुरादी**ति।

अत्र **कुत आगत्य सम्बद्धा** इत्यनेन परमाणूनां परस्परसंयोगो न स्वतः, न वाऽदृष्टवदात्मसङ्गवशात्, ईश्वरेच्छावशाद्वेति भाष्योक्तपरमाणुकारणतावादनिरासः सूचितः। **कणाः** इत्यनेन 'अस्य न्यग्रोधफलमाहर' इत्यादिछान्दोग्यवाक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते। इदं हि स्थूलस्य कार्यस्य सूक्ष्ममुख्यकारणत्वमिति शङ्कावारणार्थमिति विवृतम्। सूक्ष्मं चात्र सदेवेति वाक्यं प्रस्तुतस्वरूपमेवेति प्रकरणेऽस्मिन् व्यक्तम्। इदञ्च परमाणुकारणवादे न युक्तम्, नतरां व्यापकप्रधानकारणतावादे॥९॥

अथ चैतन्यांशस्याननुगमात् ब्रह्मकारणमिति शङ्कावारणार्थमाह– **कारणान्तर्गतमि**ति। ब्रह्मकारणतावादो हि 'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दाद्' इतिसूत्रेण कार्यवैलक्षण्यात् कारणधर्मचैतन्यस्य जगत्यनुवर्तनान्न युक्त इत्याशङ्क्य 'दृश्यते तु' इति सिद्धान्तसूत्रेण समर्थितः। तत्र हि कार्यकारणयोरुपादानोपादेययोः सादृश्यनियमो नास्ति, बहुशो व्यभिचारादिति परमाणुकारणतावादमभ्युपगम्यापि ब्रह्मकारणतावादः समर्थितः। सद्विवर्तवादे तु नास्याः शङ्काया उत्थितिः । वस्तुतस्तु ब्रह्मोपादानतावाद एव ब्रह्मगुणानुवृत्तिः कार्येषु युज्यते, सत्ताभानयोः ब्रह्मगतयोरेव कार्येऽनुगमात्। न हि ब्रह्मसत्तातिरिक्ता प्रपञ्चसत्ता नाम; सत्प्रतीतौ घटादीनां व्यावृत्तत्वात्, सर्वत्र सत एवानुगमाच्चेति व्यक्तम्–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ इत्यत्र।

वस्तुतस्तु प्रधानकारणतावाद एव कारणधर्माणां कार्येष्वननुगमः, समावस्थसत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं हि प्रधानम्, व्यक्तेषु च न सत्त्वरजस्तमसां समावस्थत्वमिति कार्येषु न कारणधर्मानुगम इति तत्त्वम्।

अत्र बीजाङ्कुरादिकथाया निर्देशात् न सर्वत्र कार्येषु कारणगुणा एवानुवर्तन्ते, किन्तु विजातीया अपीति

१.अत्र सङ्कल्पस्य सदसदात्मनाऽनिर्वचनीयता विवक्षिता। वाक्यन्तु दुर्योजम्।

तस्मात् सत्ता स्फुरत्ता च सर्वत्राप्यनुवर्तते।।१०।।

पुष्पे फलत्वमापन्ने क्षीरे च दधितां गते।

विजातीयाः प्रवर्तन्ते गुणा रूपरसादयः।।११।।

कारणं कार्यमंशोऽंशी जातिव्यक्ती गुणी गुणः।

क्रिया क्रियावानित्याद्याः प्रकाशस्यैव कल्पनाः।।१२।।

प्रधानकारणवादनिरासः

चैतन्यं परमाणूनां प्रधानस्यापि नेष्यते।

सूच्यते। तत्र बीजस्याङ्कुरभावे न बीजधर्मा अङ्कुरस्यावस्थान्तरे नाङ्कुरधर्मास्तत्रानुवर्तन्ते। अनेनैव न्यायेन पुष्पधर्माः फले, एवमेव न क्षीरधर्माः दध्नि, किन्तु विजातीया एव रूपरसादिगुणा इति विशदम्।।१०।।

इयमेव कथा परमाणुकारणतावादेऽपि, पीलुपाकवादे परमाणुगतानादिश्यामताया रक्तरूपतापत्तावपि। अतो विलक्षणत्वेनैवोपादानोपादेयभावाशङ्का नावसरमपि लभते इत्याह– **पुष्प** इति। स्पष्टोऽर्थः। मायाकल्पितत्वादङ्कुरादीनां न सालक्षण्यनियमः कार्यकारणयोरिति भावः।।११।।

तदेवं कार्यकारणयोः सालक्षण्यं यत्किञ्चिद्रूपेण, सर्वात्मना वा, सोऽपि नियतो वा, उतात्यन्तमेव वा? इति विकल्पं मनसि निधाय 'कारणान्तर्गतं कार्यम्' इति कारिकया तत्र प्रथमं निरस्य, द्वितीयं 'पुष्पे फलत्वमापन्ने' इत्यनेन निरस्य तृतीयं निरस्यति– **कारणमिति**। अत्यन्तसाजात्ये कार्यकारणभावानुपपत्तिः, किं बहुना कार्यकारणभावेऽपि जातित्वक्रियादित्वादिव्यपदेशकल्पना प्रकाशकल्पना एवेति स्थितेऽननुवर्तनाद् ब्रह्मकारणतावादाक्षेपो न विकल्पसहः साक्षाद्वा परम्परया वा ब्रह्मसत्तयैव सर्वस्य प्रकाशात्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ ब्रह्मणः सर्वतादात्म्यात् सर्वत्रानुगमो ब्रह्मणो वर्तते, प्रधानादेस्तु नैवम्, इत्यननुगमादिति कार्यकारणभावशङ्का प्रधानादिकारणतावादस्यैव प्रतिकूला, न तु ब्रह्मकारणतावादस्येति वैचित्र्यचित्रीकृतो ब्रह्मकारणतावादः 'इदं वैचित्र्यचित्रीकृतम्' इत्यनेन संसूच्यते। अनिर्वचनीयोऽयं कार्यकारणभाव इति भावः।।१२।।

तदेवं ब्रह्मकारणत्वं सत्ताप्रकाशान्वयेनोपपाद्य प्रधाने चैतन्यान्वयेन तस्याचेतनत्वान्न कारणत्वमिति प्रधानकारणवादं निरस्यति– **चैतन्यमिति**।

तत्र–

ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति सम्भवः।।

इति साङ्ख्याक्षेपाशयमाह। तत्रेदं भाष्यम्– 'यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति तन्नोपपद्यते; न हि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात् सत्त्वधर्मो ज्ञानं सम्भवति। ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति, तदपि नोपपद्यते। यदि गुणसाम्ये सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्ति माश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किञ्चिज्ज्ञमुच्येत। अपि च नासाक्षिका

ज्ञानक्रिये जगत्क्लृप्तौ दृश्येते चेतनाश्रये।।१३।।
कालरूपक्रियाशक्त्या क्षीरात् परिणमेद्दधि।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं ज्ञानशक्त्या भवेज्जगत्।।१४।।

ज्ञानभेदाः

ज्ञानं द्विधा वस्तुमात्रद्योतकं निर्विकल्पकम्।
सविकल्पं तु संज्ञादिद्योतकत्वादनेकधा।।१५।।
सङ्कल्पसंशयभ्रान्तिस्मृतिसादृश्यनिश्चयाः।
ऊहोऽनध्यवसायश्च तथाऽन्येऽनुभवा अपि।।१६।।

प्रमाणविषये मतानि

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।

सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्तीति। तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्'(ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्–१-१-५)इति। तत्र क्रियाशक्तिः साक्षात्प्रधानस्यैव ब्रह्मणस्तु मायातादात्म्यादयः तेनैव तथापि ज्ञानशक्तिः प्रधानस्य कथमपि न भवतीति प्रधानकारणतावादोऽयुक्तः। इदञ्च मायावीव योगीव च निदर्शनद्वयेन सूच्यते।।१३।।

रजस्तमस्क्रियाशक्तिर्यद्यपि कालरूपक्रियाशक्त्याऽचेतनेऽपि भवितुमर्हति, ज्ञानशक्तिस्तु ज्ञातृज्ञान-ज्ञेयशक्या चेतनस्यैव भवति नाचेतनस्य प्रधानस्य कारणता युक्ता। योगिनामपि ज्ञानशक्तिरेवंविधैवेत्याह–कालेति। स्पष्टोऽर्थः।।१४।।

तत्र सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणः सर्वप्रपञ्चतादात्म्येन, तदुपाधिमायापरिणामवृत्तिद्वारा वा। तत्राद्ये ब्रह्मणो निर्विकल्पकत्वम्, द्वितीये तु सविकल्पकत्वम्। प्रधानस्य ज्ञानशक्तिः सत्त्वगुणमात्रं न सविकल्पकं निर्विकल्पकं वा; तस्य विषयासम्बन्धात्। अत एव नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनोच्यते। सैव च वृत्तिर्मायाविनः महायोगिनो वेति ब्रह्मवत् प्रधानं न सर्वज्ञमित्याह–**ज्ञानम्**िति। ज्ञानं द्विविधं– निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्च[1]। प्रथमं वस्तुमात्रद्योतकं, द्वितीयं सप्रकारकत्वादिसत्ताद्योतकमिदमित्थमिति बोधकम्। तच्च सत्त्व-गुणमात्रस्यैकमपि न भवति। अतो न प्रधानमचेतनं ज्ञातृतामर्हति।।१५।।

तच्च ज्ञानं सत्त्वरूपपरिणामरूपं सङ्कल्पजं मनोवृत्तिरूपं पुनरनेकधेत्याह– **सङ्कल्प** इति। अत्र भ्रान्तितो निश्चयात्पृथक् स्मृतेरपि निर्देशस्तु तस्यानियमतः प्रमात्वभ्रान्तित्वाभावेन। तत्र सादृश्यं यद्यपि ज्ञानरूपं न भवति, तथापि तस्य ज्ञानद्वारैव भ्रमकारणत्वमिति सूचयितुं तस्य ग्रहणम्।।१६।।

१.नैयायिका अपि ज्ञानस्य द्वैविध्यमेव स्वीकुर्वन्ति– निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन। निर्विकल्पकं ज्ञानं निष्प्रकारकं सविकल्पकं तु सप्रकारकमिति विवेकः। सविकल्पकज्ञाने वस्तु प्रकारविशेष्यसंसर्गविधया ज्ञायते, निर्विकल्पकज्ञाने तु प्रकारतया विशेष्यतया संसर्गतया वा वस्तु न ज्ञायते। निर्विकल्पकीया विषयता चतुर्थी एवैताभ्यो भिन्ना।

अनुमानञ्च तच्चापि साङ्ख्याश्शब्दं च ते अपि॥१७॥

न्यायैकदेशिनो[1]ऽप्येवमुपमानं च केचन।

अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥१८॥

अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा।

सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥१९॥

वैशेषिकपदार्थव्यवस्था

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।

समवायं च काणादाः पदार्थान् षट् प्रचक्षते[2]॥२०॥

तत्र निश्चयं प्रमाणज्ञानं विभजते– **प्रत्यक्षमेकमिति**। अत्र ज्ञानप्रसङ्गात्तत्तद्विभागोऽभिधीयते, वेदान्तसिद्धान्ते सम्भवैतिह्यव्यतिरिक्तानि सर्वाणि प्रमाणानि भाट्टाभिमतानि; 'व्यवहारे भाट्टनयः' इति व्यवस्थापनात्। तथा च यावत्सम्भवं वेदान्तिनः दर्शनान्तरेण न विवदन्तेऽसति वा बाधे इत्युत्सर्गमात्रं सर्वत्र वेदान्तसिद्धान्ते। तत्र वेदान्तिनः केचनोपमानं न प्रमाणमिच्छन्ति, तत्त्वद्वैतिनो न साधु मन्यन्ते, तेन हि साधर्म्यवैधर्म्यज्ञाने भवतो यदा तदा तज्ज्ञानापाये कर्मणि प्रकृतिविकृतिभावादिनिर्णयः। तेन ब्रह्मजगतो वैलक्षण्येन प्रपञ्चमिथ्यात्वनिर्णयः फलं सिद्धं भवति। तत्र चार्वाकमतेऽनुमानादिना सम्भावनामात्रम्, प्रामाण्यन्त्वनुष्ठापकत्वलक्षणं प्रत्यक्षस्यैव। अतो न वेदप्रामाण्यादिः। काणादमते प्रत्यक्षानुमाने प्रमाणम्, तथापि न वेदप्रामाण्यविरोधः, अनुमानविधयोपमानशब्दादीनां सर्वेषामपि प्रामाण्यात्। अतः प्रमाणविभागे शब्दतो विरोधेऽपि न फलतो विरोधः कस्यापि मतस्य। अतस्तत्र मुख्यप्रामाण्याप्रामाण्ये परं विशेषः। तत्र कणादप्रभाकरौ लौकिकशब्दानामनुमानविधयैव प्रामाण्यं मन्येते। तच्च वेदानामपि तथेति काणादाः। प्रभाकरास्तु वेदस्य परमपौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, परन्तु कार्य एव नियोगे, न सिद्धेऽर्थ इति विशेषः। वेदान्तिनस्तु केचन सिद्धार्थेऽपि कार्यान्वितं प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति। अद्वैतिनस्तु सिद्धार्थमात्रेऽपि ज्ञेये परं प्रामाण्यमुररीकुर्वन्तीति व्यवस्था॥१७-१९॥

तत्र वैशेषिकाणां परमाणुकारणवादनिराकरणप्रस्तावात् तन्मतसिद्धान् पदार्थविभागादीन् प्रक्रमते- **द्रव्यमिति**। अत्राभावो न पृथक् पदार्थस्तस्याधिकरणरूपत्वात्, सप्तपदार्थीमते तु सोऽपि पदार्थः, अद्वैतिनस्तु स्वसिद्धान्ताविरोधित्वात् पक्षद्वयमपि समाद्रियन्ते। तत्राद्यपक्षानुसारेण प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य पारमार्थिकत्वम्, द्वितीयकल्पे तु मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वम्। तच्चोभयोरपि दृश्यत्वप्रयुक्तम्। अतो न प्रपञ्चसत्यत्वापातः। मुख्यः पदार्थविभागरूपस्त्वद्वैतिमते पदार्थौ दृग्दृश्यभेदेन द्वावेव। वैशेषिकाणामन्येषाञ्चात्मभेदोऽपि दृग्दृश्य-

१.न्यायभूषणकर्तुः भासर्वज्ञस्येदं मतं भवति। भासर्वज्ञो हि न स्वीकरोत्युपमानस्य स्वतन्त्रप्रमाणताम्।

२.अभावोऽपि स्वीकृतोऽतिरिक्तपदार्थत्वेन प्रशस्तपादानन्तरभाविभिः वैशेषिकैः, कणादसूत्रे प्रशस्तपादभाष्ये च नास्त्यभावस्य सङ्कीर्तनम्। स तु चकारेणानुवर्तितो भवतीति परवर्तिनो वैशेषिकाः।

नव द्रव्याणि भूतानि दिक्कालात्ममनांसि च।
चतुर्विंशतिरेव स्युः गुणाः शब्दादिपञ्चकम्।।२१।।
परिमाणञ्च सङ्ख्या च द्वौ संयोगवियोगकौ।
स्वभावतः पृथक्त्वञ्च गुरुत्वं द्रवता पुनः।।२२।।
परत्वञ्चापरत्वञ्च स्नेहः संस्कार इत्यपि।
धीर्द्वेषसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नकाः।।२३।।
संस्कारस्त्रिविधो वेग इष्यादेर्गतिकारणम्।
दृष्टश्रुतानुभूतार्थस्मृतिहेतुश्च भावना।।२४।।
स्थितिस्थापकता नाम पूर्ववत् स्थितिकारणम्।
आकृष्टशाखाभूर्जादौ स्पष्टमेवोपलक्ष्यते[१]।।२५।।
उत्क्षेपणमवक्षेपः गमनं च प्रसारणम्।
आकुञ्चनमिति प्राहुः कर्म पञ्चविधं बुधाः।।२६।।
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।
परं सत्तैव सर्वत्र तदनुस्यूतवर्तनम्।।२७।।
द्रव्यत्वगुणतेत्यादि सामान्यमपरं तथा।
विशेषाः स्युरनन्तास्ते व्यावृत्तिज्ञानहेतवः।।२८।।

भेदकोटिप्रविष्ट एव। आत्मनोऽपि तन्मते दृश्यत्वात्, दृङ्मात्ररूपत्वाभावात्। तमसोऽप्यतिरिक्तपदार्थत्वं त्वद्वैतिसिद्धान्ते, न तेजःप्रागभावरूपत्वम्। तेन च भावरूपाज्ञानवादे दृष्टान्तसिद्धिः। अत एवाविद्यानुमानेषु प्रागभावव्यतिरिक्तत्वं विशेषणं दीयते। एवमेव सुवर्णस्य तेजःकोटिप्रविष्टत्वेऽपि। शक्तिसादृश्ये अप्यतिरिक्त-पदार्थविवाद्वैतसिद्धान्त इति व्यक्तं तत्त्वप्रदीपिकादौ।।२०।।

तत्र गुणान् विभजते– **चतुर्विंशतिरि**रिति। अत्र स्वभावतः पृथक्त्वञ्चेति विशेषणाद् विभागो भेद एवान्तर्भवतीति मतान्तरनिरासः सूच्यते। अद्वैतिनोऽप्यत्र तन्मतान्तरमेवावलम्बन्ते। सुखं त्वन्तः प्रतिबिम्बितादिभेदभिन्नं द्रव्यमेवाद्वैतमते। व्यक्तञ्चैतत् पञ्चदश्याम्। धीद्वेषादयस्त्वन्तःकरणधर्मा इत्यद्वैतम्, आत्मधर्मा इति तु काणादाः, अन्ये च।।२१-२३।।

तत्र संस्कारान् विभजते– **संस्कार** इति। अत्र त्रिविधस्यापि संस्कारस्य कार्यमपि विभज्य विवेचितम्। स्पष्टोऽर्थः।।२४-२६।।

सामान्यं विभजते– **सामान्यमिति**। सत्तासामान्यधर्ममात्रमखण्डोपाधिरूपं स्वीकुर्वन्ति, नित्यादिरूपम्।

१.एतेषां द्रव्यादीनां गुणादीनां च लक्षणपरिज्ञानाय तर्कसङ्ग्रहादयो न्यायवैशेषिकसम्प्रदायस्य प्रकरणग्रन्थाः द्रष्टव्याः।

रूपस्येव घटे नित्यः सम्बन्धः समवायकः।
कालाकाशदिगात्मानो नित्याश्च विभवश्च ते।।२९।।
चतुर्विधाः परिच्छिन्नाः नित्याश्च परमाणवः।
इति वैशेषिकमते पदार्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।३०।।

साङ्ख्यपदार्थविभागः

माया प्रधानमव्यक्तमविद्याऽज्ञानमक्षरम्।
अव्याकृतं च प्रकृतिः तम इत्यभिधीयते।।३१।।
मायायां ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बानुषङ्गतः।[1]
महत्कालपुमांसः स्युः महत्तत्त्वादहंकृतिः।।३२।।
तामसात् स्युरहङ्कारात् खानिलाग्न्यम्बुभूमयः।

विशेषा अपि तन्मतेऽनन्तपदार्था इति।।२७-२८।।

अत्र समवायस्वरूपं, कालाकाशादिस्वरूपं यथासम्भवं तत्र विभागञ्च दर्शयति– **रूपस्येवेति**। स्पष्टोऽर्थः।।२९-३०।।

अथ साङ्ख्यसिद्धान्तं निरस्य तत्र पदार्थविभागमपि सङ्गृह्णाति– **मायेति**। स्पष्टोऽर्थः।।३१।।

अत्राद्वैतिनामपि त्रिगुणात्मिकायां साङ्ख्याभिमतायां प्रकृतौ प्रधानतत्पर्याये न विप्रतिपत्तिः, किन्तु तस्यावरणशक्तावनिर्वचनीयत्वे च विप्रतिपत्तिः। तत्र तस्यावरणशक्तावनिर्वचनीयत्वे तमःशब्दवाच्यत्वे च परं विशेषः येनावरणशक्तिरपि, इति तत्रैव विप्रतिपत्तिः। अत्र मानसोल्लासो वैयक्तिको विद्वेषो न साङ्ख्यमते किन्तु तत्प्रक्रियाविशेषमात्र इति सूचयन्ननुवादावसरेऽपि साङ्ख्यमतं स्वसिद्धान्ताविरोधेन यथासम्भवं योजयितुमत्र तमोऽविद्याशब्दाभ्यामपि प्रधानं तदभिमतं निर्दिशति।

तत्र 'तदधीनत्वादर्थवत्' इति सूत्रभाष्ये जगतः प्रागभावावस्था प्रधानशब्दनिर्दिष्टा न स्वतन्त्रा, परमेश्वराधीना हि साऽवस्था इति प्रागवस्थां प्रधानमभ्युपगम्य अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्ताशब्दनिर्देश्या माया श्रीर्महाप्रकृतिः क्वचिदक्षरशब्दोदिता; 'अक्षरात् परतः परः' इति श्रुतेः। 'क्वचिन्मायेति शब्द्यते'[2] इति माया, प्रधानं, अव्यक्तं, अविद्या, अक्षरं, अव्याकृतं प्रकृतिरितिपदबोध्येति भगवत्पादैरपि भाषितम्। तेन च साङ्ख्यसिद्धान्तादद्वैतसिद्धान्तस्य न विप्रतिपत्तिः, किन्तु तस्याः परमेश्वराधीनत्व एवेति ज्ञाप्यत इति मत्त्वैव

---

१. प्रसिद्धे साङ्ख्यदर्शने ब्रह्मपदार्थो न स्वीकृतः, किन्तु यथा ते वेदान्तवाक्यानामर्थान् स्वाभिमते पक्षे योजयन्ति, तथा प्रतिभाति यत् ब्रह्मपदार्थः साङ्ख्यदर्शने पुरुष एव स्वीकार्यो भविष्यति। तत्रेदं स्वीक्रियते यत् पुरुषस्य विद्यमानतामात्रेण प्रकृतौ विक्षोभो जायते तस्माच्च सृष्टिः। एतदेव मायायां ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बानुषङ्ग इति रीत्या मानसोल्लासकारेणानूदितम्। सेश्वरसाङ्ख्ये योगदर्शने च ईश्वरसान्निध्यमात्रेण प्रकृतौ गुणविक्षोभस्तस्माच्च सृष्टिः।

२. महोपनिषदि (५-१२१) तु 'क्वचिन्मायेति कथितम्' इति पाठो लभ्यते।

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धोऽप्यनुक्रमात्॥३३॥
इन्द्रियाणाञ्च विषयाः भूतानामपि ते गुणाः।
देवाः सदाशिवश्चेशः रुद्रो विष्णुश्चतुर्मुखः॥३४॥
सात्त्विकात् स्यादहङ्कारादन्तःकरणधीन्द्रियम्।
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्॥३५॥
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी।
चन्द्रः प्रजापती रुद्रः क्षेत्रज्ञ इति देवताः॥३६॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियं विदुः।
दिग्वातसूर्यवरुणा नासत्यौ देवताः स्मृताः॥३७॥
राजसात् स्युरहङ्कारात् कर्मेन्द्रियसमीरणाः।
कर्मेन्द्रियाणि वाक् पाणिः पादः पायुरुपस्थकम्॥३८॥
वचनादानगमनविसर्गानन्दसंज्ञकाः।
विषया देवतास्तेषां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः॥३९॥
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
भूतैस्तु पञ्चभिः प्राणैः चतुर्दशभिरिन्द्रियैः॥४०॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि साङ्ख्यशास्त्रविदो विदुः[1]।

मानसोल्लासोऽपि साङ्ख्यमतप्रस्तावे मायाविद्यादिशब्देनापि प्रधानं निर्दिशति। इममाशयं मानसोल्लासोऽपि
प्रकटयति– मायायामिति। चतुर्विंशतितत्त्वेषु भूतानामाहङ्कारिकत्वमुच्यते, अद्वैतिनस्तु 'अन्नमयं हि
सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् ' इत्येवञ्जातीयकं भौतिकत्वं बोधितमिति कृत्वा
भौतिकत्वमेवेन्द्रियाणां स्वीकुर्वन्ति। तैत्तिरीयोपनिषद्धि– 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिना
भूतानामुत्पत्तिमाम्नाय पश्चादेवान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानाम्नाति। कठरुद्रोपनिषत्तु–
तैत्तिरीयोपनिषदर्थं पुच्छब्रह्मपरतयाऽऽदितो व्याचक्षाणाप्यमुमेवार्थमभिप्रैति इति साङ्ख्यमताद्वैलक्षण्यमिव
प्रतीयते। वेदान्तसार-परिभाषादावपि भौतिकत्वपक्षमेवेन्द्रियाणां स्वीकृतम्, परन्तु वस्तुगत्या नात्राद्वैतिनां
विप्रतिपत्तिः। इदञ्च– 'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्' इति सूत्रे यदि च
भौतिकानीन्द्रियाणि; तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशिष्यते इत्यादिना भगवत्पादैर्वर्णना-

१.अत्र हि या साङ्ख्यदर्शनानुसारिणी तत्त्वगणना विद्यते, तस्यां यदि ब्रह्ममायापुरुषतन्मात्रादीनामपि परिगणनं स्यात्तर्हि तत्त्वानामाधिक्यं भवेच्चतुर्विंशतितः। अत एव रामतीर्थीये व्याख्याने प्रोच्यते-अस्य मते मायाब्रह्मादीनां तन्मात्रान्तानां कारणत्वेनानुगमात् न पृथक्तया गणनेति द्रष्टव्यम्।

पौराणिकतत्त्वव्यवस्था

महान् कालः प्रधानञ्च मायाऽविद्ये च पूरुषः।।४१।।

इति पौराणिकाः प्राहुः त्रिंशत्तत्त्वानि तैस्सह।

शैवपदार्थव्यवस्था

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्।।४२।।

षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागमविशारदैः।

'बीजस्यान्तरिवे'त्यादिव्याख्या

सर्वे विकल्पाः प्रागासन् बीजेऽङ्कुर इवात्मनि।।४३।।

त्तत्तदाहङ्कारिकसत्त्वपक्षोऽपि नाद्वैतिनामसम्मतः[१]। तथा च यथासम्भवमविरोधेन समन्वयदृष्टिरेव मानसोल्लासस्य।।३२-४०१/२।।

पौराणिकास्तु महत्तत्त्वं कालः प्रधानं मायाविद्ये इति त्रिंशत्तत्त्वानि स्वीकुर्वन्ति पूर्वोक्तैः चतुर्विंशतितत्त्वैः सह। व्यक्तञ्चैतत् पाञ्चरात्रप्रकरणे यत्रैकत्रिंशत्तत्त्ववादिनोऽद्वैतिनो विवक्ष्यन्ते। तत्र मायाया इवाविद्याया न सत्त्वादिगुणत्रयवत्त्वम्, किन्तु विक्षेपशक्त्या माया, अविद्यावरणशक्त्येति मायाविद्याभेदो मन्यते। अतः पौराणिकमतेनापि नाद्वैतस्य विरोध इति पौराणिकपक्षमत्र सङ्गृह्णाति– **महानिति**।।४११/२।।

तैः पूर्वोक्तैः चतुर्विंशतितत्त्वैः सह षण्णामेतेषां योजनया त्रिंशत्तत्त्वानि। इमानि तत्त्वानि नाद्वैतवादस्यापि विरुद्धानि। शैवागमप्रतिपादितानि तत्त्वानि तु पाशुपतब्रह्मोपनिषदुक्तानि–

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्।
नादबिन्दुकला त्रीणि तेन विश्वं विचेष्टितम्।। इति।

कलाया द्वैविध्येन षट्, कला हि शिवस्य घोराऽन्या शिवान्येति शतरुद्रीतोऽवगम्यते। शिवाख्या च 'चतुर्थं शिवमद्वैतं मन्यन्ते' इति श्रुतिसिद्धा 'प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः' इति पाशुपत[२]ब्रह्मोपनिषद् बोधयति। शिवाद्वैतवादोऽप्यद्वैतवाद एवेति तमपि सङ्कलयति– **बिन्दुनादाविति**। स्पष्टोऽर्थः।।४२।।

तदेवं तत्तद्दर्शनसम्मततत्त्वानि सङ्गृह्य बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पमित्यंशं व्याचष्टे– **सर्वे विकल्पा** इति। बीजस्यान्तर्यथाऽङ्कुरः पूर्वं निर्विकल्पोऽनभिव्यक्तावस्थो ब्रह्मात्मनाऽऽसीत्, एवमात्मनि

१.पञ्चपादिकाविवरणे इन्द्रियाणां भौतिकाभौतिकत्वपक्षे समुपस्थाप्य भौतिकाहङ्कारिकत्वयोर्द्वयोरेव पक्षयोः समन्वयो विहितः। तथाहि–'ननु पुराणवाक्यान्येव सन्ति, सत्यम्, "अन्नमयं हि सौम्य मनः" इत्यादिभूतविकारार्थे मयट्श्रुतिविरोधादहङ्काराधीनतामात्रमिन्द्रियाणां तत्र कथ्यत इति न विरोधः।' (पृ.४९६-९७) पुनश्च– 'तस्मादागमादेव भौतिकत्वसिद्धिः'(पृ.४९८) इत्यपि प्रोक्तम्। अनेन द्वयोरेव पक्षयोः समन्वयोऽद्वैतमतेऽपेक्षितो भवतीति। (द्र. पञ्चपादिका, महेश अनुसन्धान संस्थानम्, वाराणसीतः प्रकाशिता)

२.पाशुपत इतिपदं हस्तलेखे नास्ति।

इच्छाज्ञानक्रियारूपमायया ते विजृम्भिताः।
इच्छाज्ञानक्रियापूर्वाः यस्मात् सर्वाः प्रवृत्तयः।।४४।।
सर्वेऽपि जन्तवः तस्मात् ईश्वरा इति निश्चिताः।

'महायोगीव' इत्यस्यार्थः

बीजाद्वृक्षः तरोर्बीजं पारम्पर्येण जायते।।४५।।
इतिशङ्कानिवृत्त्यर्थं योगिदृष्टान्तकीर्तनम्।
विश्वामित्रादयः पूर्वे परिपक्वसमाधयः।।४६।।

जगदिदं निर्विकल्पकमासीत्। अनभिव्यक्तं नामरूपात्मकं सदात्मना सद्रूपात्मनाऽऽसीत्– 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'। पुनः सद्रूप आत्मनि 'तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या सविकल्पकं बीजेऽङ्कुरवदासीदिति योजना। अनभिव्यक्तप्रपञ्चात्मना प्रकाशमानं सद्रूपं ब्रह्म मायाकल्पनावशात् सविकल्पकं जातम्। विकल्पाश्च देशकालक्रियावशात् सर्वेषां विस्मयकरा संवृत्ता। वस्तुतो निर्विकल्पमपि सद्रूपं ब्रह्म मायावशाज्जगत् ससर्जेति भावः।

अत्राशङ्का कथं निर्विकल्पं ब्रह्म सविकल्पमभवदिति तत्रोक्तम्– **मायाकल्पितेत्**यादि, किं तत् मायाकल्पितत्वं, का च मायेति शङ्कायामाह– **सर्व** इति।

एतेन 'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय' इति श्रुतिर्व्याख्याता। इच्छा तदैक्षतेति ज्ञानम्, असृजतेति क्रिया, सर्वमिदं मायैव भगवतः– 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विचिन्तकाः' इति गौडपादोक्तेः। अत्र इच्छेति ज्ञानं क्रियाशक्त्याप्युपलक्षण[१]मित्यभिप्रेत्याह– **'इच्छाज्ञानक्रियारूपमायया ते विजृम्भिताः'** इति। सङ्कल्पमात्रेण मायाख्येऽभिव्यञ्जिताः इत्यर्थः। अनेन मायावीति विजृम्भयतीत्यंशो व्याख्यातः, न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरमेत्य युद्धे खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यत्तत्कृतमायायां सत्यत्वबुद्धिर्यथा भवति, तथैवायं परमात्मा सूत्रप्रसारणसमसुषुप्तसुप्तस्वप्नादि-विकासस्तदारूढमायाविसमस्तत्स्थप्राज्ञतैजसादिरूपः परमार्थमायावी मायोपहितः। अतोऽज्ञानोपहित-संविन्मात्रमेव जगतो मायावीव कारणम्, तस्य तस्य तदाभिव्यञ्जकम्, परमात्मोपाधिवशात् तेनावृतः तत्तदात्मा विवर्तते, संविन्मात्रमात्मेति निष्कर्षः। ईश्वरोऽपीच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्तीर्विना न जगत् स्रष्टुं शक्नोति।।४३।।

नन्वेवं जीवा अपीच्छाज्ञानक्रियाभिरेव तत्तत्कार्यकर्तारो दृश्यन्ते, तेऽपि तर्हीश्वराः स्युरित्या-शङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति– **इच्छे**ति। सति चैवमीश्वरेच्छयैव सृजतीति सूपपन्नम्, इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति।।४४।।

ननु विनैवेच्छाज्ञाने बीजाद्वृक्षः, तरोर्बीजं पारम्पर्येण जायते इति दृष्टत्वात् कथं सर्वत्रेच्छापेक्षेश्वरस्य? अन्यथा कुलालादीनामिवेश्वरस्य तत्तदुपादाननिमित्तबाह्यापेक्षापि स्यादित्यत आह– **बीजादि**ति।

१.इच्छैव ज्ञानं, सैव क्रिया, सैव माया। क्रियाशक्त्याऽपि ज्ञानात्मिका इच्छैव उपलक्षिता भवतीति आशयः प्रतिभाति।

उपादानोपकरणप्रयोजनविवर्जिताः।
स्वेच्छया ससृजुः स्वर्गं सर्वभोगोपबृंहितम्॥४७॥

ईश्वरस्यान्यानपेक्षस्यैव जगत्स्रष्टृत्वम्

ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षतः।
स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च॥४८॥
न कारकाणां व्यापारात् कर्ता स्यान्नित्य ईश्वरः।
नापि प्रमाणव्यापारात् ज्ञातासौ स्वप्रकाशकः॥४९॥
ज्ञातृत्वमपि कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यं तस्य केवलम्।

बीजाङ्कुरादिस्थलेऽपीश्वरेच्छापि कारणमेव॥४५॥

न चैवमन्येषामिव बाह्यसाधनान्तरापेक्षानियमः, महायोगिषु विना बाह्यसाधनापेक्षां बहुविध-प्रपञ्चस्रष्टृत्वदर्शनात्। अतो युक्तमुक्तमिच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति। महायोगीव यः स्वेच्छयेति प्रतिज्ञां दृष्टान्तेन घटयति- **विश्वामित्रादय** इति। एतेन विनापि प्रयोजनं प्रपञ्चस्रष्टृत्वमीश्वरस्य कथमिति शङ्का निरस्ता। व्यक्तीकृतं चैतद्ब्रह्मसूत्रे, तद्भाष्ये, 'न प्रयोजनवत्त्वात्' 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्ष-त्वात्तथाहि दर्शनम्' इत्यादौ, ब्रह्मसिद्ध्यादौ च। ब्रह्मसिद्धिस्तु यदेकं पर्यनुयुञ्जते 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति। तत्र परस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चप्रयोजनं वाच्यम्, न तावत्परानुग्रहः, प्राक् सर्गादनुग्राह्याणामभावात्, दुःखान्तरत्वाच्च सर्गस्य। नात्मार्थक्रीडादि; आप्तकामत्वादिति। किञ्च कृतार्थानामाप्तकामानामेव क्रीडा-प्रवृत्तिरुल्लासात्, प्रार्थनापरिक्लिष्टचेतसां तु रतिविरहिणामनभिमतैव क्रीडा भवति। न च वैषम्यनैर्घृण्यदोषः; नहि मायाकरणस्य विविधं प्रपञ्चं दर्शयतोऽङ्गसाकल्यवैकल्यविभागेन रागद्वेषविभागः, चित्रपुस्तिकादिकृतो वा विकलाविकलभेदेन चित्राणि तानि तानि कुर्वतां बालानां च मृन्मयादिभिः प्रतिकृतिभेदैर्विविधैः क्रीडतां न तेषु किञ्चिद्वैषम्यं नैर्घृण्यं वा। कर्माशयानुरोधेन च विदधतो वैचित्र्यं न दोषः इत्याचार्याः। न चात्रानीश्वरत्वं दोषः; न हि सेवाभेदानुरोधेन फलभेदप्रदः प्रभुरप्रभुर्वेत्यादिवदिति॥४६-४७॥

स्वप्नभावेषु तूपादानोपकरणप्रयोजनवर्जितमेव जीवस्यापि सृष्टिराम्नायते। तेन योगिनामेवो-पादानोपायकप्रयोजनाद्यनपेक्षे स्रष्टृत्वे कैव कथेच्छामात्रेणानन्तशक्तेः स्वतन्त्रस्येश्वरस्य स्रष्टृत्वमित्यत आह- **ईश्वर** इति॥४८॥

तदेवं स्वतन्त्रत्वादनन्तशक्तित्वाच्चेच्छामात्रमीश्वरस्य सृष्टिं प्रतिपाद्य, नेश्वरस्य स्रष्टृत्वे कारक-व्यापारापेक्षा, न वा प्रमाणव्यापाराज्ज्ञातासौ, स्वतन्त्रत्वात्, सर्वज्ञत्वाच्च, इति कर्तृत्वं ज्ञातृत्वञ्च तस्य स्वतन्त्रस्यान्यनिरपेक्षमित्युपसंहरति- **न कारकाणामिति**।अत्र स्वप्रकाशक इत्युक्त्या सर्वतादात्म्य-मेवेश्वरस्य सर्वज्ञत्वमिति सूच्यते। इदमेव सर्वज्ञत्वं वाचस्पतिमतेऽपि[1]। सति चैवं सिद्धान्तैक्यान्मण्डन-

१.वाचस्पतिमिश्रा एवं वदन्ति 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति सूत्रभाष्यभामत्याम्-'तस्माद्वस्तुतोऽनवच्छिन्नं चैतन्यं तत्त्वान्य-त्वानिर्वचनीयाव्याकृतव्याचिकीर्षितनामरूपविषयावच्छिन्नं सज्ज्ञानं कार्यं तस्य कर्ता ईश्वरो ज्ञाता सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति सिद्धम्।'

या चेच्छाशक्तिवैचित्री सास्य स्वच्छन्दकारिता।।५०।।

यया कर्तुं न वा कर्तुमन्यथाकर्तुमर्हति।

स्वतन्त्रामीश्वरेच्छां के परिच्छेत्तुमिहेशते।।५१।।

श्रुतिश्च सोऽकामयतेतीच्छया सृष्टिमीशितुः।

तस्मादात्मन आकाशस्सम्भूत इति चाब्रवीत्।।५२।।

ईश्वरस्य निमित्तमात्रत्वनिरासः

निमित्तं चेद्भवेदस्य जगतः परमेश्वरः।

विकारित्वं विनाशित्वं भवेदस्य कुलालवत्।।५३।।

बुद्ध्यादयो नव गुणाः नित्या एवेश्वरस्य चेत्।

सुरेश्वरयोरैक्यमध्यवस्यते[1]।।४९-५०।।

अधुनेश्वरेच्छाया अपरिच्छेद्यत्वं प्रतिपादयति- **ययेति**।।५१।।

उक्तमर्थं श्रुत्योपष्टम्भयति- **श्रुतिश्चेति**। अत्रेच्छयैव प्रपञ्चसृष्टिरिति वर्णनादिच्छाज्ञानक्रियारूपैव माया यस्या आवरणम्, जीवाश्रयत्वम्, अनुपहितचेतनविषयत्वञ्च तदुपाधितया ज्ञाप्यते। अत्र 'सोऽकामयत' इति पुँल्लिङ्गेन विज्ञानानन्दमययोरात्मैव 'तस्यैष एव शरीर आत्मा' इति प्रतिपादितमनुपहितमात्मतत्त्वमेव विषयीक्रियते। अत एव जीवाश्रयाज्ञानवादो मण्डनस्यैवाभिप्रेयते। 'सोऽकामयत' इत्युपसंहारे यस्यात्मतत्त्वस्य स्रष्टृत्वेन निर्देशः, तस्यैव 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इति प्रस्तावपूर्वकं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति जगत्स्रष्टृत्वमुपक्रमोपसंहारयोरेकविषयत्वमुक्तार्थविवक्षायामेवोपपद्यते। तत्रोपक्रमे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यात्मन उपादानत्वं प्रस्तुतम्। उपसंहारे तु 'सोऽकामयत' इति निमित्तत्वमाम्नातम्। अतोऽवगम्यतेऽभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मेति। तत्र यदि 'सोऽकामयत' इति वाक्यवशान्निमित्तकारणमात्रं ब्रह्मेति विवक्ष्येत, तर्हि तस्यैव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्युपादानत्वश्रुतिरसङ्गता स्यात्।।५२।।

न चैतावन्मात्रं निमित्तकारणत्वमात्रविवक्षायां किन्तु निमित्तकारणमात्रस्य कुलालादेरिव विकारित्वमनित्यत्वञ्च स्यात्, बाह्यसाधनसापेक्षत्वापत्त्या स्वातन्त्र्यञ्च भज्येतेत्यभिसन्धायाह-**निमित्तञ्चेदिति**। निमित्तञ्चेत् निमित्तमात्रं चेदित्यर्थः। तेन न कुलालवदिति दृष्टान्तासङ्गतिः। कुलालादिवत् =अनित्यविकारशीलशरीरत्वात् कुलालस्य विकारित्वम्, एवं परमेश्वरस्याप्यनित्यशरीरस्वीकारापत्त्या विकारित्वाद्यापत्तिः।।५३।।

ननु इच्छाया अन्तःकरणधर्मत्वात् 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' इति श्रुत्येच्छादेरन्तःकरणधर्मत्वादीश्वरस्यान्तःकरणाभावात् स्वतो निर्विशेषत्वाच्च कथं

1. किन्तु तयोरनेके सिद्धान्ताः कामं भिन्ना इति भेद एव तयोरिति बहवोऽध्यवस्यन्तीति द्रष्टव्यम्।

नित्येच्छावान् जगत्सृष्टौ प्रवर्तेतैव सर्वदा।।५४।।

प्रवृत्त्युपरमाभावात् संसारो नैव नश्यति।

मोक्षोपदेशो व्यर्थः स्यादागमोऽपि निरर्थकः।।५५।।

तस्मान् मायाविलासोऽयं जगत्कर्तृत्त्वमीशितुः।

बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया।।५६।।

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

प्रबन्धे मानसोल्लासे द्वितीयोल्लाससङ्ग्रहः।।५७।।

।।इति श्रीमानसोल्लासे द्वितीयोल्लासः।।

नित्येच्छयेश्वरस्य स्रष्टृत्वम्, कथञ्च तस्य नित्येच्छायां संसारापगमः, कथञ्च मोक्ष इत्येवमाशङ्कते- **बुद्ध्यादय** इति। सत्यं मनोधर्मेच्छादौ स्वीक्रियमाणेऽयं दोष आपतेत, मायाविलासः खलु परमेश्वरस्य ज्ञानेच्छाक्रियाः। अत एवोक्तं 'मायाकल्पितदेशकालकलना' इति। सति चैवं तत्त्वज्ञानेन मायाविलये संसारोपरमः, तत एव मोक्षः, तदर्थञ्चागमः सकल इत्यादि सर्वमतिसुन्दरम्।।५४-५५।।

तदिदमाह- **तस्मान्मायेति**। मायाविषयत्वमात्रेण विवर्तमात्रं जगत्। तथा च सर्वतादात्म्यमेव सर्वज्ञानमिति न विरोधः। तदेवं प्रथमेन श्लोकेनाद्वितीयत्वमात्मन उपन्यस्य तस्याद्वयस्यैव मायाविलासमात्रेण सप्रपञ्चत्वमित्यनेन श्लोकेनोपपादितम्। अनेन परविद्यायां 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमपाणिपादम्' इति निर्विशेषं प्रस्तुत्य-

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते।।"

इति निर्दिष्टमद्वितीयत्वञ्च विवृतं भवति। एवं 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत' इति श्रुत्यर्थोऽपि सङ्कलित इति द्वितीयश्लोकार्थसङ्ग्रहः।।56।।

तदेतदाह- **इति श्री** इति। स्पष्टोऽर्थः।।५७।।

अत्रामरनाथादयो वदन्ति-अत्र मायावीव, महायोगीव, स्वेच्छया इति पदान्यद्वैतिनां विवर्तवादं निघ्नन्ति, नहि विवर्तवादे परमात्मन इच्छा जगत्सृष्टौ कारणम्, योगिनस्तु स्वेच्छया स्रष्टारः न तु मायया, भगवदिच्छैव जगतः कारणमिति तु प्रत्यभिज्ञादर्शनस्यैव तत्त्वम्।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा हि-

"क्वचिदात्मैव देवोऽयं स्थितमिच्छावशाद्बहिः।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।"इति।

अतो योगिदृष्टान्तोऽयं विवर्तवादस्य, प्रपञ्चमिथ्यात्ववादस्य वा विरोधीति तदाशयः।

अत्र- सत्यम्; योगिदृष्टान्तमात्रं यदि स्यात्तर्हि प्रस्तुतो विरोधः कथञ्चन सम्भवदुक्तिकः स्यात्। मायावीति दृष्टान्तोऽप्यत्र वर्तते। तत्र मायाविदृष्टान्ते प्रसिद्धोपादानादिनिरपेक्षं मायामात्रेण मायामयस्यैन्द्रजालिकस्य सृष्टिः, तन्मिथ्यात्वञ्च दृश्यते स्वप्नवत्। स्वाप्नानां मिथ्यात्वमपि पूर्वोक्तरीत्या

'कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वभावत्वादेव' इति न्यायसाम्यात् मायाविन इव योगिनोऽपीच्छामात्रेण स्रष्टृत्वम्। स्वाप्नाद्विशेषस्तु स्वाप्नानां निद्रादोषनिमित्तकत्वान्निद्रानिवृत्तिमात्रेण बाधः[१], योगिनस्तु मायाविन इव तदिच्छाया एव मायात्वात् मायानिवृत्तिमात्रेण निवृत्तिः। गौडपादकारिका तु इच्छापि भगवतो मायेति वदति। 'बहु स्यां, प्रजायेय' इतिसङ्कल्पापरपर्यायेच्छयैव भगवतः सर्वात्मना भानमिति वदति, इति योगिदृष्टान्तोऽन्यत्र न समञ्जसः, यथा विवर्तवादे। इमं विशेषं सूचयितुं 'मायावीव' इत्यपि दृष्टान्तः। अतो नायमपि श्लोकः प्रत्यभिज्ञादर्शनसिद्धान्तमत्र समर्थयितुमीष्टे।

'बीजस्यान्तः' इत्यादिनिर्देशोऽपि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति वाक्ये मृत्तिकापदस्थाने बीजपदप्रयोगमाश्रित्य श्रौतं वटबीजोदाहरणमप्यत्रावलम्बः। अतो नात्र कापि बाधा। बीजस्यान्तरिव प्राङ्निर्विकल्पं जगदिदं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः, पुनः सृष्टिकाले 'बहु स्याम् प्रजायेय' इति सङ्कल्पवशाद् देशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतं सत् मायावीव महायोगीव यः स्वेच्छया विजृम्भयति भासमानः, तत्तदात्मना विवर्तेन तस्मै श्रीगुरुमूर्तये दक्षिणामूर्तये नम इति योजना। अत्र मायावीव, स्वेच्छया विजृम्भयति इत्यनेन मायाद्वारा ब्रह्मणः प्रपञ्चोपादानत्वस्य, इच्छया पदप्रयोगेण 'सोऽकामयत' इतिश्रुत्यर्थस्यापि सङ्कलनादभिन्ननिमित्तोपादानत्वं परमात्मनोऽवगम्यते। तत्रेच्छापदस्य मायापरत्वमेव, न तु कामपरत्वम्, येन योगशास्त्रदृष्ट्या निमित्तकारणत्वमात्रमिति शङ्का स्यादिति तच्छङ्कावारणार्थं–

"निमित्तं चेद्भवेदस्य जगतः परमेश्वरः।
विकारित्वं विनाशित्वं भवेदस्य कुलालवत्।।
बुद्ध्यादयो नव गुणा नित्या एवेश्वरस्य चेत्।
नित्येच्छावाञ्जगत्सृष्टौ प्रवर्तेतैव सर्वदा।।
प्रवृत्त्युपरमाभावात् संसारो नैव नश्यति।
मोक्षोपदेशो व्यर्थः स्यादागमोऽपि निरर्थकः।।" इति त्रयः श्लोकाः।

एतर्हि निमित्तकारणत्वमात्रं परमात्मनः पातञ्जलादिमत इति शङ्का निवार्यते। इति नैतेषामत्रासङ्गतिः। इति त्रय इमे श्लोकाः मानसोल्लासस्य प्रतिष्ठा इत्यमरनाथादीनामाक्षेपो नात्रावसरति।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां द्वितीया वर्धिनी।।

१.अत्र मायाविनः इत्यधिकः पाठो हस्तलेखे।

ॐ

अथ मानसोल्लासे

तृतीयोल्लासः

भावानां सत्त्वं कीदृशम्

सत्ता स्फुरत्ते भावेषु कुत आगत्य सङ्गते।
बिम्बादिदर्पणन्यायादित्थं पृच्छन् प्रबोध्यते॥१॥

प्रथमेन श्लोकेनात्मनोऽद्वयत्वं प्रतिपादितम्। तच्चेदं मायाविलासेन सद्वितीयत्वम्। अतोऽद्वितीयत्व-सद्वितीयत्वयोरविरोध इति द्वितीयेन श्लोकेन निरणायि। इदमिदानीं विमर्शनीयम्– तत्राद्वितीयमखण्डं यद्यात्मतत्त्वं, तर्हि तस्यानधिष्ठानत्वात् तदयोगः। अधिष्ठानत्वं हि किञ्चिद्रूपेण ज्ञातत्वे सति किञ्चिद्रूपेणाज्ञानेन। तत्राखण्डे आत्मतत्त्वे कथं भेदः? कस्यांशस्य ज्ञानं, कस्यांशस्याज्ञानम्? अधिष्ठानस्याज्ञातस्य किं प्रपञ्चे भानम्? उताज्ञातांशस्य? तत्र यदि ज्ञातांशस्यानुगमः, तर्हि कीदृशं वा ज्ञानमधिष्ठानतादशायां; किम् 'इदं रजतम्' इत्यादाविव वृत्तिज्ञानम्, उत स्वप्रकाशरूपमात्रम्? तत्र 'इदं रजतम्' इत्यादौ पुरोवर्तिस्थितेन्द्रियसन्निकृष्ट एवाधिष्ठानत्वम्, अधिष्ठानज्ञानानन्तरमेवारोपो दृश्यते। न त्विदं-स्वरूपमात्रे। एवमत्र स्वरूपज्ञानस्याधिष्ठानत्वे तत् यदि स्वप्रकाशम्, कथं तर्हि अज्ञातत्वम्? तस्य विरुद्धत्वात्, अन्यत्तु ज्ञानमज्ञानविरोधि नाधिष्ठानतायाः प्रयोजकम्। तदानीमन्यज्ञानकारणानामभावात्, सर्वात्मना प्रकाशे त्वज्ञानाभावादधिष्ठानता कथामात्रमेव स्यात्। कथञ्च स्वप्रकाशेऽखण्डे भेदकल्पना, केन वा भेदकल्पनाया-मधिष्ठानं किम्? किं तत्र भेदमात्रकल्पना, उत प्रतियोगिनोऽपि कल्पना? प्रतियोग्यनुयोगिभावोऽपि सामान्यरूपेणानुयोगिनः प्रतीतिमादाय वा, उतोभयोरपि विशेषरूपेण वा? तत्र विशेषरूपेणोभयो-र्भनेऽधिष्ठानत्वं कस्य? कस्य वाऽऽरोपितत्वम्? एवं तत्र विशेषस्यापि स्वरूपत आरोपे तस्य बाधः कथम्? अबाधे कथं तस्यारोपः? इत्यादिशङ्का उन्मिषन्ति। इदं सर्वमभिप्रेत्यैवाध्यासभाष्ये "कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्" इति।

इयमत्राद्वैतिनां प्रक्रिया– आत्मतत्त्वमद्वयमिति बाधकालीनां दशामभिप्रेत्य, न त्वारोपदशाम्। तदानीं ह्यात्मतत्त्वमज्ञातं सदेवाधिष्ठानं भवति, इत्यन्ततो गत्वाऽविद्यया सद्वितीयमेवाधिष्ठानमित्यखण्डस्या-धिष्ठानताऽबाधिता। सति चैवमधिष्ठानता कञ्चन विशेषमादाय। स च विशेषो ज्ञातोऽज्ञातो वेति शङ्काया-मनाद्यविद्यायोगेनानादिनानादिः सदादिभेदः कल्प्यते। तत्र कल्पना भेदमात्रस्य, न तु तत्र सदादिस्वरूपस्य प्रतियोगिन उभयस्य वा 'इदं रजतम्' इत्यादाविव सामान्यस्य ज्ञानमनुयोगिनः, प्रतियोगिनश्च रजतादेरिव स्वरूपतः आरोपितत्वं विशेषरूपेण भासमानस्यापि। न तत्र सच्चिदानन्दरूपेण परस्पराध्यासः, एकतरस्य एकतमस्य वा न मिथ्यात्वमपि। तत्रानाद्यविद्याकल्पिते स्वप्रकाश आत्मतत्त्वे क्वचित्सद्रूपस्यैव स्वप्रकाशस्याधिष्ठानत्वमित्यपरोक्षगुरुत्वाद्यध्यासे क्वचित्तु चिद्रूपेण स्वप्रकाशस्याधिष्ठानत्वम्,

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।३।।

यत्रापरोक्षयोग्यता वर्तते।

अयमत्र निष्कर्षः— अज्ञानस्याविद्याया वा एकशक्तिस्त्रिविधा, असत्त्वापादिका, अभानापादिका, अनानन्दतापादिका च। अध्यारोपावसरेऽज्ञानस्यैका शक्तिरबाधिता, द्वे वा शक्ती अबाधिते तिष्ठतः। तत्र परोक्षयोग्याध्यासस्थले यत्राभानापादिका शक्तिर्नश्यति, तत्रासत्त्वापादिकापि नश्यत्येव। यत्र तु प्रातिभासिके सुखादौ शुक्तिरूप्यादौ वाऽभानापादकशक्तिरेव नास्ति, तत्रासत्त्वापादकशक्तिमात्रं नश्यति, सच्चिद्रूपेणै-वाधिष्ठानत्वम्। अत एव सृष्टिप्रकरणेषु सर्वत्र 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'आत्मा वा इदमग्र आसीत्' इति सच्चिदात्मनैवाधिष्ठानं प्रकाशते। तत्रैकस्य साक्षादुपादानेऽपरस्यापि प्रकाशमानतया विवक्षा वर्तते। अत एव 'सदेव' इति सदात्मकेन प्रथममुल्लेखोऽपि— 'तदैक्षत' 'अनेन जीवेनात्मना' 'तत्सत्यं स आत्मा' इति चिद्रूपेण निर्देशः। अयञ्च न्यायः 'आत्मा वा इदमग्र आसीत्' इत्यादौ प्रथमतः, चिदात्मन एवाधिष्ठानतया निर्देशेऽपि सदात्मनोऽपि तत्रानुसन्धानेन योजनीयः। सति चैवं न सच्चितोः परस्पराध्यासः, किन्तु सच्चिदात्मनो ब्रह्मण एकस्यैवाधिष्ठानत्वम्, आरोपितत्वन्तु तदतिरिक्तस्याचेतनस्यैव, अतस्तस्य सत्ता वा प्रकाशो वाऽधिष्ठानस्य सच्चिदात्मन एव, न तु स्वयं तत्र सत्ता, प्रकाशो वा। अतस्तस्यैव बाधः, न त्वधिष्ठानस्य। अत एव 'सन् घटः सन् पटो भाति' इति च व्यपदेशाः। अतः 'सन् घटः' इत्यत्र यथा न घटस्य सत्ता, तथा 'सत् चित्' इति प्रतीतौ चितो न सत्ताऽन्यदीया, अधिष्ठानगता, सतश्चिदधिष्ठानत्वाभावात्। यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्र न सत्यज्ञानादेः परस्पराधिष्ठानत्वम्, आरोपितत्वं वा, इति मायाकल्पितत्वं बाध्यस्य द्वितीयस्यैव, न त्वबाधितस्य सच्चिदादेरपि, इति वस्तुगत्याद्वयत्वेऽप्यात्मनोऽनाद्यविद्याकल्पितसदादिभेदेन, अविद्यया च सद्वितीयत्वेनेवाधिष्ठानत्वात्। तेन सद्वितीयस्याधिष्ठानतासाधकत्वात् वस्तुगत्याऽद्वयमेव मायावशात् सद्वितीयतां गतमिति न व्याघातः।

एवञ्च सद्वितीयत्वस्य बाधितत्वात् 'सन् घटो भाति' इत्यादौ घटादेः सत्त्वं प्रकाशमानता च ब्रह्मगतैवेति बोधयितुं तृतीयश्लोक इत्यवतारयति— **सत्तेति**। अयं भावः— सत्तास्फुरत्ते यदि ब्रह्मधर्मस्तर्हि तस्य घटादिधर्मत्वं कथम्? तत्र यद्यधिष्ठानधर्मः सत्तादिः; तर्हि कथं घटादिना सह तस्य सम्बन्धः, न ह्यन्यधर्मोऽन्यधर्मतामर्हति। न हि बिम्बधर्मस्य प्रतिबिम्ब इवात्र सङ्गतिः सम्भवति। बिम्बधर्मो हि प्रतिबिम्बमिव दर्पणादिप्रतिहतेन प्रवर्तितप्रकाशेन चक्षुरादिना बिम्बधर्ममपि तत्र गृह्णातीति युक्तम्। न चायं न्यायोऽत्र भवतीति पृच्छन्तं बोधयितुं तृतीयः श्लोक इति भावः।।३।।

इदमत्राकूतम्–

असत्कल्पेषु भावेषु जडेषु क्षणनाशिषु।

अस्तित्वञ्च प्रकाशत्वं नित्यात् सङ्क्रामतीश्वरात्॥२॥

आत्मसत्तैव सत्तैषां भावानां न ततोऽधिका।

तथैव स्फुरणं चैषां नात्मस्फुरणतोऽधिकम्॥३॥

यस्यैव स्फुरणमितिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रतृतीयश्लोकस्य व्याख्या

स यथा– **यस्यैवेति।**

अत्र तृतीयश्लोकेनाधिष्ठानस्वरूपमनाद्यविद्यानिबन्धनसदादिभेदभिन्नमानन्दात्मनाऽज्ञातं सदादिरूपेण ज्ञातं संविन्मात्रम्, यत्राध्यासात् तादात्म्याद्वा सत्ताप्रकाशश्च घटादिष्वनुगच्छतीति विविच्यते। तेन च द्वितीयश्लोकार्थो मायावशात् सद्वितीयत्वमुपपादितं भवति। ततश्च प्रसक्तस्य सद्वितीयत्वस्य निषेधादात्माऽद्वितीयत्वं साधितं भवति।

इयमत्र योजना– यस्यात्मतत्त्वस्य सदादिरूपेण स्फुरणं तादात्म्यमादायासत्कल्पमपि द्वैतं सदात्मकं तत्तादात्म्याद्भवति, असत्कल्पत्वन्तु द्वैतस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिकत्वेन मिथ्यात्वान्न तु शशविषाणादिवदसत्त्वेन=क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वेन, मिथ्याभूतस्यापि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वाभावात्, शुक्तिरूप्यादीनामपि सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वात्, कल्पपदेन सद्वैलक्षण्यं सूच्यते। अत्र यस्य स्फुरणं सदात्मकमिति निर्देशाद् द्वैतस्य स्वतः सत्त्वमपि ब्रह्मण इव नास्तीति[1] ज्ञाप्यते। तेन न सदसद्विलक्षणत्वविरोधः। यस्य स्फुरणं सदात्मकमिति वर्णनात् सच्चिदानन्दात्मत्वेनाधिष्ठानत्वमिति ज्ञाप्यते। आनन्दात्मनाऽज्ञातस्य सच्चिदात्मना ज्ञातस्यैव स्वप्रकाशस्यैवाधिष्ठानत्वात्। अधिष्ठानस्य पुरोवस्थितत्वनियमः प्रातिभासिकाध्यास एव, यत्रावच्छिन्नचैतन्यमेवाधिष्ठानम्। कवितार्किकनृसिंहचट्टोपाध्यायस्तु तत्रापि सामान्यतोऽधिष्ठानज्ञानमेव कारणमिति वदति। व्यक्तं चैतत् 'न हि पुरोवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति नियमः' इत्यत्र (ब्रह्मसूत्रेऽध्यासभाष्ये)। अतः सदसद्विलक्षणत्वं सत्त्वेन प्रकाशश्चोपपद्यत इति भावः।

इदञ्च–

"स्वप्ने स्वसत्तैवार्थानां सत्ता नान्येति निश्चिता।

को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनाम्॥" इत्यत्र पूर्वं व्यक्तीकृतम्।

तदेतदाह– **असत्कल्पेष्विति। असत्कल्पेषु**=असद्विलक्षणेषु **भावेषु** स्वाप्नजागरेषु जडेषु सद्विलक्षणेषु प्रकाशभिन्नेषु वा। तेन सदसद्विलक्षणत्वम्, अस्वप्रकाशत्वञ्चाचेतनानामिति ज्ञाप्यते। **सङ्क्रामतीति** प्रकृतेऽनुवेध एव विवक्ष्यते। सदात्मना प्रतीतिविषयत्वमुपादानापादेयभावप्रयुक्तं 'मृद् घटः' इत्यादिवत् सामानाधिकरण्येन प्रतीत्यर्हत्वमेव सङ्क्रमणं नाम॥२॥

अयमेवार्थो निष्कृष्यते मानसोल्लासेन– **आत्मसत्तैवेति।** अमुमेवार्थं प्रथमश्लोकोऽपि पुरस्करोति,

१. अत्र ब्रह्मण इव स्वतः सत्त्वं द्वैतस्यापि नास्तीति योजना।

ज्ञानानि बहुरूपाणि तेषाञ्च विषया अपि।
अहङ्कारेऽनुषज्यन्ते सूत्रे मणिगणा इव।।४।।
प्रकाशाभिन्नमेवैतद्विश्वं सर्वस्य भासते।
लहरीबुद्बुदादीनां सलिलान्न पृथक् स्थितिः।।५।।
जानामीत्येव यज्ज्ञानं भावानाविश्य वर्तते।
ज्ञातं मयेति तत् पश्चाद्विश्राम्यत्यन्तरात्मनि।।६।।
घटादिकानि कार्याणि विश्राम्यन्ति मृदादिषु।

परन्तु तत्र स्वप्नदृष्टान्तेनानुमानविधया हेतुः, अत्र साक्षादिति विशेषः। इदमेवाभिप्रेत्योक्तं *वेदान्तपरिभाषायां* प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो विषयप्रत्यक्षत्वमिति। इदं प्रमातृप्रकाशातिरिक्तप्रकाशाभावस्याप्युपलक्षणम्। परोक्षस्थले तु विषयचैतन्यसत्तैव विषयाणां सत्ता, न प्रमातृसत्ता; आत्मप्रकाशमात्रेण तत्प्रकाशो वा। उभयत्राप्यधिष्ठानसत्तैवारोपितस्यापि सत्तेति समानम् सर्वत्राधिष्ठानं संविद्रूपमेव, प्रत्यक्षस्थले तु प्रमातृचैतन्यस्याध्यस्तत्वेनैव प्रत्यक्षत्वमिति विशेषः। इदमेवाभिप्रेत्याध्यासभाष्योपसंहारः— 'अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' इति।।३।।

तत्रात्मनोऽधिष्ठानत्वेन चैतन्यत्वे समानेऽपि प्रत्यक्षे प्रमातृत्वेनाधिष्ठानत्वात् प्रमातृसत्तापि विषयाणाम्। परोक्षसाधारण्येन त्वात्मगतैव सर्वेषां भावानां सत्तेति निष्कर्षः। इदं प्रत्यक्षज्ञानपरोक्षज्ञानभेदमादाय निष्कृष्टम्। ज्ञानमात्रविवक्षायां सर्वेषां ज्ञानानामिव विषयाणामपि 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया साक्षिमात्रभास्यम्' इति सिद्धान्तात् सर्वे विषया आत्मसत्तारिक्तसत्ताशून्या एव। तदेतदाह— **ज्ञानानीति**। स्फुरणमत्र वृत्तिज्ञानमेव विवक्षितम्, तत्तु विविधं प्रत्यक्षपरोक्षस्मृतिभ्रमभेदात्। तत्र वृत्तिः क्वचिद्विषयदेशं प्राप्नोति, क्वचित्तु विना निर्गममन्तःकरणदेश एवावस्थाय विषयाकारा भवति। तत्राद्ये प्रत्यक्षम्, द्वितीये परोक्षम्, उभयत्राज्ञाननिवृत्तिः फलमस्याः वर्तत एव। तत्र प्रथमे त्वसत्त्वाभानापादकाज्ञानशक्तिद्वयं विनश्यति, तृतीये त्वसत्त्वापादकाज्ञानशक्तिरेव तत्र, परोक्षस्थले तु ज्ञानमन्तःकरणदेश एव विद्यते इति सर्वत्र तस्यापरोक्षत्वमेव। विषयस्तु न स्वरूपतः प्रत्यक्षम्, तथापि वृत्तिविषयतयाऽपरोक्षं इत्यहङ्कारोपहितचैतन्यरूपसाक्षिसम्बन्धान्नित्यपरोक्षमपि प्रत्यक्षमेव। ज्ञाततया, अज्ञाततया वा तत्र साक्षिणा सम्बन्धः, परोक्षविषयाणामपि नाहङ्कारानुगमपरम्परया विना सम्भवतीति।।४।।

अत्र विषयाणामहङ्कारानुषङ्गो नामैकत्र द्वयमिति रीत्या जीवाश्रयाज्ञानवादेऽहङ्काराज्ञानयोरिव सामानाधिकरण्यादुपपद्यते। इदमेवाभिप्रेत्याह— **प्रकाशाभिन्नेति**। जगतः सर्वत्राप्यात्मन्यध्यस्तत्वात् सर्वं प्रत्यक्षपरोक्षादिभिन्नज्ञानविषया आत्मप्रकाशातिरिक्तप्रकाशशून्या इति भावः। साक्षाद्विषयाणामात्मप्रकाशाधीनैकप्रकाशत्वाभावेऽपि जानामीतिज्ञानविशेषणतया सर्वमात्मप्रकाशाधीनैकप्रकाशमिति भावः, सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिभास्यमिति सिद्धान्तात्।।५।।

विश्वं प्रकाशाभिन्नत्वाद्धिश्राम्येत् परमेश्वरे॥७॥

स्वगतेनैव कालिम्ना दर्पणं मलिनं यथा।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥८॥

जीवपरमात्मनोरौपाधिक एव भेदः

घटाकाशो महाकाशो घटोपाधिकृतो यथा।

तदेतदाह– **जानामीति**। जन्यज्ञानमात्रस्य त्रिपुटीविषयकत्वनियमादिति भावः॥६॥

न केवलं ज्ञातस्यैव विश्वस्य प्रकाशसत्तैव सत्ता, किन्तु घटादीनामुपादेयानामपि मृत्सत्तयैव सत्तावत् सर्वत्र विश्वस्य स्वप्रकाशे चैतन्य एव स्वरूपतः तादात्म्येन चाध्यासात् प्रकाशसत्तैव विश्वस्य सत्तेति तु फलितम्। तदेतदाह– **घटादिकानीति**। परमेश्वरे=अज्ञानोपहिते कारणे, आत्मतत्त्वे इत्यर्थः। इदं जीवाश्रयाज्ञानवादमभिप्रेत्य, तस्यैव मण्डनसिद्धान्तस्य सुरेश्वरस्यापि सिद्धान्तत्वात्। वार्तिके तु वार्तिकत्वादेवोक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तारूपत्वात् सर्वविधप्रक्रियापरीक्षणात् मण्डनसिद्धान्तस्यापि भगवत्पादसिद्धान्तस्येव निरासो न किञ्चित्करः, स्वसिद्धान्तस्तु तत्र मानसोल्लासब्रह्मसिद्ध्याद्यनुसारेणैव मुख्यः॥७॥

सति चैवं परमेश्वरस्याप्यहमर्थजीववदज्ञानोपाधिकत्वाविशेषादहमर्थविशिष्टजीवस्येव कथं तस्यापि संसारित्वम्? कथं वा चेश्वरस्याज्ञानोपाधिकत्वाविशेषाद् विशिष्टस्यापि न जगत्कारणत्वमिति शङ्कायामाह– **स्वगतेनेति**। अज्ञानोपाधिकत्वं हि जीवेश्वरस्य समानम्, यथा बिम्बप्रतिबिम्बयोरुभयोरपि दर्पणोपाधिकत्वम्; बिम्बप्रतिबिम्बभावस्योभयस्योपाध्यन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, तथाप्युपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातमात्रनियमाद् दर्पणगतेन मलेन प्रतिबिम्बस्यैव मालिन्यवत् मालिन्यस्योपाधिमात्रधर्मवच्च बिम्बप्रतिबिम्बयोः स्वतोऽमलिनत्वात् स्वतो मालिन्यं न जीवात्मनः, परमेश्वरस्य वाऽज्ञानोपहितस्य, इति पूर्वयुक्त्या[1] जीवस्यैव स्वविशेषणाज्ञानधर्मभाक्त्वम्, नेश्वरस्येति भावः। जीवेश्वरयोरुभयोरप्यज्ञानोपाधिकत्वेन जीवे विशेषणतयाऽज्ञानमुपाधिः, ईश्वरे तूपलक्षणतया। अतोऽज्ञानोपाधिकत्वेऽपीश्वर उपहित एव कारणं नाज्ञानमपि। विशेषणत्वे तु तस्य जीवस्येव तस्याप्यज्ञानधर्माः सर्वेऽपि जीव इवानुवर्तेरन्॥८॥

नन्वेवं तर्हि जीवेश्वरयोर्भिन्नस्वभावत्वान्नानयोरभेद इत्यद्वैतव्याकोप इति शङ्कां गौडपादकारिकायामद्वैतप्रकरणं मनसि निधाय समाधत्ते– **घटाकाश इति**। तत्र यथा महाकाशो घटाकाशाद् घटोपाधिवशाद्भिन्नः, घटोपाधिविलये तु ततोऽभिन्नस्तथा जीवात्मपरमात्मनावप्यभिन्नाविति गम्यते। तेन घटाकाशे घटदोषा इव जीवेऽपि देहदोषाः वस्तुतो न संसृज्यन्ते।

न च जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपतो भेदोऽपि, किन्तु तयोरभेद एव सिद्ध्यति। अत्र गौडपादकारिकायाः अद्वैतप्रकरणगताः कारिकाः विषयविशुद्ध्यर्थमनुसन्धेयाः। ताः यथा–

"आत्मा ह्याकाशवज्जीवो घटाकाशैरिवोदितः।

१.द्रष्टव्यम्–पृ.३२

देहोपाधिकृतो भेदःजीवात्मपरमात्मनोः।।९।।

प्रत्यभिज्ञावन्महावाक्यार्थबोधः

तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तु तयोरैक्यं प्रदर्श्यते।
सोऽयं पुरुष इत्युक्ते पुमानेको हि दृश्यते।।१०।।

घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।।
रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः।।
नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनस्तथा जीवो विकारावयवौ तथा।।
यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः।।
मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेष्वाकाशेनाविलक्षणः।।" इति।।९।।

अनेन चेदं सूच्यते–स्वत आत्मसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यानां जडानां यथा स्वरूपतो मिथ्यात्वम्, तथा जीवेश्वरयोरौपाधिकयोश्चेतनयोरपि[१]। तेन तत्रौपाधिकभेदस्यैव विद्यमानत्वात्, अविद्याकल्पित-सदादिभेदानामिव स्वरूपतः सत्यत्वम्, स्वत एव सतां प्रकाशत्वञ्च, इति विगलितोपाधिजीवात्मपरमात्मनो-रात्यन्तिकाभेद एव। तमिमर्थं स्थितप्रज्ञतुरीयावस्थायामनुभूतमारुह्यानुभूय स्वानुभवैकमात्रगम्यस्य शिष्यान् प्रत्युपदिदिक्षुस्तत्र प्रकारान्तरासम्भवं मत्वा श्रीदक्षिणामूर्तिस्तदुपदेशार्थं महावाक्योपदेशमेव सुकरं मत्वाऽऽह– 'साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्' इत्याह। तमिमर्थं मानसोल्लास उल्लासयति–**तत्त्वमस्यादी**ति। तयोरैक्यम्=जीवेश्वरयोरुपाधिनिवृत्तिप्रयुक्तभेदनिवृत्तिः। निवृत्तेरधिकरणरूपत्वात् स्वरूपमात्रं भेदनिवृत्तित्वोपलक्षितं **प्रदर्श्यते**, उपपाद्यत इति प्रतिज्ञा।

दृष्टान्तं व्याचष्टे– **सोऽयं पुरुष** इति। 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये[२] तत्तेदन्तादिकालविशेषसम्बन्धं मुक्त्वा भेदनिवृत्तित्वोपलक्षितस्वरूपमात्रं यथा दृश्यत इत्यर्थः। 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' इत्यादौ

१.मिथ्यात्वं किन्तु न स्वरूपत इति ध्येयम्।
२.अत्र 'यथा'पदमधिकं हस्तलेखे।

'तत्त्वमसि' इत्यत्र तत्त्वम्पदयोरर्थौ

यज्जगत्कारणं तत्त्वं तत्पदार्थः स उच्यते।
देहादिभिः परिच्छिन्नो जीवस्तु त्वम्पदाभिधः॥११॥
तद्देशकालावस्थादौ दृष्टः स इति कथ्यते।
तथैतद्देशकालादौ दृष्टोऽयमिति कीर्त्यते॥१२॥

च्विप्रत्ययोपपत्त्यर्थमेकत्वस्यैक रूपत्वाङ्गीकारात्[1],अन्यथैक्यस्य स्वरूपमात्रस्य नित्यसिद्धत्वात् नाभूततद्भावार्थे च्विप्रत्ययोपपत्तिः स्यात्। अन्यत्र देशे काले वा दृष्टस्य 'कोऽयम्' इति स्वरूपमात्रजिज्ञासायां 'सोऽयम्'इत्युत्तरवाक्यं हि स्वरूपमात्रपरमिति प्रत्यभिज्ञा स्वरूपमात्रपरा; एवं 'तत्त्वमसि' इत्यपि 'कोऽयमात्मा' इति प्रश्नोत्तरत्वात्तथा इति भावः॥१०॥

अत्र 'तत्त्वमसि' इति वाक्ये तदादिपदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं वक्तुं पदार्थं वाक्यार्थान्वययोग्यं विभजते- **यज्जगत्कारणमिति**। 'अधीहि भगवो ब्रह्म'इति ब्रह्मस्वरूपप्रश्नोत्तरमन्तिमम् 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति। तस्यातिसूक्ष्मत्वात् स्थूलारुन्धतीशाखाचन्द्रन्यायेन बोधयितुं प्रवृत्तम् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति। अनेन प्रष्टुर्व्यवहारदशामादाय लक्षणमुच्यते– यतो वेति। आद्यन्तं च 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति विचारमुपदिश्योपदेशपरम्परा 'आनन्दो ब्रह्म' इत्येतत्पर्यन्तमनुवृत्ताऽज्ञानोपहितानन्दमयस्वरूपपर्यन्तमाकृष्यानन्तरमुक्तम्– 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इति पुच्छब्रह्मणि ब्रह्मवल्लीप्रतिष्ठात्वेनोपन्यासस्तुरीये ब्रह्मणि पर्यवसायितः, इति तत्परत्वं वर्णयितुमन्नादिसाधारणं जगत्कारणत्वं वस्तुगत्या ब्रह्मणोऽलक्षणमपि तत्पदार्थलक्षणतया क्रमिकबोधार्थं विवक्षितम्, इत्युपदेशक्रममनुसृत्यैव तत्त्वमुपस्थापनीयमित्यभिप्रेत्य सामान्यतस्तत्पदार्थोऽन्नादिक्रमेणैव व्याख्येय इति मत्वा ततोऽन्यस्ततोऽन्य इत्युपदेशक्रमं भाविनमनालोक्य प्रथमादिपरतया तदर्थो योजनीय इति मत्वा जगत्कारणत्वं द्वारलक्षणम्। मुख्यं त्वंतत्पदार्थौ विविच्येते[2] इति तत्पदार्थो वाच्यो जगत्कारणत्वविशिष्ट इत्याह। एवं त्वंपदार्थोऽपि वाच्यार्थ एवात्र वर्ण्यते, पर्यवसितनिराकाङ्क्षमुख्यतात्पर्यविषयतामनालोच्य। इयं हि वाक्यार्थान्वयबोधात् प्राक्कालिकपदार्थबोधावस्था वाक्यार्थज्ञानकारणानां परीक्षावस्था, न तु वाक्यार्थान्वयबोधावस्थेति मन्तव्यम्, इत्युत्तरमस्यान्वयाकरणेऽपि न दोषः, यतो नायं तदादिपदमुख्यार्थः। अज्ञानोपहितं चैतन्यं तत्पदार्थः, यस्तु न मुख्यार्थः। किन्तु तदुपलक्षितः तस्यैवाधिष्ठानरूपप्रकाशैकस्वभावस्य चैतन्यस्य तत्पदार्थमुख्यार्थत्वात्। एतेन त्वम्पदार्थोऽपि व्याख्यातः। सोऽपि मिथ्यात्मनात्मसंवलितस्त्वम्पदवाच्यार्थः, विगलितान्तःसंविन्मात्रस्यैव[3] त्वम्पदमुख्यार्थत्वादिति भावः॥११॥

अतस्तत्त्वम्पदयोः प्रकृतवाक्यतात्पर्यविषयवाक्यार्थान्वययोग्ययोर्मुख्यार्थयोर्विवेचनं कर्तव्यमभिप्रेत्य तत्पूर्वाङ्गतया 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये मुख्यपदार्थं, वाक्यार्थं, एवं तत्त्वमस्यादिवाक्येऽपि तदुभयं

१.एकस्यैव रूपत्वाङ्गीकारदिति हस्तलेखे पाठः, स च दुर्योगः प्रतिभाति।
२.मुख्या वृत्तिस्त्वंतत्पदयोः कुत्र विद्यते इति प्रथमतो निर्धारणीयमिति तदेव विविच्यते इति भावः।
३.अन्तःकरणावच्छिन्नस्य चैतन्यमात्रस्यैवात्मत्वादन्तःकरणे विगलिते संविन्मात्रमेव त्वम्पदमुख्यार्थ इत्याशयः प्रतिभाति।

वाक्यार्थः

मुख्यं तदेतद्वैशिष्ट्यं विसृज्य पदयोर्द्वयोः।
पुंमात्रं लक्षयत्येकं यथा सोऽयं पुमान् वचः॥१३॥
प्रत्यक्त्वञ्च पराक्त्वञ्च त्यक्त्वा तत्त्वमसीति वाक्।
तथैव लक्षयत्यैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः॥१४॥

पदतदर्थसम्बन्धः

सामानाधिकरण्याख्यः सम्बन्धः पदयोरिह।
विशेषणविशेष्यत्वं सम्बन्धः स्यात् पदार्थयोः॥१५॥
लक्ष्यलक्षणसंयोगाद्वाक्यमैक्यञ्च बोधयेत्।

विभजते— **तद्देशकालावस्थादाविति**। अत्र तत्पदोपस्थाप्यार्थस्य सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वादेः त्वम्पदार्थस्य देहादिपरिच्छिन्नस्य देहादिसम्बन्धप्रयुक्तकिञ्चिज्ज्ञत्वादेश्च विरोधात् तद्विशिष्टयोर्भेदस्यानिवारणीयत्वात् कथमैक्यम्, तत्त्वमर्थयोर्विरोधात्।

अयमेव न्यायः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि। तद्देशकालैतद्देशैतत्कालविशिष्टयोर्भेदात्, तन्निवृत्त्युपलक्षित-स्वरूपैक्यस्याविरोधात्, तद्बोधसम्भवः[१] इति तात्पर्यविषयतदैक्यसिद्ध्यर्थं तद्विशेषणत्यागेन वाक्यार्थो वर्णनीयः। अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्र तद्देशतत्कालादेः 'तत्त्वमसि' इत्यत्र प्रत्यक्त्वपराक्त्वादेश्च त्यागेन वाक्यार्थो वर्णनीयः। तच्च लक्षणयेति जीवात्मपरमात्मनोरैक्यबोधो निर्वोढुं शक्य इति ॥१२-१४॥

अत्रायं पर्यनुयोगः— का वा लक्षणात्र 'तत्त्वमसि' इत्यादौ तां विना का वानुपपत्तिरिति तदेतदाह— **सामानाधिकरण्याख्यमिति**। तत्र 'तत्त्वमसि' इत्यत्र सामानाधिकरण्यं समानविभक्तिपदप्रतिपाद्यत्वं तत्त्वम्पदयोर्दृश्यते। स च सम्बन्धस्तत्र न 'नीलो घटः' इत्यादाविव विशेषणविशेष्यभावनिबन्धनः, विशेषणं नीलत्वघटत्वयोरिव धर्मिणि च प्रकृते किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादीनामविरोधाभावात्। अतोऽत्र लक्ष्यलक्षणभावेनैव वाक्यार्थो वक्तव्यः।

तत्र सामानाधिकरण्यञ्चतुर्विधम्, अध्यासे, अपवादे, एकत्वेऽभेदे वा, विशेषणविशेष्यभावे वा। तत्र तस्योदाहरणम्— 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादिः, यत्राहार्यारोपो मनसि ब्रह्मत्वबुद्धेः। अपवादस्योदाहरणम्— 'इदं रजतम्' इत्यादि, 'अहमिदम्' इत्यादि च। विशेषणविशेष्यभावस्योदाहरणन्तु— पूर्वोक्तो 'नीलो घटः' इत्यादि। एकत्वेऽभेदे वोदाहरिष्यते— 'अयं ब्राह्मणोत्तमो भूदेवः' इति, 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यादिरिति व्यवस्था। तत्र चात्र न विशेषणविशेष्यभावः, न चाध्यास इति वक्ष्यते; नाप्यपवादः, बाधकज्ञानविषयस्य बाध्येन सामानाधिकरण्यं त्वपवादे सामानाधिकरण्यमिदं रजतमित्यादौ दृष्टम्॥१५॥

न चात्र तत्पदार्थस्य सम्यग्ज्ञानेन त्वम्पदार्थो बाध्यते किन्त्वैक्य एव तदिति वक्तव्यम्। तत्र च

१. 'तद्बोधासम्भव' इति हस्तलेखे पाठः। स च न सौकर्येण युज्यते।

लक्षणा

गङ्गायां घोष इतिवन्न जहल्लक्षणा भवेत्।।१६।।
नाजहल्लक्षणापि स्याच्छ्वेतो धावति वाक्यवत्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां लक्षणा भागलक्षणा।।१७।।
सोऽयं पुरुष इत्यादिवाक्यानामिव कीर्तिता[१]।

तत्त्वम्पदयोर्लक्षणयैव निर्वाहः कर्तव्यः। तत्र च लक्षणा[२] त्रिविधा– जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा च। तत्र जहल्लक्षणायाः उदाहरणम्– 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदम्, यत्र वाच्यार्थस्य न लक्ष्यकोटौ मात्रयापि प्रवेशः। अतो न साऽत्र सम्भवतीत्याह– **गङ्गायामिति**। 'गङ्गायां घोषः' इतिवन्न जहल्लक्षणा भवेदिति।।१६।।

नाप्यजहल्लक्षणात्र, तस्योदाहरणम्– 'श्वेतो धावति' इति, यत्र वाच्यार्थः श्वेतत्वं तद्विशिष्टोऽश्वो धावतीति विवक्ष्यते। न चात्र किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वयोरपि विवक्षा, विरोधात्। तदिदमाह–**नाजहल्लक्षणापीति**।

अपवादे सामानाधिकरण्यं तूभयोरेकज्ञानेनापरस्य बाधाभावाज्जीवेश्वरयोरपि लक्षणयैक्यस्यैव प्रतिज्ञानान्नात्र प्रसरति। अत ऐक्य एव सामानाधिकरण्यमत्र विवक्षणीयम्। अतस्तृतीयया लक्षणयैव निर्वणीयम्। तत्र जहदजहल्लक्षणा भागलक्षणेति नार्थान्तरमिति मत्त्वाऽऽह– **तत्त्वमस्यादीति**। भागलक्षणा विशिष्टस्य पदार्थस्य विशेषणभागमात्रत्यागेन विशेष्यस्यात्यागेन। जहदजहल्लक्षणत्वादियं भागलक्षणेति व्यपदिश्यते। उदाहरणन्तु तत्र लौकिकमस्य 'सोऽयं पुरुषः' इति पूर्वमेवोपपादितम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सदेव सौम्येदम्' इत्यादौ त्वपवादे सामानाधिकरण्यम्। तत्र द्वयोरेकस्येदंपदार्थस्य सर्वस्य वा तदितरब्रह्मज्ञानबाध्यत्वात्। नात्राभेदे सामानाधिकरण्यम्, अत एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ कार्याणामेव कारणेन सामानाधिकरण्यम्। तत्र सतः, ब्रह्मणो वा विवर्तकारणत्वस्यैव स्वीकारात्, ब्रह्मव्यतिरेकेण तदनन्यत्वाधिकरणोक्तधीत्येतराभाव एव विवक्ष्यते। नतु घटाकाशमहाकाशयोरेवौपाधिकनिवृत्त्यौपाधिकभेदस्यानिवृत्त्यैकांशो बोध्यत इति व्यवस्था।।१७[१]/२।।

१.वाक्यवृत्तिप्रकरणात् ४८ तमः श्लोक एव प्रायोऽयमुद्धृतः।

२.लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः। कारिकावल्यादौ बहुधा विवेचितोऽयं विषयः। सा च लक्षणा त्रिविधा–जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा च। तत्र यत्र मुख्यार्थं परित्यज्य केवलं लक्ष्यार्थस्यैव प्रतीतिः सा लक्षणा जहल्लक्षणेत्युच्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इति वाक्ये प्रयुक्ते गङ्गाप्रवाहे गृहसत्त्वबोधनाय न प्रयुज्यते वाक्यमिदं किन्तु गङ्गातीरे गृहसत्त्वबोधनायैवेदं वाक्यं प्रयुक्तं भवति। मुख्यार्थं प्रवाहरूपमर्थं परित्यज्य तीररूपस्यार्थस्य बोधो जायते। अजहल्लक्षणा सा प्रोच्यते यत्र मुख्यार्थपरित्यागं विनैव लक्ष्यार्थस्य बोधो जायते, यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदं दध्युपघातके लाक्षणिकं भवति, दध्युपघातकेषु काकोऽपि गृह्यते, न त्यज्यते। जहदजहल्लक्षणाया उदाहरणं तु 'तत्त्वमसि' 'सोऽयं देवदत्तः' आदिवाक्यान्येव। अत्र हि तत्त्वम्पदयोः विशेषणांशपरित्यागेन विशेष्यांशचैतन्यमात्रपरिग्रहेण च बोधो भवति। अत्र पदार्थांशपरित्यागो भवति, पदार्थापरांशस्य च परिग्रहो भवतीति जहदजहल्लक्षणेयमुच्यते।

भिन्नवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकवस्तुनि।।१८।।
प्रवृत्तिस्तु समानाधिकरणत्वमिहोच्यते।

तत्रेयं शङ्का– यद्येकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यं, तर्हि सर्वेषां पदानामेकार्थबोधकत्वेन पर्यायत्वात् 'घटः कलशः' इति पदयोरिवानवबोधकत्वं[१] तल्लक्षणमप्रामाण्यं वा स्यादिति शङ्कायामाह– **भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामिति**[२]। **प्रवृत्तिः**=प्रकृष्टा वृत्तिः[३] शक्तिरिति यावत्। तत्र शक्तिभेदः शक्यतावच्छेदकभेदेन। तथा च भिन्नवाच्यतावच्छेदकयोः पदयोः सामानाधिकरण्यमिह शास्त्रे कथ्यते। तत्र तत्त्वंपदयो लक्ष्यार्थस्वरूपैक्येऽपि शक्यतावच्छेदकभेदान्नैकार्थबोधकत्वमिति 'घटः कलशः' इत्यादिस्थल इव न पर्यायशब्दानां सामानाधिकरण्यम्। न वाऽबोधकत्वलक्षणमप्रामाण्यमिति भावः। **एकवस्तुनि** प्रकृष्टा वृत्तिः =**प्रवृत्तिः**, शक्तिः[४] सामानाधिकरण्यमिहेति योजना। इयं हि शङ्का सुरेश्वराचार्यमारभ्य प्रचलति, परिहारश्च ततोऽनुवर्तत एव। एवमपि सैव पुनः पुनर्वर्त्यत[५] इत्यहो चित्रमिति मन्तव्यम्।

अत्र 'प्रवृत्तिस्तु' इति 'तु' शब्देन लक्षणा व्यावर्त्यते, तेन लक्ष्यार्थभेदो न सामानाधिकरण्यं व्याहन्तीति ज्ञाप्यते, इति लक्ष्यार्थैक्यमादायाखण्डार्थवादे सामानाधिकरण्यव्याघातशङ्का नावसरति।

तत्र 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादौ जीवस्य परमांशत्वबोधनात् 'सर्व आत्मनो व्युच्चरन्ति' 'तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्योत्पत्तिश्रवणेन तस्य विकारत्वावगमात् जीवपरमात्मनोरैक्ये न सामानाधिकरण्यम्। तत्रांशांशिभावस्य कार्यकारणभावस्य चानर्थान्तरत्वात्[६]। 'तत्त्वमसि' इत्यादावपि बाधायामपवादे सामानाधिकरण्यं स्यात्। नैक्ये सामानाधिकरण्यमिति शङ्का गौडपादकारिकया जीवोत्पत्तिनिषेधेन परिह्रियते–

"आत्मा ह्याकाशवज्जीवो घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।

१.पदयोरिवावबोधकत्वमिति हस्तलेखे पाठः।
२.मूले 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाम्' इति प्रकृतटीकाकृत्सम्मतः पाठः। रामतीर्थादिसम्मतः पाठस्तु 'भिन्नवृत्तिनिमित्तानाम्' इति।
३.सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिरिति शक्तिवादे गदाधरभट्टाचार्याः। अन्यत्रापि दर्शनेषु शक्तिलक्षणारूपेण वृत्तेर्द्विविधो विभागः क्रियते। तत्र शक्तेः प्राधान्यं विद्यते, यतो हि शक्यसम्बन्ध एव लक्षणेति प्रोच्यते विना शक्तिं लक्षणावृत्त्यापि पदार्थोपस्थितिर्न कर्तुं शक्येति कारणात् शक्तिरेव प्रवृत्तिपदेनाभिधीयते।
४.अत्र शक्तिपदस्थाने 'प्रयोग'इतिपदेन भाव्यम्। विभिन्नेष्वर्थेषु शक्तानां पदानामेकस्मिन् वस्तुनि प्रयोगः सामानाधिकरण्यमित्यभिप्रायः। यथा–'नीलो घटः' इत्यादौ, नीलपदं नीलत्वविशिष्टे शक्तम्, घटपदन्तु घटत्वविशिष्टे द्वयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे नीलघटरूपे प्रयोगः सामानाधिकरण्यमिति प्रोच्यते।
५.वैष्णवादिग्रन्थेष्विति शेषः।
६.रामानुजादिदर्शनरीत्या जीवब्रह्मणोरंशांशिभावस्वीकारे वस्तुतः तयोः कार्यकारणभाव एव स्वीकृतो भवति सत्कार्यवादाभ्युपगमात्, उभयत्र नास्ति वस्तुतः कश्चिदर्थभेदः।

जीवो नांशो न विकारो वा

परस्यांशो विकारो वा जीवो वाक्येन नोच्यते॥१९॥
जीवात्मना प्रविष्टत्वात् स्वमायासृष्टमूर्तिषु।
निरंशो निर्विकारोऽसौ श्रुत्या युक्त्या च गम्यते॥२०॥
घटाकाशो विकारो वा नांशो वा वियतो यथा।

महावाक्यानामर्थान्तरतानिरासः

त्वमिन्द्रोऽसीतिवद्वाक्यं न खलु स्तुतितत्परम्॥२१॥
न सादृश्यपरं वाक्यमग्निर्माणवकादिवत्।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥
रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥
नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा॥" इति॥१८[3]/२॥

तदिदं मनसि निधाय मानसोल्लास आह– **परस्यांश** इति। अत्र पूर्वोद्धृतगौडपादकारिकायाः–

"मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः॥
सङ्घाताः स्वप्नवत् सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः।" एवं वाक्यविशेषोऽप्यनुसन्धेयो मनीषिभिः।

इत्यनेनावगम्यते– श्रुतिस्मृत्यादिष्वात्मनोऽङ्गत्वविकारत्वादिकं तदुपाध्यभिप्रायमेव, नात्मस्वरूपाभिप्रायम्। इदमेवाभिप्रेत्य 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इति सूत्रे अंशपदमंश इवेति भाषितम् भगवत्पादैः। अंशत्वमात्मन औपाधिकं सर्वत्र विवक्षितम्। तथान्वयादिकमपीति[1]।

वस्तुतस्तु घटादीनामिव देहादेरपि मायाकृतत्वादुत्पत्तिर्विवर्त एव। तच्च मिथ्येति तत्त्वम्। एतेन 'तत्त्वमसि' इति न गौणसामानाधिकरण्यमिति व्याख्यातम्। तर्हि सामानाधिकरण्यं प्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वरूपतः आत्यन्तिकभेदप्रतीतावेव। न चात्र जीवेश्वरयोः स्वरूपतोऽत्यन्तभेदः, किन्तु घटाकाशमहाकाशन्यायेनानुपदोक्तरीत्यौपाधिक एवेति॥१९-२१॥

तमिमर्थं मनसि निधायाह– **न सादृश्यपरमिति**।

१.अन्वयः=फलसम्बन्धः।

न कार्यकारणत्वस्य साधनं मृद्घटादिवत्॥२२॥
न जातिव्यक्तिगमकं गौः खण्ड इतिवद्वचः।
गुणगुण्यात्मकं वाक्यं नैतन्नीलोत्पलादिवत्॥२३॥
नोपासनापरं वाक्यं प्रतिमास्वीशबुद्धिवत्।
न चौपचारिकं वाक्यं राजवद्राजपूरुषे॥२४॥
जीवात्मना प्रविष्टोऽसावीश्वरः श्रूयते यतः।
आत्मा
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारसंहतौ॥२५॥

अस्तु तर्हि मृद्घट इत्यादिवत् कार्यकारणभावनिबन्धनं जातिव्यक्त्यादीनामपि समवायनिबन्धनं सामानाधिकरण्यमिति शङ्कायामाह– **न कार्यकारणत्वस्येति**। तव मृद्घटवत् कार्यकारणभावदृष्ट्या वा स्यात् सत्कार्यवाददृष्ट्या परिणामो भवतीति, विवर्तावस्थायां वा; न चोभयमपि, आत्मनो नित्यस्यानुत्पत्तेः, उत्पत्तेः पूर्वं सत्त्वस्य बाधाभावात्,[१] परिणामविधया कारणत्वं तु 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' इत्यत्र निरस्तमेव आत्मनोऽनित्यत्वापत्तेश्च। अत एव समवायानङ्गीकारात् न जातिव्यक्त्योरिव सामानाधिकरण्यम्, जीवेश्वरयोर्गुणगुणिभावाभावात्,[२] तयोः परस्परनिराकरणाच्च। न गुणगुणिनोरिव विशेष्यविशेषण-भावे सामानाधिकरण्यमित्यधस्तान्निवेदितम्॥२२-२३॥

अस्तु तर्हि उपासनापरं वाक्यमिति शङ्का तु 'न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमेवं रूपं=यथा अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स लोकं जयति' इति[३]। न चाध्यासरूपम्; यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्युपासनेतिवत्। 'सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने– 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। तस्मान्न सम्पदादिपरं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्'[४], तथोपास्ति-क्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि– 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति। तदिदं मनसि निधायाह– **नोपासनापरमिति**। अत्र एवं त्वमसीति जीवे ब्रह्मदृष्टिर्न हि; राजपुरुषे राजबुद्धिवदनर्थायैव स्यादुपासना, सुतराञ्च ब्रह्मणि जीवत्वबुद्धौ राज्ञि राजपुरुषत्वबुद्धिवदिति भावः॥२४॥

ननु कथं जीवपरमात्मनोरभेदः, तयोर्भेदादिति चेत्? तत्र विचारणीयम्– को वा जीवो नामेति? तत्र

१.विना परिणामवादं कार्यकारणभावेन कारणत्वे आत्मनो नित्यस्योत्पत्तिः कथं स्यादित्यापत्तिः। परिणामवादेन कारणत्वे तु कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वं सत्ता न बाधिका भवति, सत एवोत्पादस्य स्वीकारादित्याशयोऽत्र प्रतीयते।

२.जीवत्वेश्वरत्वयोर्गुणगुणिभावाभावादिति पाठो हस्तलेखे। स च न सङ्गतः प्रतिभाति।

३.भाष्येण परास्तेति शेषः।

४.सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छान्दो.६-८-७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह.१-४-१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह.२-५-१९) इत्यादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। ....तस्मान्न सम्पदादिपरं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। पृ.१२३, ब्र.सू.भा.१-४-४.

आत्मसङ्कलनादङ्गैरात्मत्वं प्रतिपाद्यते।

वह्निधीः काष्ठलोहादौ वह्निसङ्कलनादिव॥२६॥

देहमन्नमयं कोशमाविश्यात्मा प्रकाशते।

स्थूलो बालः कृशः कृष्णो वर्णाश्रमविकल्पवान्॥२७॥

यद्यहमर्थो जीवात्मा, तर्हि न युक्तम्; अहमर्थस्यात्मन्यन्तःकरणाध्यासनिष्पन्नानात्मना संवलितरूपत्वात् तत्त्वसाक्षात्कारेणात्मस्वरूपस्यासंसारिण[1] एव मुख्यात्मरूपत्वात्, महाकाशघटाकाशयोरिव नात्यन्ताभेदे विरोधः। जीवत्वं ह्यात्मनः 'अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य' इति श्रुत्याऽन्तःकरणेऽभिव्यक्तसंविद्रूपत्वम्। देहादिष्वात्मबुद्धिस्तु तत्र देहाद्यनात्मनोऽध्यासेन तत्र यथाऽयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासादयो दहतीति व्यवहारः, एवं तैजसान्तःकरणादीनामप्यध्यस्तत्वेनाभेद इत्यैक्ये सामानाधिकरण्यं जीवात्मपरमात्मनोरुपपन्नमित्याह– **जीवात्मने**ति। अहमर्थस्य मिथ्यात्वात्, मुख्यात्मत्वं संविन्मात्रस्यैव इति तस्य संविन्मात्रस्य संविन्मात्रपरमात्मनश्च सामानाधिकरण्यमैक्याभिप्रायमेव। लोष्ठाग्निशुद्धाग्न्योरिव घटाकाशमहाकाशयोरिवेति भावः॥२५-२६॥

अहमर्थो मुख्यात्मान्तःकरणाद्युपाधिविगलितसंविन्मात्रमेव न शरीरादिकम्, तद्विशिष्टं वेति गौडपादकारिका विशदयति श्रुत्युक्तान्नमयादिकोशादिन्यायेनापि–

"रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।
आत्मा तेषां परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितः॥" इति।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ज्ञेयं ब्रह्म प्रस्तुत्य 'तदेषाऽभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ज्ञेयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखात्मकं गुहानिहितात्मतत्त्वरूपेण परामृश्य 'तस्मादेतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः' इत्यादिक्रमेणान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयानां कोशानामात्मा मुख्योऽर्थः, स्वात्मना पञ्चानामपि कोशानामात्मत्वमनन्तरतमेनोपदिश्यते[2]। तत्र स प्रथमं तत्तत्कोशरूपेणोदिष्टः ततस्तत्तत्कोशान्तर्गतमितिवत् 'ततोऽन्यः ततोऽन्यः' इति तत्र तच्छरीरादिरूपो न भवति, यथा[3] घटाकाशे प्रलीनघटो न घट इत्युपदेशपरम्परया तैत्तिरीयोपनिषदात्मतत्त्वं श्रावयति, अन्ततश्च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति तस्य सर्वाधिष्ठानत्वं सर्वज्ञत्वञ्च तत्र ज्ञाप्यते। अत्राप्यसिकोशन्याये समाहृतेऽपि घटाकाशमहाकाशन्याय एवानुसन्धीयते, इति परमात्मैक्यं विना नोपपद्यते इति गौडपादकारिकाभावगतमिममर्थमाह– **देहमन्नमय**मिति। अनेनावगम्यते शरीरादिभिरुपाधिभिः कोशैः कञ्चुकैर्वा संसारे विशिष्टो जीवात्मा तत उपाधिसम्बन्धात् तत्तत्सुखादिभाक्, विगलितसर्वोपाधिस्त्वसंसारी 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति प्रस्तुतःपरमात्मेति गम्यते। तेन चासंसार्यर्हंतत्त्वमेव

१.हस्तलेखे तु '..स्वरूपस्य संसारिण' इति पाठः।

२.'कोशानामत्मत्वानन्तरतमेनोपदिश्यते' इति पाठो हस्तलेखे।

३.तैत्तिरीयोपनिषदि प्रथममन्नं ब्रह्मेत्युक्तम्, अनन्तरं प्राणो ब्रह्मेति, अनन्तरं मनो ब्रह्मेति, अनन्तरं विज्ञानं ब्रह्मेति, तदनन्तरञ्चानन्दो ब्रह्मेति प्रोक्तम्, एष एव दृष्टान्तोऽत्र दर्शितः।

प्राणकोशेऽपि जीवामि क्षुधितोऽस्मि पिपासितः।
संशितो निश्चितो मन्य इति कोशे मनोमये॥२८॥
विज्ञानमयकोशस्थो विजानामीति तिष्ठति।
आनन्दमयकोशाख्ये त्वहङ्कारे पुरा कृतैः॥२९॥
पुण्यैरुपासनाभिश्च सुखितोऽस्मीति मोदते।
एवं कञ्चुकितः कोशैः कञ्चुकैरिव पञ्चभिः॥३०॥
परिच्छिन्न इवाभाति व्याप्तोऽपि परमेश्वरः।
यथा सलिलमाविश्य बहुधा भाति भास्करः॥३१॥
तथा शरीराण्याविश्य बहुधा स्फुरतीश्वरः।
कारणत्वञ्च कार्यत्वं तटस्थं लक्षणं तयोः॥३२॥
शाखायां चन्द्र इतिवन्नैव मुख्यमिदं मतम्।
महाप्रकाशमित्युक्तं स्वरूपं चन्द्रलक्षणम्॥३३॥

ब्रह्मतत्त्वमिति प्रतीयते॥२७॥

कठवल्ल्यादावप्यसंसार्यात्मतत्त्वमेव ब्रह्मतत्त्वमिति 'गुहां प्रविष्टौ' 'त्रयाणामेव चोपन्यासः प्रश्नश्च' इत्यत्र भाष्ये व्यक्तम्। तत्सिद्धमिदम्– 'आत्मा परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितः' इति कारिकार्थ एवमत्रानुसंहितमिति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति प्रस्तुतं ब्रह्म यदि जीवात्मतत्त्वम्, तर्हि अहमर्थस्यान्तःकरणाध्यासाधिष्ठितस्य शुद्धस्य 'जन्माद्यस्य यतः' इति जगत्कारणत्वं कथं लक्षणम्? तत्र जीवस्यैव जगत्कारणत्वे तत्राधिकरणेषु जीव इति पूर्वपक्षता कथमिति शङ्कायामाह– **कारणत्वञ्चेति**। आत्मतत्त्वं ब्रह्मवादे हि विशिष्टम्, अज्ञानोपहितं, अनुपहितं, शुद्धचैतन्यमित्यनाद्यविद्याकल्पितानि त्रीणि रूपाणि, तत्तत्कार्यत्वमौपाधिकं विशिष्टस्य, अज्ञानोपहितं चैतन्यमज्ञानविषयतया विवर्तवादोपादानकारणम्, सर्वाधिष्ठानम्, अन्तर्यामि वा कारणम्। तत्रानुपहितचैतन्यलक्षणतायां जगत्कारणत्वस्याज्ञानोपहित-चैतन्यगतस्य तटस्थलक्षणत्वम्। अज्ञानोपहितलक्ष्यतायान्तु विशिष्टगतं कार्यत्वं तटस्थलक्षणम्। उभयत्र कार्यत्वं कारणत्वं वा कल्पितमेवाज्ञानोपहितगतम्, विशिष्टजीवगतं वा। अतो न कारणब्रह्मविचारप्रसङ्गे जीवपूर्वपक्षताया विरोधः, अध्यासभाष्यस्य सर्वाध्यासोपलक्षणत्वात् नाहङ्कारावस्थामात्रस्येति न सिद्धान्तविरोधः। तत एव 'जन्माद्यस्य यतः' इति न ब्रह्मलक्षणविरोध इति सर्वं सुस्थम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति त्वनुपहितशुद्धस्वरूपलक्षणमिति व्यवस्था॥३२॥

तत्र तटस्थलक्षणोदाहरणं लौकिकमाह–**शाखायामिति**। स्पष्टोर्थः।

अथ स्वरूपलक्षणं सोदाहरणमाह– **महाप्रकाशमिति**। सति चैवं कार्येण कारणस्य सामानाधिकरण्यस्थले 'सदेव सौम्येदम्' इत्यादौ नैक्ये सामानाधिकरण्यम्॥३३॥

सच्चिदानन्दरूपत्वं स्वरूपं लक्षणं तयोः।
एकलक्षणयोरैक्यं वाक्येन प्रतिपाद्यते॥३४॥
तस्मादेकप्रकाशत्वं सर्वात्मत्वमिति स्थितम्।
देवतिर्यङ्मनुष्याणां प्रकाशान्न पृथक् स्थितिः॥३५॥
जीवः प्रकाशाभिन्नत्वात् सर्वात्मेत्यभिधीयते।
एवं प्रकाशरूपत्वपरिज्ञाने दृढीकृते॥३६॥
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं पदमश्नुते।
सकृत्प्रसक्तमात्रेऽपि सर्वात्मत्वे दृढीकृते॥३७॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते।
सर्वात्मभावना यस्य परिपक्वा महात्मनः॥३८॥
संसारतारकः साक्षात् स एव परमेश्वरः।
इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

स्वरूपलक्षणलक्षितयोस्तु सामानाधिकरण्यमैक्ये, 'तत्त्वमसि'इत्यत्र स्वरूपलक्षणलक्षितयोरिव सामानाधिकरण्यादैक्य एव सामानाधिकरण्यमित्युपसंहरति– **एकलक्षणयोरि**ति। वाक्येन= 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति वाक्येन तत्पदार्थस्वरूपलक्षणवाक्येन, 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्ये तु स्वरूपस्य वाक्यार्थस्यैकत्वादैक्य एव सामानाधिकरण्यमवचनसिद्धम्॥३४॥

अतः प्रथमप्रकृतम् 'यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पात्मकं भासते' इति वाक्यनिष्कृष्टब्रह्मात्मत्वस्य सर्वात्मत्वमात्मैकप्रकारत्वमेव, तच्च प्रकाशमानेषु देवतिर्यङ्मनुष्येषु। किं बहुना जडेष्वधमवर्गेष्वपीति सिद्धमित्युपसंहरति– **तस्मा**दिति॥३५॥

जीवात्मतत्त्वस्य प्रकाशाभिन्नत्वेन सर्वात्मत्वज्ञानात् पुनरावृत्तिरहितकैवल्यप्राप्तिरूपफलप्रदर्शनेन प्रकृतश्लोकार्थमुपसंहरति– **जीव** इति। तदेवं तृतीयश्लोके सर्वस्यात्मसत्तैकसत्ताकत्वम्, आत्मप्रकाशैकप्रकाशत्वम्, तेन सर्वात्मत्वञ्च प्रतिपाद्य जीवात्मपरमात्मनोरौपाधिकभेदेऽपि स्वरूपतोऽभेदं प्रतिपाद्य तत्त्वमसीति महावाक्यार्थो भागत्यागलक्षणया व्यवस्थापितः। यस्य श्रवणमनननिदिध्यासनानामन्ते साक्षात्कारो जायते, यदभ्यासपाटवेन कैवल्यापरनामा मोक्षश्च भवतीति भगवत्पादानामुपदेशरहस्यस्य सारांशः॥३६-३७ १/२॥

तमिममर्थमाह– **सर्वात्मभावने**ति। तत्र पूर्वश्लोके सप्तमभूमिकायामारूढो जीवन्मुक्तो निरूपितः। अत्र तु विदेहमुक्तिरिति विवेकः, तेन शिवलोके महीयत इत्यस्य न विरोधः। तत्र तस्योत्क्रान्तिकया शिवलोकप्राप्तिर्वा स्वशरीरस्यैव सर्वात्मना (तत्रा?)[१]प्रयोजकत्वात् शिवलोकत्वं वेत्यन्यदेतत्। तत्र द्वितीये

१.अत्र हस्तलेखे 'तत्रा' इत्यस्य स्थाने 'पन्था' इति पाठः।

प्रबन्धे मानसोल्लासे तृतीयोल्लाससङ्ग्रहः॥३९॥

॥इति श्रीमानसोल्लासे तृतीयोल्लासः॥

पक्षे शिव एव लोक इति व्याख्ययाऽऽत्मैव शिवलोकपदार्थः। अधिकमन्यत्र॥३८॥

इतः परं तृतीयोल्लासमानसोल्लासस्योपसंहारः॥३९॥

अत्रामरनाथादयो वदन्ति—

"यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं[1] भासते
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यत्साक्षात्करणाद् भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥"

इत्यत्र पादत्रयं प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्याद्वैतसिद्धान्तस्य च साधारणम्। परन्तु प्रथमपादो न शङ्करमतेनोपपद्यते। तत्र हि परमात्मनः स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पात्मकमिति विश्वस्य सदात्मकत्वं सत्यत्वं प्रतीतौ विशदयति। 'स्फुरणं भासते' इति तु प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्याभासवादमेवानुसरति। द्वितीयपादे 'साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा' इत्यादि, प्रथमश्लोके 'आत्मानमेवाद्वयम्' इति निर्देशमनुसृत्यैवाद्वैतिनां विवरणम्। परन्तु प्रत्यभिज्ञानदर्शनरीत्याऽहङ्ग्रहोपासनपरतया विवरणमेव युक्तमिति। तत्पदं ह्यत्रेश्वरपरमेवेति।

अत्रायमद्वैतिनां सिद्धान्तः— तत्र प्रथमपादेन 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने' इति मानसोल्लासव्यवस्थापितेश्वरत्वं जगत्कारणत्वेनेश्वरस्योल्लेखात् ज्ञाप्यते। द्वितीयेन गुरुत्वमुपदेष्टृत्वस्योल्लेखात् प्रतीयते। तृतीयेन आत्मत्वमुपदिश्यते इति।

तत्र प्रत्यभिज्ञानदर्शन आभासवादो वर्ततां नाम, अद्वैतदृष्ट्या विवर्तवादो वर्तत एव, इति तत्परतया तत्र प्रथमपादयोजनं कथं विरुद्धम्? तत्र 'स्फुरणं भासते' कार्यात्मना भानमात्रं विवक्षितम्, न तु तदात्मना भावोऽपि, इति नात्राभासवादः प्रपञ्चे। प्रत्यभिज्ञानदर्शने प्रपञ्चनिर्मातृत्वस्य प्रपञ्चसत्यत्वस्य च स्वीकारात्। अयमेव न्यायो द्वितीयपादेऽपि— तत्त्वमसीतिवाक्यस्याद्वैतमतरीत्या योजनस्याबाधात्। 'आत्मानमद्वयम्' इति तु विश्वमिथ्यात्वेनाद्वयत्वं नान्यत्राद्वैतसिद्धान्तादुपपद्यते, तत्राहङ्ग्रहोपासनवादः समन्वयसूत्रभाष्ये भगवत्पादैरेव निरस्तः। अतस्तदनुसारेणैव व्याख्येयमित्यत्र न विनिगमना। प्रथमश्लोकेऽत्र च साक्षात्कारस्यैवात्रोल्लेखात् तस्य च प्रमाण(तन्त्रस्य)[2] वस्तुतन्त्रस्य वा 'तत्त्वमसि' इतिवाक्येन निर्देशो नोपासनापरतायामुपपद्यते, साक्षात्कारेऽप्युपासनशब्दप्रयोगोऽद्वैतमते न विरुद्ध इति दशमश्लोकार्थविवेचनावसरे विशदीकरिष्यते, येन पूर्वापरविरोधो न प्रसरति। तत्पदार्थस्तु मायोपहितब्रह्मपरमपि पर्यवसानतो निर्विशेषसंविन्मात्रपर इति व्यक्तं मानसोल्लासेऽत्र प्रकरणे। तत्र 'गङ्गायां घोषः' इतिवन्न जहल्लक्षणा भवेत्, नाजहल्लक्षणापि स्यात् 'श्वेतो धावति' इतिवाक्यवत्, इति सर्वदर्शनसम्मतम्। तदनुवादेन जहदजहल्लक्षणासमर्थनमद्वैतसिद्धान्तपरिपोषणार्थमपेक्ष्यते इति खण्डनीयत्वेन तदुल्लेखेन प्रत्यभिज्ञा-

१.असत्कल्पात्मकमिति पाठो हस्तलेखे।

२.कोष्ठस्थोंशो हस्तलेखेऽस्पष्टः। प्रमाणतन्त्रस्य इति तु पठनीयम्।

दर्शनपक्षपातिता न मानसोल्लासस्य सङ्गता। अन्नमयादौ कोशे कञ्चुकशब्दप्रयोगमात्रेण प्रत्यभिज्ञान-दर्शनप्रत्यभिज्ञा न विकल्पसहा, आवरणमात्राभिप्रायत्वात् कञ्चुकशब्दप्रयोगस्य। न हि तैत्तिरीयोपनिषदुक्त-रीत्या सर्वान्तरत्वेन जाग्रदादिसुषुप्तान्तजीवस्वरूपविवेचनेन ब्रह्मैव केवलमद्वयं संविन्मात्रस्वरूपं जीवस्वरूपमहम्प्रत्ययागोचरं प्रत्यभिज्ञानदर्शने, येन तैत्तिरीयोपनिषदोऽपि प्रत्यभिज्ञानदर्शने तात्पर्यमुन्नीयेत, इति तृतीयोल्लासस्यापि न प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्य दर्शनेऽपि तात्पर्यम्।

यत्तु– प्रथमे पादे 'सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते' इत्युल्लिखितस्य, तत्र सदात्मकमित्यनेन सत्प्रतीतिविषयत्वं सत्तादात्म्येनैव विवक्षितम्। अतो न प्रपञ्चसत्यत्वं तेन मन्यते, अत एव– असत्कल्पमिति। तेन हि मुख्यमसत्त्वमपि वार्यते, अन्यथा– सदात्मत्वं बाधितं स्यात्। अतोऽसद्भिन्नत्वमपि तेन विवक्ष्यते, अतो विश्वानिर्वचनीयत्व एवास्य तात्पर्यम्।

अत्रासत्त्वं क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं, तद्भिन्नत्वं त्वनिर्वचनीयस्यापि सदधिष्ठानतादात्म्यात् सदात्मत्वस्याविरोधि। अतो नात्र विरोधलेशोऽपि।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां तृतीया वर्धिनी।।

ॐ

अथ मानसोल्लासे

चतुर्थोल्लासः

वस्तुसत्ताया ईशसत्तातिरिक्ततायाः खण्डनम्

स्वतः सन्तः प्रकाशन्ते भावा घटपटादयः।
नेश्वरस्य समावेशादित्यस्योत्तरमुच्यते।।१।।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिःस्पन्दते।

अतीते श्लोकेऽपरप्रकाशैकप्रकाशत्वं जडानां सर्वेषां व्यक्तीकृतम्, तत्तु बाह्यानां कदाचन परोक्षम्, कदाचनापरोक्षम्, कदाचन प्रकाशते, कदाचन न प्रकाशते। तत्र प्रकाशाप्रकाशयोर्निमित्तं मनसो बहिर्निर्गमेन तत्तदाकारवृत्त्याऽऽवरणभङ्गात् प्रकाशः, अन्यथा त्वप्रकाशः, आन्तराणां तु साक्ष्येकभास्यानां प्रकाश एव। स च जीवसाक्षिभास्यनिबन्धनो जीवस्य परिच्छिन्नत्वेनानुभवात्, न सर्वेषां सर्वदा भवति, स्थितप्रज्ञानां तु जीवो न परिच्छिन्नत्वेनानुभूयते, किन्त्वद्वयत्वेनानुभवादपरिच्छिन्नत्वेनैवानुभवः। अतस्तदा स परमात्मरूपेणैव भासते, न हि जीवात्मत्वातिरिक्तं परमात्मतत्त्वं नाम, असंसार्यात्मन एव परमात्मत्वात्। अतः समाध्यवस्थायां तत उत्थानदशायां वा सर्वेषां चक्षुरादिद्वाराणां, किं बहुनाऽन्येषामपि द्वाराणां विवृततयाऽन्तःकरणं तदीयं सर्वैर्द्वारैर्निर्गच्छति, तद्द्वारा चासंसार्यात्मत्वमपि सर्वैः सङ्गच्छते। इदमेव मत्त्वा गीतायां-

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।" इत्युक्तम्।

घटपटादयः स्वत एव स्वयमात्मन एव वा प्रकाशन्ते प्रमातृप्रकाशाधीनैकप्रकाशत्वादितिशङ्कामुत्तरितुं चतुर्थश्लोक इति मानसोल्लासोऽवतारयति–**स्वत** इति। स्वतः=स्वयम्, जीवात्मन एव वा नेश्वरादित्यर्थः।।१।।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितेतिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रचतुर्थश्लोकस्य व्याख्या

नानेति। 'नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरमि'त्यनेन घटोदरस्थाने देहान्तःस्थानं विवक्ष्यते, नानाछिद्रपदेन बहुतरनाडीस्थत्वेन चक्षुरादिमार्गा विवक्ष्यन्ते। महादीपपदेनापरिच्छिन्नतया प्रकाशमानानुपहितचैतन्यं, अज्ञानोपहितं कारणं, ईश्वररूपं वा विवक्ष्यते। तेन बहुजीवव्यावृत्तिः, स्थितप्रज्ञस्वरूपं वा तदिति फलति। ज्ञानं वृत्त्युपहितप्रकाशो वृत्तिर्वा, वृत्तेरेव चक्षुरादिद्वारा निर्गमसम्भवात्, चैतन्यमात्रस्य तदसम्भवादित्यर्थः। जानामीतिप्रत्ययः स्थितप्रज्ञस्य वृत्त्युपहितसर्वात्मविषयः सर्वतो

जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत् समस्तं जगत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥४॥

अस्यायं भावः–

अहमित्यनुसन्धाता जानामीति न चेत् स्फुरेत्।
कस्य को वा प्रकाशेत जगच्च स्यात् सुषुप्तवत्॥२॥
प्रागूर्ध्वं चासतां सत्त्वं वर्तमानेऽपि न स्वतः।
तस्मादीशे स्थितं सत्त्वं प्रागूर्ध्वत्वविवर्जिते॥३॥
स्वयमेव प्रकाशेरन् जडाः यदि विनेश्वरम्।
सर्वं सर्वस्य भासेत न वा भासेत किञ्चन ॥४॥
तस्मात् सर्वज्ञमज्ञं वा जगत् स्यादेकरूपकम्।

व्याप्तसर्वविषयकवृत्त्युपहितेश्वरसम्बन्धो वा। स्थितप्रज्ञस्याहं जानामीतिप्रत्ययो हि तस्यानावृतात्मत्वस्वरूपेश्वरानुभव एव, न परिच्छिन्नबद्धजीवसम्बन्धी, समाध्यवस्थायां व्युत्थितावस्थायां[१] तस्य स्वस्यापरिच्छिन्नत्वेनैवानुभवात्। अत एव गौडपादकारिका "तेषामात्मा परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितम्" इति। दक्षिणामूर्तिरिव स्वत एवेश्वरोऽपि स्थितप्रज्ञावस्थरूपादपि वाऽऽत्मानं पश्यन् परानपि स्थितप्रज्ञात्मवत् स्वरूपान् सूचयतीति हृदयम्।

इदमनेन ज्ञाप्यते– 'जानामी'तीश्वरस्य स्थितप्रज्ञप्रकाशाधीन एव प्रकाशो घटपटादीनां भावानां न तु जीवात्मप्रकाशादेव बद्धावस्थायां जीवस्य प्रकाशोऽपि, तस्य वस्तुनः परमात्मरूपत्वात् स्वयमपि प्रकाशः स्वस्य परमात्मरूपताप्रयुक्त एव, परन्तु बद्ध आत्मानं ततोऽभिन्नं परिच्छिन्नं च मन्यते स्वत एव प्रकाशो घटपटादीनामिति। इदं तु 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतिविरुद्धम्। तदिदं विशदयति–**अहमित्ये**ति। जानामीत्यनुभवितृप्रकाशैकप्रकाश एव ज्ञेया घटादय इति बद्धानुभवप्रत्यक्षम्। अयमेव न्यायः स्थितप्रज्ञेऽप्यनुसन्धेयः। विशेषस्तु– सर्वदा सर्वं स्थितप्रज्ञानां भासते, परन्तु परमात्माभिन्नतया सर्वात्मतया वा, बद्धानां तु न तथेति भावः॥२॥

अमुमर्थं सत्तान्यायेन द्रढयति– **प्रागूर्ध्वमि**ति। परमेश्वरप्रकाशाधीनप्रकाशत्वाभावे घटादीनां सर्वदा प्रकाशापत्तिः, अन्यथा परमेश्वरसत्ताधीनसत्ताकत्वाभावे सर्वेषां सर्वदाऽसत्त्वापत्तिः॥३॥

अथ घटादीनां स्वत एव प्रकाशे जीवरूपेण ईश्वररूपेण वा प्रकाशं विना प्रकाशे ईश्वरवत् तेषामपि सर्वदा प्रकाशापत्तिः। अतः सर्वदाऽप्रकाशः सर्वदा प्रकाशो वा मा भूदिति परमेश्वरप्रकाशाधीनप्रकाशत्वमेव स्वीकर्तव्यम्। इदमेव स्फुटयति– **स्वयमेवे**ति। सर्वं सर्वस्य भासेतेति सर्वमित्यस्योपलक्षणम्। स्वतःप्रकाशत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदा भासेत, अन्यथा सर्वं सर्वस्य सर्वदा न प्रकाशेतेति योजना॥४॥

१.अत्र हस्तलेखे 'व्युरिदितावस्थायां' इति पाठः।

तुल्ये स्वयंप्रकाशत्वे जडचेतनयोर्मिथः॥५॥
तुल्यमेव प्रसज्येरन् ग्राह्यग्राहकतादयः।
इन्द्रियाणामनियमाच्चाक्षुषाः स्यू रसादयः॥६॥
मलिनामलिनादर्शपश्चात्प्राग्भागतुल्ययोः।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्त्योरन्तःकरणभागयोः॥७॥
प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशः कर्ता ज्ञातेति कथ्यते।
बुद्धिः सत्त्वगुणोत्कर्षात् निर्मलो दर्पणो यथा॥८॥
गृह्णाति विषयच्छायामात्मच्छायाऽनुभावतः।
अन्तःकरणसम्बन्धाद् निखिलानीन्द्रियाण्यपि॥९॥

नाडीनां विवेचनम्

रथाङ्गनेमिवलये कीलिता इव कीलकाः।

ततः फलितमर्थमाह– **तस्मादिति**। स्वतः प्रकाशत्वे सर्वं सर्वज्ञं स्यात्, अप्रकाशत्वे सर्वमज्ञं स्यात्। उभयोः स्वयंप्रकाशत्वे तुल्यग्राह्यग्राहक भावोऽपि स्यात्। न केवलं सामान्यतो ग्राह्यग्राहकभाव एव किन्तु तत्तदिन्द्रियग्राह्यत्वमप्यनियमं स्यात्। यतः स्वयंप्रकाशत्वेन न प्रकाशार्थमिन्द्रियाणामपेक्षा। अतो रसादयोऽपि चाक्षुषा स्युरिति भावः॥५-६॥

यदीश्वरप्रकाशाधीनप्रकाश एव प्रकाशो घटादीनां स्यात्, तस्य स्वतः प्रकाशत्वात्, तदभिन्नत्वाच्च सर्वदा जानाति कर्ता चेश्वरः स्यादित्याशङ्कायामाह– **मलिनामलिनेति**। मलिनादर्शे, अमलिनादर्शे वा तस्य पश्चाद्भागे, प्राग्भागे च, तुल्ये चान्तःकरण आदर्शस्थलेऽन्तःकरणवृत्तौ प्रतिबिम्बितः, स चैव ज्ञाता कर्ता वा भवति, तत्रान्तःकरणस्य क्रियाशक्तेः प्रतिफलनात् कर्ता, ज्ञानशक्तेः प्रतिफलनात् ज्ञाता। तत्र स्थितप्रज्ञस्य सदाऽन्तःकरणस्य ज्ञानशक्तेरेवाविर्भावात्, सदा प्रकाशस्वभावात्ममात्रप्रकाशः, न तु घटादीनाम्। यथासम्भवं कर्ता च ज्ञाता चेशो जीवो वा भवतीति निष्कर्षः। तत्र ज्ञानशक्तिप्राधान्यमन्तःकरणस्य सत्त्वगुणप्रकर्षो यदा तदाऽऽत्मन एव प्रतिफलं गृह्णाति, आत्मन एवानुभवोऽपि भवति। अयमेव न्याय इन्द्रियेष्वपि यान्यप्यन्तःकरणद्वारैव विषयान् गृह्णन्ति, इतीन्द्रियाणां नियमात् न सर्वस्य सर्वप्रकाशापत्तिः, आत्ममात्रानुभवो वा स्यात्। अत आत्मन एव स्वप्रकाशत्वम्, तदधीनप्रकाश एव प्रकाशो घटादीनामिति सिद्धम्।

अन्तःकरणनैर्मल्ये आत्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वात् तस्य सर्वदा भानं समाध्यवस्थायाम्। अन्यथा नात्मनोऽपि सम्यग्भानम्, विषयाणान्तु सत्त्वगुणोत्कर्षदशायामपीन्द्रियद्वारा[1] सत्त्वगुणोत्कर्षतारतम्ये तदनुगुणं भानम्॥७-९॥

१. '..दशायामपीन्द्रियाणि द्वारा' इति पाठो हस्तलेखे।

नाड्योऽन्तःकरणे स्यूताः जालसंस्यूतसूत्रवत्।।१०।।
ताभिस्तु गोलकान्ताभिः प्रसर्पन्ति स्फुलिङ्गवत्।
करणानि समस्तानि यथास्वं विषयं प्रति।।११।।
देहस्य मध्यमं स्थानं मूलाधारमितीर्यते।
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।।१२।।
त्रिकोणोऽधोमुखाग्रश्च कन्यकायोनिसन्निभः।
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।।१३।।
प्राणाग्निबिन्दुनादानां सावित्री सा सरस्वती।
मूलाधाराग्रकोणस्था सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्रगा।।१४।।
मूलेऽर्धच्छिन्नवंशाभा षडाधारसमन्विता।
तत्पार्श्वकोणयोर्जाते द्वे इडापिङ्गले स्थिते।।१५।।

अत्रैवं शङ्का भवति– यद्यन्तःकरणस्येन्द्रियद्वारा बहिर्गमनादेव विषयाणां प्रकाशस्तर्हि बद्धानामिव स्थितप्रज्ञानामपीन्द्रियानियमात् सर्वभानोपपत्तिरित्यनुपपन्नम्, नानाच्छिद्रतोऽन्तःकरणस्य निर्गमने न सर्वविज्ञानम्। कथञ्च न चाक्षुषा रसादय इति, तदर्थमन्तःकरणनिर्गमद्वाराणि नाडीविशेषान् देहगतान् तेषामन्तःकरणेन सम्बन्धञ्च गृह्णाति– रथाङ्गनेमीति। रथाङ्गस्य=चक्रस्य, नेमौ=कुम्भे यथाऽराः कीलिताः, तथाऽन्तःकरणे सर्वाः नाड्यः स्यूताः, जालेषु सूत्राणीव इति सर्वनाडीद्वाराऽन्तःकरणस्य निर्गमो नानाच्छिद्रद्वारा सर्वतो भवतीति भावः।।१०।।

तदेतदाह– ताभिस्त्विति। तत्तन्नाडीनामन्तःकरणे सीवनेन तस्य च तत्तदिन्द्रियेण यथासम्बन्धेन यथा च विषयमेव सर्वनाडीद्वाराऽऽगत्यन्ताःकरणस्य[1] निर्गमात् सर्वदा तत्तद्विषयविज्ञानं यथायथं भवति। स्थितप्रज्ञानां तु तत्तद्विषयाणां मिथ्यात्वेनैवानुभवात् तत्रानभिनिवेशमात्रं विशेष इति[2]। सर्वथा न चाक्षुषा रसादयो भवन्तीति भावः। इतः परे शरीरे कति नाड्यः कस्मिंश्च स्थाने कीलिता इति वर्णयितुं तत्र योगशास्त्रसिद्धस्थानानि तत्तत्कार्याणि, तस्याः तस्याः कुत्र कियत्पर्यन्तं सीवनमित्यादि निरूपयति।

तत्र ध्यानबिन्दूपनिषत्–

"आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।।
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम्।।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।

१. 'गत्यन्तःकरणस्य' इति पाठो हस्तलेखे।
२. 'विशेष इति' भेद इत्यर्थः।

नाडीचक्रमिति प्राहुः तस्मान् नाड्यः समुद्गताः।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च नयनान्तं प्रधावतः॥१६॥
नाडीचक्रेण संस्यूते नासिकान्तमुभे गते।
नाभिमण्डलमाश्रित्य कुक्कुटाण्डमिव स्थितम्॥१७॥
पूषा चालम्बुषा नाडी कर्णद्वयमुपाश्रिते।
नाडी शुक्लाह्वया तस्माद् भ्रूमध्यमुपसर्पति॥१८॥
सरस्वत्याह्वया नाडी जिह्वान्ता वाक्प्रसारिणी।
नाडी विश्वोदरी नाम भुङ्क्तेऽन्नं सा चतुर्विधम्॥१९॥
पीत्वा पयस्विनी तोयं कण्ठस्था कुरुते क्षुतम्।
नाडीचक्रात् समुद्भूताः नाड्यः तिस्रस्त्वधोमुखाः॥२०॥
राका शुक्लं सिनीवाली मूत्रं मुञ्चेत् कुहूर्मलम्।
भुक्तान्नरसमादाय शङ्खिनी धमनी पुनः॥२१॥

योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा॥
मस्तकैर्मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥
चतुरस्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात् प्रतिष्ठितम्।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम्॥
स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते।
मणिवच्चक्षुषा यत्र वायुना पूरितं वपुः॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः॥
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति।"

पुनरिदं–

"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत्॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।

कपालकुहरं गत्वा मूर्ध्नि सञ्चिनुते सुधाम्।

अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता।।

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा।

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।।

इडा पिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः।

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता।।

सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः।।" इति।

अत्र योगचूडामण्युपनिषत् यथा ध्यानबिन्दूपनिषत्–

"प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः।।"

इति प्रस्तुत्य–

"इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता।।

सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।।

यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा।

कुहूस्तु लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी।।"

गान्धार्यादीनां स्थानविशेषं परं निर्दिशतीति विशेषः।

अत्र योगशिखोपनिषदः मानसोल्लासस्य च दृष्ट्या नाडीनां स्थानकार्यादिनिर्णयः। योगशिखोपनिषत्तु–

"प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः।।"

इत्यपरिगणय्य इडापिङ्गलादीन्यन्यथा प्रस्तौति–

"मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुम्नाद्वादशाङ्गुला।

मूलार्धच्छिन्नवंशाभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता।।

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः पार्श्वद्वये गते।

विलम्बिन्यामनुस्यूते नासिकान्तमुपागते।।

इडायां हेमरूपेण वायुर्वामेन गच्छति।

पिङ्गलायां तु सूर्यात्मा याति दक्षिणपार्श्वतः।।

विलम्बिनीति या नाडी व्यक्ता नाभौ प्रतिष्ठिता।

तत्र नाड्यः समुत्पन्नास्तिर्यगूर्ध्वमधोमुखाः।।

तन्नाभिचक्रमित्युक्तं कुक्कुटाण्डमिव स्थितम्।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते।।

शतञ्चैका च नाड्यः स्युः तासामेका शिरोगता॥२२॥
तयोर्ध्वमायन् मुक्तः स्यादिति वेदानुशासनम्[१]
यदा बुद्धिगतैः पुण्यैः प्रेरितेन्द्रियमार्गतः॥२३॥

पूषा चालम्बुषा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते।
शूरा नाम महानाडी तस्माद्भ्रूमध्यमास्थिता।
विश्वोदरी तु या नाडी सा भुङ्क्तेऽन्नं चतुर्विधम्॥
सरस्वती तु या नाडी सा जिह्वान्तं प्रसर्पति।"

योगशिखोपनिषदो विशेषस्तु नाडीनां कासाञ्चन नामभेदः, कार्यभेदश्च। तद्यथा–

"राकाह्वया तु या नाडी पीत्वा च सलिलं क्षणात्॥
क्षुतमुत्पादयेद्घ्राणे श्लेष्माणं सञ्चिनोति च।
कण्ठकूपोद्भवा नाडी शङ्खिन्याख्या त्वधोमुखी॥
अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि सञ्चिनुते तदा।
नाभेरधोगतास्तिस्रो नाड्यः स्युरधोमुखाः॥
मलं त्यजेत् कुहूर्नाडी मूत्रं मुञ्चति वारुणी।
चित्राख्या सीवनी नाडी शुक्रमोचनकारिणी॥
नाडीचक्रमिति प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु॥" इति।

अत्र दशनाडीस्थाने पञ्चदश नाड्यः परिगणिताः। अत्र मानसोल्लासः प्रायेण योगशिखोपनिषदमनुसरति–**देहस्येति**। इति वेदानुशासनम्='शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ती'ति॥१२-२२$^{1}/_{2}$॥

तदेवञ्च नाडीचक्रव्यवस्थया बहूनि द्वाराणि प्रकाराणि निर्गमस्य वर्णितानि, तेन नानाच्छिद्रघटत इव शरीरगतप्रकाशनिर्गमद्वाराणि बहूनि वर्तन्त इति। अतः कस्यां कस्यामवस्थायां केषां केषां द्वारेण प्रकाशनिर्गमः, किञ्च नाम तदवस्थाया इति विवेचयति– **यदा बुद्धिगतैरिति**। धर्माधर्मादीनां नाद्वैतमत आत्मधर्मत्वम्, अतो बुद्धिगतैः पुण्यैरिति पापस्याप्युपलक्षणम् पुण्यपापैरिति। जीवो यदेन्द्रिय-मार्गेणान्तःकरणद्वारा विषयदेशं गत्वा वर्तते, विषयान् यदा भुङ्क्ते तदा जागरितावस्था। इदं बद्धजीवाभिप्रायम्, स्थितप्रज्ञानां जागरितावस्थायां वा। तदा हि स[२] पुण्यफलान्वयेनाभिनिवेशेन[३] भुङ्क्त इति। तदभिप्रायं ना[४]पुण्यैरिति।

१.वेदान्तशासनमिति पाठान्तरम्।

२.स्थितप्रज्ञः।

३.भोगस्य साधारणत्वेऽप्यभिनिवेशसद्भावासद्भावाद्विशेषो बद्धस्थितप्रज्ञयोः।

४.अत्र 'वा' इति पठनीयम्। स्थितप्रज्ञानां सुखदुःखयोरभिनिवेशाभावतौल्यात् सर्वो भोगः पुण्यस्यैवेति वक्तुं शक्यत इति भावः। 'सन्तुष्टः सततम्' इतिगीतोक्तेस्तेषां प्रतिकूलभोगा अपि न दुःखायेति, अभिनिवेशाभावात् पुण्यैरितिवत् पापैरिति न वक्तुं शक्यमिति ध्येयम्।

शब्दादीन् विषयान् भुङ्क्ते तदा जागरितं भवेत्।
संहृतेष्विन्द्रियेष्वेव जाग्रत्संस्कारजान् पुमान्॥२४॥
मानसान् विषयान् भुङ्क्ते स्वप्नावस्था तदा भवेत्।
मनसोऽप्युपसंहारः सुषुप्तिरिति कथ्यते॥२५॥
तस्मान् मायासमाच्छन्नः सन्मात्रो वर्तते पुमान्।
मूढो मत्तोऽज्ञ इत्येवं मायावेशात् प्रकाशते॥२६॥
सुखमस्वाप्स्वमित्येवं प्रबोधसमये पुमान्।
सच्चिदानन्दरूपः सन् सम्यगेव प्रकाशते॥२७॥

नानाच्छिद्रैः विषयाणां स्वतः प्रकाशेऽपि न सर्वानभिनिवेशेन पश्यति, तथापि प्रारब्धभोगानां भोगैकनाश्यत्वात्तदा नाभिनिवेशेन विषयान् भुङ्क्ते, अन्यस्तु सर्वमभिनिवेशेनैव पश्यति, भुङ्क्ते च न केवलं पुण्यफलं किन्तु पापफलमपीति॥२३१/२॥

इतः परं स्वप्नावस्थां लक्षयति—**संहृतेष्विति**। इदमपि बद्धाभिप्रायमेव, स्थितप्रज्ञस्य तुरीयावस्थारूढस्य जाग्रत्स्वप्नत्वात् तस्येन्द्रियमार्गतो मनोगमनेऽपि 'मनो नात्रं तस्य लगति, यतः पश्यन्नपि न पश्यति= इन्द्रियाणि तस्य पश्यन्ति, (नासौ,) अभिनिवेशाभावात्'। तथा च 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' इत्यादौ तृणस्पर्शवदेव विषयानयं पश्यतीति भावः। तथा च तत्र तस्य दृष्टिसृष्टिरेव, प्रतिभासमात्रशरीरत्वात्। स्वप्नानां तेन क्षणं भानेऽपि न कदाचिदपि स्मरति, किन्तु सर्वं दृश्यमात्रं बाधितमेव पश्यति। तदानीमात्मसाक्षात्कारेण तत्र मिथ्यात्वनिश्चयात्। तदानीमपि सर्वद्वारैः करणानां निर्गमेऽपि पश्यन्नपि न पश्यति इति न्यायेनैव व्यवहरतीत्यर्थः॥२४१/२॥

अथ सुषुप्तिं लक्षयति-**मनसोऽपीति**। इदं बद्धानां दृष्ट्या न तु स्थितप्रज्ञानाम्। आद्यावस्था सुषुप्तिः मायाशब्देनाज्ञानविवक्षणात् तेषां विषयाणामज्ञानेनैव तत्रैव सुषुप्तिः न त्वात्मनः इति 'जाग्रत्येव सुषुप्तस्ये'ति न विरुद्ध्यते। तस्य हि विषयाणां सतामपि नेन्द्रियेण ग्रहणमिति भावार्थः। जाग्रति विषयाणामिन्द्रियेण ग्रहणम्, स्वप्ने तु मनसा, सुषुप्तौ केनापि कस्यापि न ग्रहणम्। आत्मनः स्वप्रकाशस्यापि नाज्ञानेनाऽऽवरणाभाव इति निष्कर्षः॥२५१/२॥

जाग्रत्सुषुप्त्योः प्रकाशाप्रकाशौ विशेषः, स्थितप्रज्ञानां तत्र यदि प्रकाशो यदि विषयाणां तर्हि तदा बन्धावस्था। समाधौ तु तद्विपरीता, तदानीमात्मनः प्रकाशः, विषयाणामप्रकाश इति विवेकः। जागरावस्था विषयेषु प्रथमे, आत्मनि तु सुषुप्तिः, तद्विपरीतं तु समाधौ। इदमेवाभिप्रेत्योक्तम्—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

मायासमाच्छन्नत्वम्पदार्थबद्धपुरुषस्य किं लक्षणमित्याह—**मूढ इति**। इदं व्यस्तमभिप्रायम्॥२६॥

इत्थं जगत् समाविश्य भासमाने महेश्वरे।
सूर्यादयोऽपि भासन्ते किमुतान्ये घटादयः॥२८॥
तस्मात् सत्ता च भावानां ईश्वराश्रयणाश्रया।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च श्रुत्या ब्रह्मोपदिश्यते॥२९॥
जाग्रत्स्वप्नोद्भवं सर्वमसत्यं जडमन्धवत्।

जीवेश्वरब्रह्मविवेकः

ईश्वरश्चाहमित्येवं भासते सर्वजन्तुषु॥३०॥
निर्विकल्पश्च शुद्धश्च मलिनश्चेत्यहं त्रिधा।

प्रबोधसमयस्तु–"सच्चिदानन्दरूपःसन् सम्यगेव प्रकाशते"इति॥२७॥

तदेवं परमेश्वरप्रकाशाधीनप्रकाशत्वं सर्वस्य जगतः उपसंहरति– **इत्थमिति**। न केवलं घटादयः किन्तु सूर्यादयोऽपि स्वरूपतो जडा एवेति परमेश्वरप्रकाशाधीनप्रकाशत्वमेव तेषामपि। तथा च श्रुतिः–

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥" इति॥२८॥

प्रकाशन्याय एव सत्तायामपीति पूर्वोक्तमर्थं स्मारयति– **तस्मादिति**। ईश्वराश्रयणाश्रया= ईश्वराश्रयणमेव गतिरस्या अपीति भावः।

अथ जगत्परमेश्वरयोः स्वरूपवैलक्षण्यमाह– **सत्यमिति**। अत्र ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति। तत्र सत्यपदमनृतव्यावृत्तपरम्, ज्ञानञ्च जडव्यावृत्तपरम्,इति ब्रह्मणोऽसत्यव्यावृतत्वे बोधिते तुल्यवित्तिवेद्यतया ब्रह्मेतरस्यासत्यत्वम्, जडत्वमस्वप्रकाशत्वाख्यं च ज्ञाप्यते। त च ब्रह्मेतराः जाग्रत्स्वप्नोद्भवा एव। सुषुप्तावस्थायामप्यात्मनः प्रकाशो वर्तते, परन्तु स्वप्रकाशमपि तत् सुषुप्त्यावृतमेव प्रकाशते, कुम्भस्थदीपवत् सुषुप्त्यवस्थायामज्ञातमप्यात्मनैव प्रकाशत इति। सति चैवं 'नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरम्' इति जाग्रत्स्वप्नभावाभिप्रायमिति। तेन सुषुप्त्यवस्थायां प्रकाशनिर्गमाभावेऽपि न क्षतिः। तदानीमज्ञानभानन्तु तदुपहितत्वेनात्मनः साक्षित्वात् साक्षिणैवेति भावः॥२९१/२॥

ननु जानामीत्युत्तमपुरुषप्रयोगादहमर्थस्यैव सर्वत्रानुवेधो दृश्यते, न तु परमेश्वरस्य, सति चैवं 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुत्याः कथमत्र सङ्गतिरित्याशङ्क्याह–**ईश्वरश्चाहमिति**। अज्ञानाश्रयो जीव इति मण्डनमतम्, तदेव सुरेश्वरेणाप्यत्रानुसन्धीयते। तत् त्रिविधम्– विशिष्टम्,अज्ञानोपहितम्, अनुपहितञ्चेति। तत्र विशिष्टेऽज्ञानं विशेषणम्, तत्रान्तःकरणाध्यासः तद्धर्मसुखदुःखादिमत्ता च। द्वितीयन्त्वज्ञानोपहितम्, उभयत्राज्ञानोपाधिकत्वेऽप्येकत्र विशेषणत्वमुपाधेः, अपरत्रोपाधित्वमिति विवेकः॥३०॥

तत्र द्वितीयतृतीययोरप्यहंशब्दप्रयोगो विशेषणांशपरित्यागेऽपि भूतपूर्वगत्या न विरुध्यते। यथा ' न त्वेवाहं जातु नासम्' इत्यत्र संविन्मात्रेऽहंशब्द इति विस्तरेणात्रैव प्रथमश्लोकावतारणावसरे।

निर्विकल्पं परं ब्रह्म निर्धूताखिलकल्पनम्॥३१॥

धूल्यन्धकारधूमाभ्रनिर्मुक्तगगनोपमम्।

विवेकसमये शुद्धं देहादीनां व्यपोहनात्॥३२॥

यथाऽन्तरिक्षं संक्षिप्तनक्षत्रैः किञ्चिदीक्ष्यते।

देहेन्द्रियादिसंसर्गात् मलिनं कलुषीकृतम्॥३३॥

यथाकाशं तमोरूढं स्फुरत्यनवकाशवत्।

अहमित्यैश्वरं भावं यदा जीवः प्रबुध्यते॥३४॥

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति।

माययाऽधिकसम्मूढो विद्ययेशः प्रकाशते॥३५॥

तत्राज्ञानोपहितेऽधिष्ठाने, कारणे वा शुद्धपदप्रयोगो वृत्तिप्रयुक्ताज्ञानतत्प्रयुक्तसर्वनिवृत्त्यभिप्रायेण, नतु वृत्तिरूपविशेषस्याप्यभावेन। अत एव तृतीये निर्विकल्पकपदप्रयोगः, अनुपहितं चैतन्यमिति भावनानुवृत्तिस्तु सर्वत्राज्ञानोपहितस्यैव सत्यानादिरूपस्याधिष्ठानस्य, न तु त्रिकस्य। अतो नात्र 'जानामि' इति 'तमेव भान्तम्' इति च नानुपपन्नं विवेकसमये क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागव्यवस्थायाः। यथा–

"क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत"

इत्यत्र क्षेत्रविवेकेन मांपदप्रयोगः, एवमेवात्रापि जानामीत्युत्तमपुरुषप्रयोगः। व्यक्तीकृतं चैतत् –

"तेषामात्मा परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितः"

इति गौडपादकारिकानुसारेण। भूतपूर्वगत्या द्वितीयतृतीययोरहंपदप्रयोग इति निष्कर्षः। अतो नात्राहमित्यैश्वरस्वरूपग्रहणविरोध इत्याह– **अहमित्यैश्वरमिति**। अत एव 'बहु स्याम् प्रजायेय' इत्यादौ 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादौ चाहंशब्दप्रयोगः, अन्यथाऽहमर्थस्य सर्वदा विशिष्टजीवमात्रपरत्वे 'बहु स्याम्' इतिवाक्यमनुपपन्नं स्यात्।अहमर्थः प्रत्यक्त्वमीश्वरस्यापि साधारणमिति परे[१]। अतो जीवस्यैश्वरं रूपं घटाकाशस्य महाकाशवत् सर्वज्ञत्वम्, सर्वकर्तृत्वञ्च॥३१-३४१/२॥

तर्हि कथं जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादीत्यत्र श्रुतिमाह– **माययेति**। जीवतादशायां निर्विकल्पानुसन्धानं विकल्पमिथ्यात्वानुसन्धानमेव, न तु निर्विकल्पस्य जीवाश्रयाऽज्ञानवादे ज्ञेयत्वमस्ति, उपहितपर्यन्तत्वाच्छास्त्रस्य। तदुक्तम्– ' नहि शास्त्रमिदन्तया ब्रह्म बोधयितुं शक्नोति, अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्–१-१-४) इति। कल्पतरावप्युक्तम्– 'शुद्धं ब्रह्मेतिविषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वोपहितं गृह्णाति, स्वाविषया, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्'[२] इति **विद्यया** वृत्त्युपहितविषययाऽऽत्मा

१. परे वैष्णवादयः।

२.अत्र कल्पतरौ त्वयं पाठो भिन्नरूपेण मया समुपलब्धः– निरुपाधि ब्रह्मेतिविषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। पृ.५७, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये, भामतीकल्पतरुपरिमलयुते।

निर्विकल्पानुसन्धाने सम्यगात्मा प्रकाशते।
अविद्याख्यतिरोधानव्यपाये परमेश्वरः॥३६॥
दक्षिणामूर्तिरूपोऽसौ स्वयमेव प्रकाशते।
इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे चतुर्थोल्लाससङ्ग्रहः॥३७॥

॥इति श्रीमानसोल्लासे चतुर्थोल्लासः॥

वृत्त्युपहितः प्रकाशते, निवृत्तावरणो भवतीत्यर्थः॥३५१/२॥

कथं स्वप्रकाशस्य परमेश्वरस्याविद्या, तस्याविद्याविरोधित्वादिति चेत्? तस्याविद्याश्रयत्व-विरोधित्वेऽपि संविन्मात्रस्याविद्याविरोधित्वाभावात्, प्रमाणजन्यज्ञानस्यैव तद्विरोधित्वाच्च। यावद्वृत्त्युप-धानमविद्यया तिरोधानमविरुद्धमित्यादि पूर्वमेवोक्तम्। अतो न दोष इत्याह– **अविद्याख्येति**। दक्षिणा-मूर्तिरूपः= अज्ञानोपहितकारणस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाशते, आवरणाभिभवमात्रार्थत्वाद्वृत्तेर्न घटादिवत् फलव्याप्यत्वरूपमनुभाव्यत्वम्, वृत्तिव्याप्यत्वमात्रस्यात्मनि स्वीकारात्। वृत्तिव्याप्यत्वं वृत्तिमात्र-प्रयुक्तावरणशून्यत्वम्। न च घटादेरज्ञानेनावरणम्, किन्तु तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैव इति निवृत्तावरण-स्वावच्छिन्नचैतन्यभास्यत्वमेव तस्येति भावः। व्यक्तञ्चैतद् ब्रह्मसिद्धावुपक्रम एव। अतः सर्वतः प्रसरदन्तःकरणवृत्त्या स्थितप्रज्ञानामज्ञाननिवृत्त्या निर्विकल्पकात्मरूपताऽर्थसिद्धेति भावः॥३६१/२॥

अयमत्र चतुर्थोल्लासोपसंहारश्लोकः– **इति श्रीति**। स्पष्टोऽर्थः॥३७॥

अत्रामरनाथो वदति– तुरीये श्लोके **'ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते'**[१] इत्यत्र स्पन्दशब्दप्रयोगः प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्य कुलधनम्, यदर्थं स्पन्दकारिकाणां प्रबन्धः प्रवृत्तः, इति तत्कुलधनस्य स्पन्दशब्दस्यात्र प्रयोगः प्रत्यभिज्ञानदर्शनमत्र प्रत्यभिज्ञापयति। शङ्करस्तु स्पन्दपदमत्र प्रयुञ्जानः स्वसिद्धान्तं विस्मरति। स हि **'ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते'** इति निर्दिशति, न च तत्सिद्धान्ते तत्सम्भवति, **'ज्ञोऽत एव'** इतिसूत्रे हि भगवान् शङ्करः आत्मा ज्ञानरूप इति भाषते[२], न चात्मा चक्षुरादिद्वारा बहिः स्पन्दितुमीष्टे इति।

तत्र च स्पन्दकारिकाः तद्व्याख्या च स्पन्दं सामान्यरूपं परमात्मस्वरूपे प्रतिष्ठितम्, अप्रतिष्ठितं चापरं स्पन्दं निरूपयन्ति[३]। तत्र प्रतिष्ठितः स्पन्दः– परमकारणस्य सत्यस्यात्मस्वरूपस्य 'अयमहमस्मि' 'अतः सर्वं प्रभवति' 'अत्रैव प्रत्यवलीयते' इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः। अनात्मभूतेषु देहादिष्वात्मा-भिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषयाः 'सुखितोऽहम्' 'दुःखितोऽहम्' इत्यादिगुणमयाः

१. अत्र हस्तलेखे 'ज्ञानं यस्य च चक्षुरादिद्वारा बहिः स्पन्दते' इति पाठो लभ्यते।

२.अत्र सूत्रे भवति शङ्करभगवत्पादानामेतद्वाक्यम्– 'तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः' ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २-३-१८.

३. अत्र हस्तलेखे 'निरूपयति' इति पाठो लभ्यते।

प्रत्ययप्रवाहाः संसारहेतवःस्पन्दविशेषाः इति तत्र विभागः[१]। न चात्र श्लोके द्विविधोऽपि स्पन्दो विवक्ष्यते। न चात्रात्मधर्मः स्पन्दः[२] स्पन्दते-पदार्थः, तस्य प्रतिष्ठितस्य चक्षुरादिद्वारा निर्गमासम्भवात्, नापि विशेषस्पन्दः क्रोधादिनिमित्तमप्रत्यवमर्शमानस्यानुभूयमानस्य गुणमयस्यापि बहिर्निर्गमस्य तत्राभावात्।

यत्तु ज्ञानं चक्षुरादिद्वारा बहिःस्पन्दमानमत्र निर्दिष्टम्, सोऽपि तदभिमतः प्रतिष्ठितः स्पन्दः, भगवत्पादसिद्धान्तेऽत्र ज्ञानपदस्यान्तःकरणपरिणामवृत्तिमात्रपरत्वात्, नित्यात्मधर्मत्वाभावात्, विशेषस्पन्दोऽप्यन्तःकरणवृत्तिरूपः गुणमयः, नाद्वैतसिद्धान्त इव। न च चक्षुरादिद्वारा[३] निर्गच्छति। अद्वैतसिद्धान्ते हि द्विविधं ज्ञानम्– जन्यम्, नित्यञ्च। आद्यमन्तःकरणवृत्तिरूपम्, यस्य नित्यचैतन्यगताज्ञाननिवर्तकत्वेन, तदवच्छेदकत्वेन वा ज्ञानमित्युपचारमात्रम्। नित्यं त्वात्मस्वरूपमात्रम्। यदेव– 'ज्ञोऽत एव' इति ब्रह्मसूत्रे निर्धार्यते। ज्ञपदमत्र भावे कप्रत्ययेन ज्ञानमात्रपरम्[४]। अतस्तस्य चक्षुरादिद्वारा निर्गमस्यात्राविवक्षणात् नाद्वैतसिद्धान्तविरोधः, न वाऽत्र प्रत्यभिज्ञादर्शनसिद्धस्य स्पन्दस्य परामर्शः[५]।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां तुरीया वर्धिनी।।

१.अत्र 'इति विभागः। तत्र स्पन्दविशेषाः।' इति पाठो हस्तलेखे।

२.अत्र 'न चात्रात्मधर्मो स्पन्दो' इति पाठो हस्तलेखे।

३.अत्र 'चक्षुरदिद्वा' इति पाठो हस्तलेखे।

४.'ज्ञोऽत एव' इति सूत्रविषय एतत् प्रोच्यते।

५.अत्र हि टीकाकृतोऽयमाशयः प्रतिभाति–प्रत्यभिज्ञादर्शने आत्मधर्मःस्पन्दः स्वीक्रियते, भगवत्पादशङ्कराचार्यैस्तु 'ज्ञोऽत एव' इति सूत्रव्याख्यानावसरे ज्ञानमात्रस्वरूपत्वं तस्य स्वीकृतमिति तस्य धर्मः कथं स्यात् स्पन्दः इति पूर्वपक्षस्याभिप्रायः। अमरनाथादिभिस्तावदेष एवाक्षेपः प्रस्तुतः। तस्य समाधानमेवं दीयते म.म.अनन्तकृष्णशास्त्रिवर्यैर्यत् अन्तःकरणस्य वृत्तावपि ज्ञानपदस्य प्रयोगो भवत्यौपचारिकः। बहिःस्पन्दो नामान्तःकरणस्य चक्षुरादिद्वारा बहिर्गमनम्। अन्तःकरणे चक्षुरादिद्वारा बहिर्गते वृत्यात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते बहिर्वस्तुविषयं तदेव ह्यत्र प्रस्तूयते। अतः नास्ति कश्चन विरोधोऽस्य शाङ्कराभिमताद्वैतपक्षेण।

ॐ

अथ मानसोल्लासे
पञ्चमोल्लासः

देहात्मवादिचार्वाकमतम्

प्रमाणमेकं प्रत्यक्षं तत्त्वं भूतचतुष्टयम्।

प्रथमेन श्लोकेनात्मनोऽद्वितीयत्वम्, स्वाप्नजागरोभयमिथ्यात्वम्, स्थितप्रज्ञानामद्वितीयात्मानुभवः इत्यादि परीक्षितम्। द्वितीयेनाज्ञानोपहितस्यात्मनः सर्वजगत्कारणत्वं विवर्तविधयेत्येकसत्तावादो व्यवस्थापितः। तृतीये प्रपञ्चस्य परमात्मसत्ताधीनसत्ताकत्वम्, तत्प्रकाशाधीनप्रकाशत्वं च निरधारि। तुरीयेन प्रपञ्चस्यात्मप्रकाशाधीनप्रकाशत्वं सर्वत्रोद्देश्यत्वादन्तःकरणद्वारा तदुपहितपरमेश्वराधीनप्रकाशत्वं निरधारि, तेन चाध्यासन्यायः सङ्कलितः। तत्राध्यासभाष्ये परस्पराध्यासे सिद्धान्तितेऽपि परमात्मनःआरोप्ये संसर्गमात्राध्यासः, न स्वरूपतोऽप्यध्यास इति व्यवास्थापि। अतोऽध्यारोपापवादन्यायेन ज्ञेयात्मतत्त्वं न्यरूपि। अतोऽवशिष्यते "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति प्रस्तुतं ब्रह्मस्वरूपं किम्? किं जीवात्मतत्त्वम्? उत तदतिरिक्तं ब्रह्मतत्त्वमिति। ततः तुरीयः श्लोकः–

"ईश्वरश्चाहमित्येवं भासते सर्वजन्तुषु।
निर्विकल्पश्च शुद्धश्च मलिनश्चेत्यहं त्रिधा।।"

इति श्लोकेन जीवात्मतत्त्वमेव ब्रह्मपदार्थः सुरेश्वरमत इति ज्ञायते, यो मण्डनस्य सिद्धान्तः। अत इतोऽप्यवगम्यते सिद्धान्तैक्यवद् मण्डन एव स्वीकृतसंन्यासाश्रमः सुरेश्वर इति। अतोऽत्रात्मतत्त्वं किमिति विचारणीयम्। तत्र भगवत्पादाः जिज्ञासासूत्रोपसंहारे "तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धं वा स्यात्, अप्रसिद्धं वा? यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यम्" इति पर्यनुयुञ्जन्ते। "तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः" इति च प्रस्तुत्य– "देहमात्रं चैतन्यविशिष्ट आत्मा इति लौकायतिकाः, इन्द्रियाण्येव चेतनानीत्यपरे, अस्ति देहादि-व्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे, भोक्तैव केवलं न कर्तेत्यपरे, तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्, आत्मा स भोक्तुरित्यपरे" इति सिद्धान्तभेदान् गृह्णन्ति। परन्तु– "अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्" इत्युपक्षिप्य– "सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"–इत्यादिनात्मतत्त्वमेव ब्रह्मपदार्थ इति भाषन्ते। मानसोल्लासोऽपि–

"अहमित्यैश्वरं भावं यदा जीवः प्रबुध्यते।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति।।"

इति श्लोकेनामुमेवार्थमनुसन्दधाति। अतोऽवगम्यत उपरिनिर्दिष्टेषु सिद्धान्तेषु "आत्मा स भोक्तुरित्यपरे" इत्यस्यैव सिद्धान्तत्वं भगवत्पादाः मानसोल्लासश्चावलम्बन्ते। इत्येतदभिप्रेत्याध्यासभाष्यपूर्वपक्षभाष्यावसरे

मोक्षश्च मरणान्नान्यः कामार्थौ पुरुषार्थकौ ॥१॥

न हि खल्वीश्वरः कर्ता परलोककथा वृथा।

भामती– 'अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनञ्च न तत् प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टो घटः करटदन्ता वा तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः'(ब्रह्मसूत्रभाष्यभामती– १-१-१) इति प्रस्तुत्य 'तथाहि-बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्चात्मैव ब्रह्म गीयते। स चायमाकीटपतङ्गेभ्यः, आ च देवर्षिभ्यः, प्राणभृन्मात्रस्येदङ्काराकारेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यो विवेकेन अहमित्यसन्दिग्धं तावदपरोक्षानुभवसिद्ध इति न जिज्ञासास्पदम्' इति प्रतिज्ञाय शरीरेन्द्रियात्मतावादं निरस्यति। अतो मानसोल्लासोऽपि स्वतन्त्रं देहाद्यात्मवादनिरासेन विचार्यं ब्रह्मात्मतत्त्वमेव न ततोऽन्यदिति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तवेन भगवत्पादा अभिप्रयन्तीति ज्ञापयन् भगवत्पादानां जिज्ञासासूत्रोपसंहारे निरस्यतया भगवत्पादोपेक्षितानि सर्वाणि मतान्यत्रोपक्षिपति। तत्तन्मतनिरासः श्लोकव्याख्यानावसरे भविष्यतीति, प्रथमं देहात्मवादमुपन्यस्यति– **प्रमाणमेकमिति**।

चार्वाकः चारुवाक्, रमणीयसर्वाकर्षकप्रवचनशाली वदति। सर्वेषां दर्शनानां तत्तत्तत्त्वमिति निर्णये प्रमाणं वक्तव्यम्। तत्सिद्धञ्च प्रमेयं तद्दर्शनस्य प्रमेयम्, तत्तद्दर्शनस्य तत्त्वम्। तच्च अबाधितमसम्भाविताप्रामाण्यकं वा प्रत्यक्षं प्रमाणमिति स्वीकर्तव्यम्, तत्र प्रत्यक्षातिरिक्तमनुमानादि नासम्भाविताप्रामाण्यकम्। अनुमानादिप्रमाणं हि परोक्षविषयमादायात्मानं लभते। न च तत्रासम्भावनाबुद्धिर्न भवति, वेदप्रामाण्यवादिनोऽपि वैदिकार्थेऽसम्भावनाबुद्धिरसम्भविनीति न वक्तुमर्हन्ति, यतो वेद एव 'अमुष्मिन् लोकेऽस्ति न वेति' स्वार्थोऽसम्भवीति स्वयं प्रदर्शयति। बाधितानि हि बहुविधार्थवाक्यानि, असम्भावितार्थानि परशतं वेद एव वर्तन्ते। अयमेव न्यायोऽनुमानेऽपि। न हि सर्वमनुमानं, शब्दादि वा विना परीक्षां प्रत्यक्षेणासम्वादिना प्रमाणं भवति। ततोऽनुमानादीनां प्रत्यक्षेणार्थाविसंवादपर्यन्तं न प्रामाण्यं सम्भवति। अनुमानादीनि हि विषयस्य सम्भावनामात्रेणोपक्षीणानि न प्रमाणतामर्हन्ति। तत्रान्येषु वा कापि कथा भवतु, आत्मनि त्वाजीवं शरीरातिरिक्तं किमपि रूपं न दृश्यते, प्रत्यक्षातिरिक्तेनापि केनापि प्रमाणेन। मरणानन्तरं को वा जानात्यपरं लोकं तत्रात्मनो गमनादि वाऽस्तीति। अतो न शरीरातिरिक्तात्मकथा। अतो न परलोककथा, मरणातिरिक्तमोक्षकथा वा।

तत्र मरणं मोक्ष इति प्रक्रियायां जातमात्रस्य मरणं व्याधितस्य वा न युक्तम्, किन्त्वामरणमर्थकामौ पुरुषार्थौ, कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयेन राजनीतिरेवार्थकामयोः प्राधान्यमवलम्बितुं शक्नोति। धर्माधर्मकथा तु तावेवैकं प्रधानं मत्त्वा, तत्रापि तदा तदा समाजेन परीक्ष्य निर्णय एव शरणम्। यावज्जीवं शरीरमेवात्मानं मत्त्वा घृतं पिबेत्, परन्तु प्राणशोषणं विनास्य सर्वा व्यवस्था[१]ऽस्तेयादिनिर्हारो वा भवति। तत्रेश्वरो जननायक एक एव, न तु स्वयं सर्वोऽपि। परलोककथेहलोकस्यैव सुखदुःखादिनिदानव्यवस्थामेवानुस्मृत्य, न च स्वर्गादिपरीक्षणेनापि देहातिरिक्तात्मनिर्णयः।

स्वप्नादयोऽपि पूर्वपूर्ववासनामात्रनिबन्धनस्मृतय एव। ता अपि शरीरस्यैव चेतनस्य धर्मः, चैतन्यं तु देहस्य प्रत्यक्षम्, अतो न कोऽपि दोषः। अतो देहं विना नात्मास्ति, अन्यथा देहवत् सोऽपि व्यतिरिक्तो

१.अत्र 'विनास्य व्यवस्था' इति पाठो हस्तलेखे।

देहं विनास्ति चेदात्मा कुम्भवद्दृश्यतां पुरः॥२॥
ह्रस्वो दीर्घो युवा बाल इति देहोऽभिदृश्यते।
अस्ति जातः परिणतो वृद्धः क्षीणो जरन् मृतः॥३॥
इत्येवमुक्ताः षड्भावविकाराः देहसंश्रयाः।
वर्णाश्रमविभागश्च देहेष्वेव प्रतिष्ठितः॥४॥
जातकर्मादिसंस्कारो देहस्यैव विधीयते।
शतं जीवेति देहस्य प्रयुञ्जन्त्याशिषं शुभाम्॥५॥
इति प्रपञ्चं चार्वाको वाचयत्यल्पचेतनः।

प्राणात्मवादिचार्वाकमतम्

केचिच्छ्वसिमि जीवामि क्षुधितोऽस्मि पिपासितः॥६॥
इत्यादिप्रत्ययबलात् प्राण आत्मेति मन्वते।

इन्द्रियात्मवादिचार्वाकमतम्

केचिच्छृणोमि पश्यामि जिघ्रामि स्पन्दयाम्यहम्॥७॥
इतीन्द्रियाणामात्मत्वं प्रतियन्ति ततोऽधिकम्।

दृश्येत। न हि शरीरं विनाऽऽत्मा तद्व्यतिरिक्तः केनापि प्रदर्शयितुं शक्यते। अतः शरीरमेव चैतन्यशक्तिविशिष्टमात्मतत्त्वं नाम प्रत्यक्षम्।

एतेन ह्रस्वो दीर्घो युवा बालः अस्ति जातः परिणतो वृद्धः क्षीणो जरन् मृत इत्यादि प्रत्यक्षमपि व्याख्यातम्। तस्य देहमात्रविषयत्वात्, तदतिरिक्तस्य तद्विपरीतस्य चातथात्वात्। वर्णाश्रमविभागः अयं ब्राह्मणः, क्षत्रियः, वैश्यः, शूद्र इति विभागो जीवतदध्ययनाध्यापनशौर्यतेजःप्रवृत्तिकृषिवाणिज्यशुश्रूषादिकर्ममात्रनिबन्धनोऽपि शरीरस्यात्मतायां प्रमाणम्। जातकर्मादिसंस्कारस्तु यद्यपि चार्वाकदृष्ट्याऽप्रामाणिकः, तथापि परदृष्ट्या कृत्वा चिन्तया सोऽपि देहात्मतायां प्रमाणतया विवक्षितः।

वस्तुतस्तु श्रुतिरपि पराभिमताऽन्नरसमय आत्मेति शरीरात्मतायां प्रमाणम्। अयं मम पिता, इयं मम माता, अयं पितामह इति ज्ञानमात्रादिना तदधीनात्मलाभ एव, तथा न तत्र प्रामाण्यनिर्णयः, नैतावता तथा व्यवहारविरोधः, असतोऽप्यर्थक्रियाकारित्वात्। असत्या हि बहवोऽर्थक्रियाकारिणः, किं बहुना! सतामेव सर्वेषामर्थक्रियाकारित्वमित्यद्वैतसिद्धान्तात् न कोऽपि क्षुद्रोपद्रवः, इति देहात्मवादिनां दृष्ट्या शङ्का॥१-५१/२॥

अयमेव न्यायः– प्राणमनआत्मवादेऽपि। तस्यापि 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इतिश्रुतिसिद्धत्वात्। तदपि संवादिप्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेत्याह– **केचिदिति**। इदं मनोमयस्या-

बुद्ध्यात्मवादिमतम्

जानामिप्रत्ययबलाद्बुद्धिरित्यपरे जगुः॥८॥

देहात्मवादिचार्वाकमतखण्डनम्

मायाव्यामूढचित्तानां तेषां दूषणमुच्यते।

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः

स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः।

मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे

तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥५॥

इदमस्य तात्पर्यम्–

देहादीनां जडार्थानां पाषाणवदनात्मनाम्॥९॥

प्युपलक्षणम्। श्वासादयो हि प्राणमनोबुद्ध्याद्यनादिधर्मा इन्द्रियधर्माः इति। प्राणादय आत्मेति प्राणेन्द्रियादीनामिति चार्वाकावान्तरविभागः॥६-८¹/२॥

देहं प्राणमपीतिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रपञ्चमश्लोकस्य व्याख्या

मायिकं शरीरात्मतावादं निरसनीयं मत्त्वा भगवत्पादा स्तुवते श्रीदक्षिणामूर्तिम्– **देहं प्राणमपीति।** अनेन भगवत्पादा देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमित्यारभ्य 'विज्ञानमित्येके' इत्यन्तवादान् निरस्यन्ति, शून्यवादनिरासस्य विस्तरेण कर्तव्यत्वात् षष्ठेन श्लोकेन कर्तव्यं मत्त्वा। तत्र मनआत्मवादो यद्यपि जिज्ञासाभाष्योपसंहारे अत्रापि च पृथङ् नानूदितः, तथापि तस्य निरासो मानसोल्लासेन क्रियत इति कृत्वा सोऽपि निरस्यकोटावुपलक्षणतया गृहीतः। अत्रान्नमयप्राणमयविज्ञानमयवादानामिव तस्यापि निरसनीयकोटौ निर्देशौचित्यात्। विश्वस्यते मनसोऽपीन्द्रियत्वं मत्त्वेन्द्रियात्मतावादानुवादेनैव मन आत्मतावादोऽपि निर्दिष्ट एव इति कृत्वा मनआत्मवादो न पृथक् सङ्गृहीत इति। अतो ज्ञायतेऽत्र भगवत्पादानां स सम्मतः। मनोमयस्य श्रुतौ पृथगात्मत्वं तु ज्ञानेन्द्रियेण विज्ञानमयेनैव ग्रहणात् मनसो ज्ञानेन्द्रियत्वमेवेति, एवं विवक्षायां प्रयोजनं तु शाब्दपरोक्षतायामेव तात्पर्यं भगवत्पादानाम्। मानसोल्लासस्य च मनोमयप्रकोशे मनसः प्रवेशस्तु शक्तिकर्मेन्द्रियाणामिव क्रियाशक्तिमात्रमादाय। अत एव मानसोल्लासे पूर्वपक्षकोटौ निविष्टस्यापि मनआत्मतावादस्य पृथङ् निरासः।

अत्र पूर्वपक्षावसरे 'इति प्रपञ्चं चार्वाको वाचयत्यल्पचेतनः' इति निन्दा, 'अहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः' इति श्लोकांशं मनसि निधाय 'स्त्रीबालान्धजडोपमाः' इति च वाक्यांशम्। यद्यप्यत्र 'बुद्धिञ्च शून्यं विदुः' इति स्तोत्रे शून्यवादस्यापि निरस्यकोटौ प्रवेशो वर्तते। तथापि नानेन श्लोकेन तस्यापि वादान्तरत्वान्निरासोऽभिप्रेयत इति पूर्वमेव निवेदितम्। शरीरादीनामात्मत्वज्ञानं भ्रममात्रम्। भगवत्पादानां शरीरादिविविक्ततयाऽऽत्मसाक्षात्कारनिबन्धनं तदिति भावः।

यद्यपि 'भ्रान्ताः' इत्यनेनैव तन्निरासः सूचितः, तथापि तज्ज्ञानस्य भ्रमत्ववर्णनं भगवत्पादानां

कथं भवेदहंभावः समावेशं विनेशितुः।
देहस्तावदयं नात्मा दृश्यत्वाज्जाड्यवत्ततः॥१०॥
रूपादिमत्त्वात् सांशत्वाद्भौतिकत्वाच्च कुम्भवत्।
मूर्छासुषुप्तिमरणेष्वपि देहः प्रदृश्यते॥११॥
देहादिव्यतिरिक्तत्वात् तदात्मा न प्रतीयते।
यथा जगत्प्रवृत्तीनामादिकारणमंशुमान्॥१२॥

शरीरादिविविक्ततया साक्षात्कारनिबन्धनमिति सूचयति। 'महाव्यामोहसंहारिणे' इति मोहे महत्त्वविशेषण-प्रयोजनं तु 'अहम्' इत्यहङ्काराध्यासस्य सर्वप्रपञ्चव्यापित्वेन बहुतमदुःखनिदानत्वेन विस्मयज्ञापनम्। 'व्यामोहसंहारिणे' इत्यनेन गुरुमूर्तित्वं श्रीदक्षिणामूर्तेः स्वानुभवसिद्धं ज्ञापयति।

अत्र मानसोल्लासो देहादीनां सर्वेषां प्रथममात्मतत्त्वनिरासहेतून्, तन्निरासं च मत्त्वाऽक्षरशः सङ्गृह्णाति देहात्मवादादिकं प्रत्येकमुपरि निरसिष्यन्– **देहादीनामिति। अहंभावः**= प्रत्यक्त्वम् प्रकाशमात्रम्, ईशप्रवेशं विना, विवर्तकारणतया, अधिष्ठानविधया वा **समावेशम्**=अनुवेधम्, **विना**=अन्तरेण **कथं भवेदिति** योजना। ईशप्रवेशातिरिक्तप्रकाशाभावो हि पूर्वं निरूपितोऽत्रानुसन्धेयः, अन्यथा पाषाणादीनामप्यहंभावापत्तिरित्याह– **पाषाणवदनात्मनामिति**। एतेनात्मनोऽहमर्थज्ञानस्वरूपत्वम्, नित्यज्ञानाश्रयत्वञ्चाङ्गीकुर्वतां मुक्तौ पाषाणतुल्यत्वात् मुक्तेरपुरुषार्थत्वापत्तिः सूचिता। तत्रायमनुमानप्रयोगः–देहादयः न स्वरूपतोऽहमर्थाः जडत्वात्, पाषाणवदिति। न हि घटोऽहमित्यात्मानं देहवज्जानातीति भावः॥९[१]/२॥

अथ क्रमप्राप्तं देहात्मवादं निरस्यति– **देहस्तावदिति**। देहोऽनात्मा दृश्यत्वात्, जडत्वात्, रूपवत्त्वात्, सांशत्वात्, भौतिकत्वाच्च घटवदिति योजना। तत्रात्मनोऽदृश्यत्वमनुभूतिः स्वप्रकाशा अनुभूतित्वात् घटवदिति स्वप्रकाशानुमानेन साधितम्। आत्मनि जडत्वन्तु बाधितम्, तस्याचेतनत्वाभावात्। जडत्वमचेतनत्वं चेत्यनर्थान्तरम्। न चात्मनो रूपवत्त्वम्, अन्यथा चाक्षुषः स्यात्। न चात्मा चाक्षुषः स्वप्नादावप्युपलम्भात्। न च तदा चक्षुर्व्याप्रियते। निरवयवत्वञ्चात्मनः, न सावयवत्वमन्यथाऽनित्यत्वापत्तिः। एवं न तस्य भौतिकत्वमिति भावः॥१०[१]/२॥

एतेन 'अहं कृशः, अहं स्थूलः' इत्याद्यनुभवोऽपि व्याख्यातः। तदालम्बने हि[१] 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवम् स एव वार्धक्ये प्रणप्तॄनहमनुभवामि' इति प्रतिसन्धानं न स्यात्। न हि बालस्थविरयोः शरीरयोरस्ति मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धः, येनैकत्वमनुसन्धीयेत। अपि च स्वप्नान्ते दिव्यं शरीरमास्थाय तत्र बहुविधान् भोगान् भुञ्जान एव प्रतिबुद्धो मनुष्यशरीरमात्मानं सम्प्रतिपद्यते। योगव्याघ्रस्तु शरीरभेदे-ऽप्यात्मानमभिन्नं पश्यति, न शरीरालम्बनत्वमात्मनः। किं बहुना मूर्च्छासुषुप्तिमरणेषु शरीरमुपलभ्यते, आत्मा तु न तदाऽहमिति नानुभूयते[२]। न च शरीरं तथा, अतो विना शरीरमात्मा। मम शरीरमित्यनुभवस्तु शरीरात्मवादे

१. अत्र हस्तलेखे 'तदालम्भने हि' इति पाठो लभ्यते।
२. शरीरस्य मूर्च्छितत्वेऽप्यात्मा न मूर्च्छितः, किन्तु अहमिति भासमान एवास्त इत्यभिप्रायः।

पुमांस्तथैव देहादिप्रवृत्तौ कारणं परम्।
मम देहोऽयमित्येवं स्त्री बालोऽन्धश्च मन्यते॥१३॥
देहोऽहमिति नावैति कदाचिदपि कश्चन।

इन्द्रियात्मवादिचार्वाकमतखण्डनम्

इन्द्रियाण्यपि नात्मानः करणत्वात् प्रदीपवत्॥१४॥
वीणावादनवत् श्रोत्रं शब्दग्रहणसाधनम्।
चक्षुस्तेजस्त्रितयवद्रूपग्रहणसाधनम्॥१५॥
गन्धस्य ग्राहकं घ्राणं पुष्पसम्पुटकादिवत्।
रसस्य ग्राहिका जिह्वा दधिक्षौद्रघृतादिवत्॥१६॥
इन्द्रियाणि न मे सन्ति मूकोऽस्मि बधिरोऽस्म्यहम्।
इत्याहुरिन्द्रियैर्हीना जनाः किं ते निरात्मकाः॥१७॥

प्राणात्मवादिचार्वाकमतखण्डनम्

प्राणोऽप्यात्मा न भवति ज्ञानाभावात् सुषुप्तिषु।
जाग्रत्स्वप्नोपभोगोत्थश्रमविच्छित्तिहेतवे॥१८॥
सुषुप्तिं पुरुषे प्राप्ते शरीरमभिरक्षितुम्।

विरुद्ध इत्याह– **मूर्च्छेति**। शरीरात्मवादे मूर्च्छादावपि जाग्रतीव प्रवृत्तिः स्यात्, स्वप्ने तु प्रवृत्तिरेव न स्यात्, तदा स्वशरीरमित्यनुभवाभावात्। किं बहुना? किञ्च मम देह इतिवदहं देह इत्यनुभवः कस्यापि नास्ति॥११-१३१/२॥

एतेन नानेन्द्रियात्मवादोऽपि परास्त इत्याह– **इन्द्रियाण्यपीति**। इन्द्रियं हि करणं तत्तद्गुणानां तत्तद्द्रव्यवदाधारमात्रम्, न तु ज्ञातृ; तानि हि करणानि, मूकादयस्तु निरिन्द्रिया अप्यात्मानं जानन्ति। न चेन्द्रियाण्यात्मानमहमिति प्रतिसन्दधते॥१४-१७॥

अयमेव न्यायः प्राणबुद्ध्यादिषु। प्राणो हि क्रियाशक्तिमान्, न तु ज्ञानशक्तिमान् इति नात्मा। बुद्धिरधिकरणमेव ज्ञानस्य, न ज्ञात्री, सापि हि जन्यक्षणिकज्ञानरूपा नात्मा, अस्थिरत्वाच्चास्या आत्मनश्च स्थिरत्वादित्याह– **प्राणोऽपीति**। सुषुप्तौ ह्यात्मानुभवोऽपि। न च प्राणोऽनुभवशक्तिः, निःश्वासक्रिया-मात्राश्रयत्वात्। अतो न सोऽप्यात्मा। ॥१७१/२॥

तदेतद् विशदयति– **जाग्रदिति**। एतैर्हि न केवलं प्राणः किन्तु सर्वाणि करणान्यपि नात्मा भवितुमर्हन्तीत्युपसंह्रियते।

तत्र प्रथमं प्राणो नात्मेत्यत्र कारणमुच्यते, आत्मा हि कर्ता, ज्ञाता वा। तत्र प्राणः केवलं क्रियाशक्तिमान्

शेषकर्मोपभोगार्थं प्राणश्चरति केवलम्॥१९॥
प्राणस्य तत्र चैतन्यं करणोपरमे यदि।
प्राणे व्याप्रियमाणे तु करणोपरमः कथम्॥२०॥
सम्राजि हि रणोद्युक्ते विरमन्ति न सैनिकाः।
तस्मान्न करणस्वामी प्राणो भवितुमर्हति॥२१॥
मनसः प्रेरके पुंसि विरते विरमन्त्यतः।
करणानि समस्तानि तेषां स्वामी ततः पुमान्॥२२॥

बुद्ध्यात्मवादिमखण्डनम्

बुद्धिस्तु क्षणिका वेद्या गमागमसमन्विता।
आत्मनः प्रतिबिम्बे तु भासिता भासयेज्जगत्॥२३॥

न ज्ञाता भवितुमर्हति, तस्याचेतनत्वात्। प्रकाशमानोऽपि न केवलं चिदात्मना, किन्त्वानन्दात्मनाऽपि, इति सुखमहमस्वाप्समित्यनुभवविरोधः।

द्वितीये तु कारणं न स कर्ता, सुषुप्तौ ज्ञानेच्छाकृतीनामभावात्, प्रत्युत जाग्रत्स्वप्नोपभोगोत्थश्रम-विमोकार्थमुपरममात्रत्वात्। न च करणानामुपरमो स्वामिनि जाग्रति भवति। तत्र यदि प्राण आत्मा, तर्हि तस्मिन् जाग्रति कथमिन्द्रियाणां मनसश्चोपरमः? अयमेव न्यायः इन्द्रियाणाम्, विशिष्टमनसश्चात्म-त्वेऽनुसन्धेयः। प्राणश्च केवलं चलति। स्वामिनः शरीररक्षणार्थं सैनिक इव। अतो नायं स्वामी करणानाम्। अतः सर्वेषां करणानां स्वामी न प्राणः, न मनः, न वेन्द्रियाणीति निगदव्याख्यानम्॥१८-२२॥

अतः परं बुद्ध्यात्मतावादो निरस्यते[१]– **बुद्धिस्त्विति**। अत्रेदं तत्त्वम्– बुद्धिशब्देन ज्ञानमात्रमुच्यते, न तु मनो ज्ञानाश्रयम्। तस्य करणस्यात्मत्वस्य प्रागेव चक्षुरादिनयेन निरासात्। तत्र ज्ञानं तस्यैवात्मतावादे मनःपरिणामः क्षणिकं वृत्तिरूपमेव। तदपि सुषुप्तौ परिणामिनो मनस उपरमात् आश्रयाभावे नावतिष्ठते। प्राणमात्रं खलु तदाऽनुवर्तते, स तु क्रियामात्रशक्तिमान् न ज्ञानशक्तिमानिति सुषुप्तौ ज्ञानस्याभावात्तदात्मत्वे निरात्मतावाद एव स्यात्। जाग्रत्स्वप्नयोस्तु मनःपरिणामाः वृत्तिरूपाः सम्भवन्ति, परन्तु ताः क्षणिकाः, गमागमशीला एकोदेति, प्रणश्यति, अपरोदेति। सा च नश्यतीति परस्परवार्तानभिज्ञा क्षणिकाः विनाशशालिन्यश्चेति न प्रत्यभिज्ञाकथा वा स्मृतिकथा वा कस्यापि, सर्वस्य ज्ञातुः प्रवर्तमानस्य च भेदात्। न

१.बौद्धानामस्ति विज्ञानवादिसम्प्रदायः। ते हि तावत् क्षणिकविज्ञानमात्रस्यैवास्तितां स्वीकुर्वन्तो दृश्यन्ते। तन्मते केवलं विज्ञानमेव सत्,उच्यते हि तैर्यत् विषयो ज्ञानोपलब्धिं विना नोपलभ्यते, ज्ञानोपलब्ध्या सहैव भवति विषयोपलब्धिरिति न स्वीकार्यो ज्ञानविषययोर्भेदः। तथा चोच्यते– 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' इति। अयं बौद्धपक्षः श्रीमदुदयनाचार्यैः बौद्धधिक्कारे आत्मतत्त्वविवेकेत्यपरनामधेये ग्रन्थे बौद्धार्थभङ्गवादे महताऽऽयासेन निरस्तः। तत्र प्रामुख्येनायं दोष उपस्थाप्यते यत्– यदि सहोपलम्भेनाभेदो भवेत् तर्हि स्थूलालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्।

आत्मन्युत्पद्यते बुद्धिरात्मन्येव प्रलीयते।
प्रागूर्ध्वं चासती बुद्धिः स्वयमेव न सिद्ध्यति।।२४।।
ज्ञानाच्चेत्पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरसम्भवः।
युगपद्बहुबुद्धित्वं प्रसज्येत क्षणे क्षणे।।२५।।
बुद्ध्यन्तरं न जनयेन्नाशोत्तरमसत्त्वतः।

सङ्घातात्मवादिमतनिरासः

एषां सङ्घात आत्मा चेदेकदेशे पृथक्कृते।।२६।।
न चैतन्यं प्रसज्येत सङ्घाताभावतस्तदा।
भिन्नदिग्गत्यभिप्रायो बहु चेत्तन्न पूजितम्।।२७।।
सद्यो भिन्नं भवेदेतन्निष्क्रियं वा भविष्यति।

आत्मपरिमाणमाश्रित्य देहाद्यात्मत्वनिरासः

देहस्यान्तर्गतोऽप्यात्मा व्याप्त एवेति बुध्यते।।२८।।

हि बुद्धेरिच्छा धर्मः, क्षणिकायास्तस्या इच्छाकालेऽभावात्, इच्छानाश्रयत्वात्। अत एव न प्रवृत्तिः, किं बहुना? तस्य भासकत्वमपि न स्यात्। तस्य प्रकाशकत्वं हि तत्र चैतन्यप्रतिफलनद्वारा तेनैव भासनात् न स्वतः, तत्र तस्यैवात्मत्वे स्वस्मिन्नेवोत्पत्तिः स्वस्मिन्नेव नाशश्चेति वक्तव्यम्। न च क्षणिकं ज्ञानं स्वस्योपादानम्, स्वयं स्वस्योपादेयं च भवति, स्वविनाशावस्थं चैकदैव भवितुमर्हति। अत एव तदात्मापि न।

इदमेवाभिप्रेत्योक्तम्– **प्रागूर्ध्वमि**ति। तत एव क्षणिकत्वेन बहुज्ञानोत्पत्तौ, एवं विनाशे च ज्ञानान्तरोत्पत्तिरपि न स्यात् सर्वेषामसत्त्वात्। अतो न बुद्धिरप्यात्मा।।२३-२५१/२।।

तदेवं देहादेः प्रत्येकमात्मतावादो निरस्तः। तत्रापि देहस्यात्मत्वे पश्यामि, शृणोमीत्यनुभवानामनुपपत्तिः, चक्षुष आत्मत्व इव श्रवणाद्यनुपपत्तिः, श्रवणस्यात्मत्वे जाग्रत्स्वापे श्वासनिःश्वासादिकमेव एव न स्यादिति दूषणान्यनुक्तान्यप्यनुसन्धेयानि। अत उक्तदोषपरिहारार्थं सर्वेषां समुदितानामेवात्मत्वे दूषणमाह– **एषामि**ति।

अस्यैव विवरणस्येयं भामती– 'किञ्च देहादीनामात्मत्वे तत्रावयवसमुदायो[१] वा चेतयेत्, प्रत्येकं चावयवाः। प्रत्येकं चेतनत्वे बहूनां[२] चेतनानां स्वतन्त्राणामेकवाक्यत्वाभावादपर्यायं विरुद्धादिदिक्क्रियमाणं शरीरमुन्मथेत, अक्रियं वा प्रसज्येत। बहूनां चैतन्ययोगे वृक्ण एकस्मिन्नवयवे चिदात्मनोऽप्यवयवो वृक्ण इति न चेतयेत्। न च बहूनामवयवानामविनाभावनियमो दृष्टः। य एवावयवो यदा विशीर्णः तदा तदभावे न चेतयेत्' इति। श्लोकयोजना तु सुस्पष्टा। विशेषस्तु भामत्यां पूर्वार्धस्य विवरणं पश्चात्, उत्तरार्धस्य विवरणं पूर्वमिति। **न पूजितम्**=नोचितम्।।२६-२७१/२।।

१. 'किञ्चास्मिन् पक्षेऽवयवसमुदायो' इति पाठो भामत्याम्। पृ.१४।
२. बहूनामित्यस्य स्थाने 'समुदायस्य तु' इति पाठो भामत्याम्। तत्रैव।

अणुप्रमाणश्चेदेषः व्याप्नुयान्नाखिलं वपुः।
देहप्रमाणश्चेन्न स्याद्बालस्य स्थविरादिता।।२९।।
देहवत्परिणामी चेत्तद्वदेव विनङ्क्ष्यति।
कर्मणां परिणामेन क्रिमिहस्त्यादिमूर्तिषु।।३०।।
व्याप्तत्वात् प्रविशत्यात्मा घटादिष्वन्तरिक्षवत्।
परमाणुप्रमाणेऽपि मनसि प्रतिभासते।।३१।।
स्वप्ने चराचरं विश्वमात्मन्येव प्रतिष्ठितम्।
देहादिष्वहमित्येवं भ्रमः संसारहेतुकः।।३२।।

अथात्मपरिमाणमाश्रित्येन्द्रियाद्यात्मत्वनिरासमाह- **देहस्येति**। तत्र देहात्मपक्षे देहपरिमाणता, तद्वदेवानित्यता, जन्मान्तराभावश्च प्रसिद्धा एव। अतो न तत्रात्मपरिमाणचिन्ता प्रसरत्यपि, इतीन्द्रियात्मतावाद एवोक्तचिन्ताऽवतरतीति। तत्रेन्द्रियाद्यात्मत्वे, तदणुपरिमाणत्वे देहपरिमाणत्वे च यद्यपि जन्मान्तरकथोपपद्यते; इन्द्रियाणां गमनागमनसम्भवात्। तथापि तेषां सर्वशरीरव्यापित्वं न स्यात्, चक्षुषा सर्वशरीरादिदर्शनं न स्यात्, चक्षुरादीनां बहिर्गमने निरात्मत्वं च स्यात्। शरीरपरिमाणत्वे तु सर्वेषां तेषां बहिर्गमनासम्भवादमरणमेवोपपद्यते, सङ्कोचविकासशालित्वेऽपि यावद्देहं देहपरिमाणभेदासम्भवात्, इन्द्रियादिमात्रसङ्कोचविकासयोः शरीरस्यापि सङ्कोचविकासौ विना असम्भवात्,उत्क्रम्य गत्यसम्भवा[1]दुक्तदोषतादवस्थ्यम्। अयमेव न्यायः मनआद्यात्मतायामपि। तत्रोभयत्रात्मनोऽनित्यत्वापत्तिर्देहवत्समानैव।

तत्र देहपरिमाणपक्षे कर्तृगतकर्मपरिणामेन क्रिमिहस्त्यादिशरीरभेदेनात्मनोऽपि परिणामे दोषान्तरं तु तत्तच्छरीरमात्र इव सङ्कोचविकासयोर्घटादिष्वपि प्रवेशः स्यात्। इदन्तु दूषणमिन्द्रियाद्यात्मतापक्षे नावकाशं लभते[2], तेषां कर्माभावेन कर्मनिबन्धनपरिणामकल्पनाया अयोगात्, स्वप्ने तु मनस एव सत्त्वात् मनःपरिणाम एवात्मेति स्वीकर्तव्यम्। तत्र च यदि मनःपरिमाण एवात्मा स्यात्, विश्वस्य चराचरस्य तत्र प्रतिष्ठा नोपपद्येत। अतो नाणुपरिमाणः[3], शरीरादिपरिमाणो वाऽऽत्मा भवितुमर्हतीति व्यापक एव स्वीकार्यः। व्यक्तीकृत-ञ्चैतदुत्क्रान्तिगत्यागतीनामित्यधिकरणे, जैनमतनिराकरणप्रस्तावे च सूत्रभाष्ययोः। न चात्रपक्षे सर्वस्य सर्वज्ञत्वापत्तिः, सति चैवं सर्वत्राहमिति प्रतीतिः स्यात्। देहादिष्वेव प्रतीतिर्न स्यादिति शङ्कायां 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' इति सूत्रं प्रवृत्तम्। तदाशयस्तु घटाकाशमहाकाश इति न्यायेनोपाधि-विशेषमात्रपरिच्छेदात् न सर्वत्राहमिति प्रतीतिः देहादिष्वेव तत्प्रतीतिश्चोपपद्यत इति।।२८-३१[१]/२।।

१.उत्क्रमगत्यसम्भवादिति हस्तलेखे पाठः।

२.नावकाशते इति हस्तलेखे पाठः।

३.वैष्णवाद्यभिमते जीवात्माणुत्ववादे प्रमुखत इमा आपत्तयो भवन्ति- जीवस्याणुपरिमाणत्वे सम्पूर्णे शरीरे वेदनाया अनुपपत्तिः, अनुभूयते खलु सम्पूर्णे शरीरे वेदना। अथ च नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इत्यादीनां वेदान्तवाक्यानां सङ्गतिर्न स्यात् कथञ्चिदपीति जीवात्माणुत्ववादो नोपपन्नः।

अन्तःप्रविष्टः शास्तेति मोक्षायोपादिशच्छ्रुतिः।
एवमेषा महामाया वादिनामपि मोहिनी॥३३॥
यस्मात् साक्षात्कृते सद्यो लीयते च सदाशिवे।
देहेन्द्रियासुहीनाय मानदूरस्वरूपिणे॥३४॥

तमिमर्थं विशदयति– **देहादिष्वहमिति**। यद्यप्यात्मा व्यापक आकाश इव तथाप्यहमित्य-भिव्यक्तिरन्तःकरणावच्छेदेन तदध्यास एव न ह्यभिव्यक्तितोऽन्यः प्रवेश आत्मनो व्यापकस्य, इति देहेन्द्रियादिष्वेवाहंममाभिमानः, नान्यत्र। अत्र देहादावेवात्मत्वाभिमानो यन्निबन्धना प्रमाणप्रवृत्त्यापत्तिरिति न सर्वस्य सर्वज्ञत्वम्, न वा घटादिष्वपि प्रवेशः। अधिष्ठानतया विवर्तभाक्त्वेन व्यक्तरूपेण व्यापकात्म-सम्बन्धस्तु सर्वत्र समानः। अत एवोपरागाभेदाभिव्यक्त्यर्था, आवरणाभिभवार्था वा वृत्तिः स्वीक्रियत इति। यतोऽन्तःकरणावच्छेदं विना नावरणाभिभवो घटादौ, स्वप्नादौ त्वन्तःकरणावच्छेदेन साक्षिण्येवाध्यासात् सदा भानम्॥३२१/२॥

नन्वत्र का वा विनिगमना? चैतन्यस्य सर्वत्र प्रवेशाऽविशेषे कुत्रचन सर्वदाभिव्यक्तिः, कुत्रचन कदाचन वेति, कथं वा स्वप्रकाशस्य चैतन्यस्याप्रकाश इत्यत आह– **एवमेषेति**। सत्यं चैतन्यं स्वप्रकाशं परन्तु स्वस्यैव सर्वदा प्रकाश इति जीवं प्रत्यनाद्यविद्यायोगात् तयाऽऽवृतमेव सदादिरूपेण केनचन। अत एव तदधिष्ठानं सर्वस्य जगतः, तदविद्यानिवृत्तिर्जीवानां तद्विरोधिप्रमाणजन्यवृत्त्यैव विद्याख्ययेति परिस्थितिः। इयं च परिस्थितिरुद्बोधिताऽपि वादिनो कथमिमां न विश्वसन्ति, पृच्छन्ति च क्रियासमभिव्याहारेण कथं चैतन्यस्यावरणमविद्यया? कथं च तदाश्रयत्वम्? किन्तन्निवर्तकम्? कथं च तस्या अनादेर्विद्यया अपि निवृत्तिः? किमस्य स्वरूपम्? कथमनिर्वाच्या? इत्यादि।

अहो! चित्रम्, अथवा न चित्रमिदम् महामायासहायं स्वप्रकाशमपि व्यापकं यदियमावृणोति, तदा किमु वक्तव्यं पुनः पुनरुद्घोषितोऽपि न व्यावृणोतीति॥३३॥

अस्तु, पुनरप्युद्बोध्यन्ते वादिनः– प्रमाणजन्योऽधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार एवाविद्याया निवर्तकः। तथा चावरणशक्तिमत्त्वात् मोहिनी न केवलं चैतन्यस्य, किन्तु वादिनामपि, तन्निवृत्तिस्तु तत्त्वसाक्षात्कारं विना न सम्भवति। यस्य तु तत्त्वसाक्षात्कारः तस्यैवाज्ञानं निवर्तते। नान्यस्येत्याह– **यस्मादिति**। यस्मात् सदाशिवे साक्षात्कृते परमात्मनि तस्मिन् सा लीयते, नान्यथेति। नात्र विनिगमनाविरहकथा, कथमज्ञानेन ब्रह्मण आवरणमित्यादिकथेति भावः।

तदेवं देहेन्द्रियमनोविज्ञानानामात्मत्वं निरस्य तद्विविक्ततयाऽऽत्मसाक्षात्कारेणैवाज्ञाननिवृत्तिः, नान्यथा, तन्निवृत्तौ ज्ञाताज्ञातविभागशून्याखण्डात्मरूपतापत्तिरिति निष्कर्षः। तथा चानन्दात्माखण्डसाक्षात्कारत्वेना-वरणत्वेन गुरुत्वादिस्फुटीकृतं श्रीदक्षिणामूर्तिनेति बोधयन् नोपदेशानुपपत्तिरिति क्रमेण तुरीयादिसप्तमान्त-भूमिकारूढानामिति सूचयन् पञ्चमश्लोकोल्लासमुपसंहरति– **देहेन्द्रियास्विति**। सत्स्वेव शरीरेन्द्रियप्राणेषु तद्विविक्ततया प्राप्तात्मनः स्वरूपसाक्षात्कारवते **मानदूरस्वरूपिणे**= उपाधिनिवृत्त्याऽपरिच्छिन्नस्वरूपाय,

ज्ञानानन्दस्वरूपाय दक्षिणामूर्तये नमः।
इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे पञ्चमोल्लाससङ्ग्रहः।।३५।।

।।इति श्रीमानसोल्लासे पञ्चमोल्लासः।।

ज्ञानानन्दस्वरूपाय=ज्ञानाज्ञानविभागशून्यायाऽखण्डात्मने **दक्षिणामूर्तये नम** इति योजना। सदात्मनाऽधिष्ठानतादशायां नियमेन ज्ञातत्वात् तथा चिदात्मनाऽपि ज्ञातत्वात्, अज्ञातानन्दात्मनाऽपि स्थितप्रज्ञावस्थायां ज्ञानात् ज्ञातव्यांशाभावात् सर्वात्मना ज्ञानं ज्ञानानन्दस्वरूपेणेत्यनेन सूचितम्।

तत्र यद्यपि नित्यानन्दात्मनाऽपि ज्ञानकाल एवाज्ञाननिवृत्त्या बाधविधया सदादिभेदस्यापि निवृत्त्या ज्ञानानन्दादिभेदविभागो नोपपद्यते, तथाप्यानन्दात्मना ज्ञानदशायां ज्ञानात्मना तदुपलक्षितसदात्मना वाऽज्ञानं नानुवर्तत इति ज्ञापनार्थं ज्ञानपदम्। आत्मदेहेन्द्रियप्राणबुद्धिशून्यत्वं सत्स्वेव शरीरादिषु विवक्षितम्, तेन साक्षात्कृतात्मतत्त्वानां न प्राणोत्क्रमणादिकम्, किन्तु 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति श्रुत्याऽत्रैव ब्रह्मभाव इति सूच्यते। अत एव श्रुतिः 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति।।३४१/२।।

अथावसरप्राप्तपञ्चमश्लोकार्थोपसंहारं प्रस्तौति– **इतीति**।।३५।।

पञ्चमे श्लोके **'मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे'** इत्यत्र मायाशक्तिपदप्रयोगः, तथा ततो महाव्यामोहपदप्रयोगश्चाद्वैतसिद्धान्तविरुद्धः, प्रत्यभिज्ञादर्शनसिद्धान्तसिद्धश्च, इति तत्राद्वैतसिद्धान्तानुसन्धानमसङ्गतम्। माया हीश्वरस्य शक्तिविशेष इति प्रत्यभिज्ञादर्शने प्रसिद्धम्। अतो नायं श्लोकोऽद्वैतसिद्धान्तमवलम्बत इत्यमरनाथो वदति।

अत्रेदमवधेयम्– सत्यमद्वैतसिद्धान्ते न मायेश्वरस्य शक्तिः, को वा वदति तथा? अत्र हि श्लोके न मायेश्वरशक्तिरिति मन्यते, न ह्यत्र मायारूपा शक्तिरिति कर्मधारयसमासः, किन्तु मायायाः शक्तिरिति षष्ठीतत्पुरुषः। तत्र माया, अविद्या वा सुरेश्वरमते जीवमेवाश्रयते, भगवत्पादमतेऽपि। व्यक्तञ्चैतत् 'तदधीनत्वादर्थवत्' इति ब्रह्ममीमांसायाम्। मायायाः संविदाश्रयत्वकल्पे तु भगवत्पादाभिमतेऽपि न मायारूपशक्त्या ब्रह्मण आवरणं व्यामोहो वा, किन्तु मायाया एव शक्त्या। मायाऽऽवरणशक्तिमात्रप्रधाना, आवरणविक्षेपशक्तिश्च[१] प्रधानेत्यद्वैतसिद्धान्तः। तत्र च तस्या व्यामोहशक्तिः, आवरणशक्तिर्वा न व्याहन्यते। तथा च भगवद्गीतायाम्– 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इति न किमपि छिन्नम्। देहादावात्मत्वाभिमानः संविन्मात्रेऽज्ञानेनावृते देहाद्यध्यासेनेत्यादि भाष्ये व्यक्तम्।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां पञ्चमी वर्धिनी।।

१.शक्तिभ्यः इति हस्तलेखे पाठः प्रतीयते। अत्र 'आवरणविक्षेपशक्तिश्च' इत्यस्य स्थाने 'अज्ञाने विक्षेपशक्तिश्च'इति पाठः प्रायशः समुचितो भवेत्।

ॐ

अथ मानसोल्लासे
षष्ठोल्लासः

सुषुप्तिविषयविवेचनम्

स्वप्ने विश्वं यथा तत्स्थं जाग्रत्यपि तथेति चेत्।

"देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः" इति पञ्चमश्लोकप्रक्रान्तेषु शून्यमात्मेतिवादोऽपि तच्छ्लोकव्याख्यानावसरेऽवशेषित इति शून्यवादनिरासार्थमयं षष्ठः श्लोकः। तत्प्रक्रियां सङ्गृह्णाति- **स्वप्न** इति। अत्र स्वप्ने, जाग्रति च यथा भवति, तत्रार्था वर्तन्त इति परीक्षितम्। तेन स्वप्नदृष्टान्तेन विज्ञानवादातिरेकेणार्थानां पृथक् स्वरूपं नास्तीति विज्ञानवादनिरासः सूचितः। व्यक्तं चैतत् 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इतिसूत्रभाष्यादौ। वैधर्म्यञ्च बाधाबाधाभ्यामेवार्थानाम्, न तु सत्त्वासत्त्वाभ्याम्। तच्च सत्त्वमीशसत्त्वैव सनातनत्वेनेत्यपि विवेचितम्। बाधाबाधौ तु व्यवहारकाले तत्प्रयोजकतद्दोषनाशानाशाभ्याम्। अतो सौगतानां विज्ञानवादो निरस्तप्राय इति मत्त्वा बौद्धानां शून्यवादमात्रस्यात्र निरासः।

अत्र सौगतसमये द्वौ प्रकारौ प्रतिपत्तिभेदात्, विनेयभेदाच्च। ते च त्रिविधाः- सर्वास्तित्ववादिनः, विज्ञानमात्रात्मवादिनः, सर्वनास्तित्ववादिनश्च। सर्वे तदीयपदार्थानां क्षणिकत्वम्, परमाणुसङ्घाततया पृथिव्यादीनां मनुष्यादिशरीराणां विज्ञानसंस्कारवेदनास्कन्धेभ्यः उत्पत्तिञ्च स्वीकुर्वन्ति। तत्र प्रथमेऽर्थानामपि ज्ञानाकारव्यतिरेकेण सत्त्वमुररीकुर्वन्ति। विज्ञानवादिनस्तु ज्ञानाकारव्यतिरेकेणार्थानां नास्तित्वमुररीकुर्वन्ति। शून्यवादिनस्तु विज्ञानस्कन्धसाधारण्येन सर्वेषां नास्तित्वं मन्यन्ते। तत्र भगवत्पादाः समुदायाधिकरणादौ विस्तरेण प्रथमौ पक्षौ निराकुर्वन्ति। सर्वशून्यवादे तु 'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविरुद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियत इति भाषन्ते' वादद्वयनिरासप्रकारैः सर्वैरपि तन्निरासः कृतप्राय इति कृत्वा। तद्धि न केवलमीश्वरास्तित्वम्, जीवास्तित्वमप्यवहन्ति। तत्र शून्यं नाम तत्त्वं माध्यमिककारिकासम्मतम्- अस्ति, नास्त्युभयानुभयशून्यं सत्तासामान्यम्। सत्तासामान्यमेवानुवर्तमानं स्वलक्षणं नाम। परन्तु तदपि प्रथमकोटौ सत्यन्तर्भावादस्तीति प्रतीयमानं सांवृतं सत्यमेव न परमार्थसत्यम्। अतस्तत्रास्तीत्यादिप्रतीतिरपि भ्रम एव। चतुष्कोटिविनिर्मुक्ततया स्वलक्षणं न ज्ञायते, तावदस्तीत्यादिप्रत्यक्षं सांवृतसत्यतया सर्वमनुवर्तते। तच्च न भावो नाभावो न भावाभावोभयं, तथापि भावस्वरूपस्याप्रत्यक्षत्वादभावादुत्पत्तिरिति व्यपदेशोऽपि न युक्तः। सर्वथात्वभावादुत्पत्तिवादेनैवोत्पत्तिव्यवस्था, सा तु वस्तुगत्या नेति कृत्वैव। तन्मतेऽज्ञानवाद आत्मनोऽपि नास्तित्वकल्पनया जाग्रत्स्वप्नयोः कथञ्चन भवितुमर्हति[1]। अतस्तद्दशामाश्रित्यात्मनास्तित्वं तैरपि वक्तुं न

१.शून्यवादिमते ज्ञानस्यापि परमार्थतः सत्ता निराकृता भवति, सर्वस्याप्यस्तित्वस्य निराकरणात्। अतः जाग्रत्स्वप्नयोरवस्थयोः ज्ञानोत्पत्तिद्वारा ज्ञानसत्त्वं परमार्थतः व्यवस्थापयितुं न शक्यम्।

सुषुप्तौ कस्य किं भाति कः स्थायी तत्र चेतनः॥१॥

बौद्धमतोपस्थापनम्

सर्वं च क्षणिकं शून्यं सर्वमेव स्वलक्षणम्।
सङ्घातः परमाणूनां मह्यम्ब्वग्निसमीरणाः॥२॥
मनुष्यादिशरीराणि स्कन्धपञ्चकसंहतिः।
स्कन्धाश्च रूपविज्ञानसंज्ञासंस्कारवेदनाः॥३॥
रूप्यन्त इति रूपाणि विषयाश्चेन्द्रियाण्यपि।

शक्यम्। अतः सुषुप्तिमादायैव तदस्तित्वं तैराक्षिप्यते[1]। सुषुप्त्यवस्थापरीक्षणेनात्मास्तित्वसमर्थनेन तन्मतं निरसनीयमित्यभिप्रायेणात्मनास्तित्वमाक्षिप्य समर्थनार्थं षष्ठश्लोक इत्यवतरति मानसोल्लासः— **स्वप्न इति**। अनेन जाग्रत्स्वप्नयोरात्मास्तित्वं सांवृतमपि कथञ्चन वर्ततामिति बोध्यते। यद्येवम्, तर्हि आत्मनास्तित्वं कथमिति शङ्कायामाह— **सुषुप्ताविति**। जाग्रत्स्वप्नयोः कथञ्चन स्थाय्यात्मा स्वीक्रियतामित्यभ्युपगमवादेन 'तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन वा परमतस्याप्यभ्युपगमः, न तत्रापि स्थायी आत्मा तेन स्वीक्रियते इति न सर्वनास्तित्वविरोधः। तत्र सुषुप्त्यादिः[2] सर्वज्ञानाभावः, अत एव 'न किञ्चिदप्यवेदिषम्' 'मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभवः। तथा च न तत्र ज्ञानं, न वा ज्ञेयं, नापि ज्ञातेति त्रिपुटस्याप्यभावादात्मनोऽपि नास्तित्वमिति भावः॥१॥

इतः परं सर्वशून्यतावादिनां प्रक्रियाः सङ्गृह्यन्ते— तन्निरासार्थमेव षष्ठः श्लोक इत्यवतरणोपयोगितया— **सर्वञ्चेत्यादिना**।

अयमाशयः—**सर्वम्**=परमाणवः पञ्चस्कन्धाश्च सर्वे क्षणिकाः, **शून्यम्**=सत्,असत्, सदसत्, सदसद्विलक्षणम् इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम्। **स्वलक्षणम्**=केवलं सन्मात्रम्, **मह्यम्ब्वग्निसमीरणाः**= पृथिव्यप्तेजोवायवः, **परमाणूनां सङ्घातः**=अवयवातिरिक्तसमुदायाभावात् तत्तत्परमाणव एव। तानि तानि भूतानीति भावः॥२॥

एवं रूप-विज्ञान-संज्ञा-संस्कार-वेदनाः पञ्चस्कन्धाः पृथिव्यादिपरमाणवश्च मनुष्यादिशरीराणि, तदतिरिक्तो न जीवः, ईश्वरो वान्योऽस्ति॥३॥

तत्र रूपस्कन्धो विषयेन्द्रियाणि, शरीररूपाणि। संज्ञास्कन्धस्तु पञ्चविधः— संज्ञागुणक्रिया-जातिविशिष्टभेदात्। तत्तदुदाहरणमपि तु क्रमेण **गवां गौरित्यादिना संज्ञास्कन्ध इतीर्यते**, इत्यन्तेन

१.अत्र 'अतस्तद्दशामाश्रित्यात्मनास्तित्वं तैरपि वक्तुं न शक्यम्। अतः सुषुप्तिमादायैव तदस्तित्वं तैराक्षिप्यते' इत्यस्य 'अतः स्वप्नजाग्रद्दशामाश्रित्यात्मनः सांवृतिकमस्तित्वं तैरपि निषेद्धुं न शक्यम्। अतः सुषुप्तिमादायैव आत्मनश्चतुष्कोटिविनिर्मुक्तमस्तित्वं तैराक्षिप्यते' इत्याशयः प्रतिभाति। अथवा 'अतस्तद्दशामाश्रित्यात्मनोऽस्तित्वं तैरपि वक्तुं न शक्यम्। अतः सुषुप्तिमादायैव तन्नास्तित्वं तैराक्षिप्यते' अनया रीत्या पाठसङ्गतिः कर्तव्या।

२.सुषुप्त्यादिः सुषुप्तिप्रथमक्षणादारभ्य सुषुप्तिसमयः समग्रः।

विषयेन्द्रिययोर्ज्ञानं विज्ञानस्कन्ध उच्यते॥४॥
संज्ञागुणक्रियाजातिविशिष्टप्रत्ययात्मिका।
पञ्चधा कल्पना प्रोक्ता संज्ञास्कन्धस्य सौगतैः॥५॥
गवां गौरिति संज्ञोक्ता जातिर्गोत्वं तु गोगतम्।
गुणाः शुक्लादयस्तस्य गच्छत्याद्याः तथा क्रियाः॥६॥
शृङ्गी चतुष्पाल्लाङ्गूली विशिष्टप्रत्ययो ह्यसौ।
एवं पञ्चविधा क्लृप्तिः संज्ञास्कन्ध इतीर्यते॥७॥
रागाद्याः पुण्यपापे च संस्कारस्कन्ध उच्यते।
सुखं दुःखञ्च मोहश्च स्कन्धः स्याद्वेदनाह्वयः॥८॥
पञ्चभ्य एव स्कन्धेभ्यो नान्य आत्मास्ति कश्चन।
न कश्चिदीश्वरः कर्ता स्वगतातिशयं जगत्॥९॥
स्कन्धेभ्यः परमाणुभ्यः क्षणिकेभ्योऽभिजायते।
पूर्वपूर्वक्षणादेव क्षणः स्यादुत्तरोत्तरः॥१०॥
पूर्वस्मादेव हि ज्ञानाज्जायते ज्ञानमुत्तरम्।
स एवायमिति ज्ञानं सेयं ज्वालेव विभ्रमः॥११॥
अस्ति भातीति धीर्भ्रान्तैरात्मानात्मसु कल्प्यते।

विवक्षितम्। ततः संस्कारवासनास्कन्धौ निरूपितौ। एवं पञ्चस्कन्धाः चतुर्विधपरमाणुसङ्घाताः।

शरीरातिरिक्त आत्मा पृथङ् नास्ति। विज्ञानस्कन्धोऽपि शरीरान्तर्गत एव। सोऽपि चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं क्षणिकमेव। पञ्चस्कन्धाः चतुर्विधपरमाणवः क्षणिकाः शून्याः। तत्र पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्तरक्षणस्य तथा पूर्वविज्ञानादुत्तरोत्तरविज्ञानस्यापि शून्यस्यैव शून्यादेवाविर्भावः।

इयमेव व्यवस्था योगाचारमतेऽपि, परन्तु विज्ञानस्कन्धो नामात्मा[१] कश्चनास्ति, न तु स शून्यम्, परमाणुप्रभृतयोऽपि ज्ञानातिरिक्ता न सन्ति। तथा च न शून्यमिति विशेषः।

एवं विज्ञानं सालम्बनम्, परन्तु न तदाकारातिरिक्तमालम्बनम्। न च तद्रूपाकाराः[२]। इदमेवाभिप्रेत्योक्तम् शाबरभाष्ये विज्ञानवादसमाप्त्यनन्तरं 'शून्यस्तु' इति। शून्यपदार्थो निरालम्बन इति। न विज्ञानं निरालम्बनमिति

१.अत्र 'नात्मा' इति पाठो हस्तलेखे। परन्तु स न सङ्गतः प्रतिभाति। विज्ञानवादिमाध्यमिकयोस्तावदयमेव भेदो यद्विज्ञानवादिनये विद्यते विज्ञानं यच्च सत्, क्षणिकञ्च। परन्तु शून्यवादिनस्तु सर्वस्यापि निषेधं कुर्वन्ति। अत एव चन्द्रधरशर्मप्रभृतिभिर्विद्वद्भिर्योगाचारविज्ञानवादिनां मतं प्रायशोऽद्वैतवेदान्तसदृशमेवेति व्यवस्थापितम्।

२.ज्ञानस्यालम्बनं न तद्रूपादय इत्यर्थः प्रतिभाति।

हानोपादानराहित्यादाकाशः किं प्रकाशते।।१२।।
इत्येवं बौद्धसिद्धान्ती भाषमाणो निषिद्ध्यते।

बौद्धमतनिरासः

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान्।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।६।।

तदर्थः। शून्यत्वेन सदादिवैलक्षण्येऽपि ज्ञानाकारेण सर्वे विषयाः सन्त्येव तन्मते। सर्वे पृथिव्यादिपरमाणवो यदस्ति भातीति प्रतीयन्ते, स प्रत्ययो भ्रमःआत्माश्रय एव[1]। अतो जाग्रदादावप्यात्मास्ति इतिवादो विभ्रममात्रनिबन्धनो न त्वात्मा नामाक्षणिकः[2] विज्ञानातिरिक्तो वर्तत इतिशङ्कावारणार्थं षष्ठः श्लोक इति श्लोकार्थनिष्कर्षः।।४-१२१/२।।

राहुग्रस्तेतिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रषष्ठश्लोकस्य व्याख्या

सुषुप्तौ आत्मा सन्मात्रोऽस्ति, न सद्व्यतिरिक्तः, येन शून्यं स्यात्। स तु स्वयम्प्रकाशः, स्वयम्प्रकाशत्वात् न कस्याप्यन्यस्य विना तद्विषयाज्ञाननिवृत्तिं भासते[3]। येन कस्य किं भातीति प्रश्नः स्यात्, सः स्वयम्प्रकाशश्च तत्र जाग्रत्स्वप्नयोरिव स्थाय्येव न क्षणिकः। तथा च सर्वे विषयाः स्वप्ना वा भावा एव[4]। आत्मापि न क्षणिको न शून्यः, स्वयम्प्रकाशोऽपि मायासमाच्छादनात् राहुग्रस्तसूर्यचन्द्रवदन्यस्य कस्यापि चिद्रूपेणानन्द-रूपेण वा न प्रकाशते, प्रलय इव 'सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्' इत्युक्तरीत्या सन्मात्रम्, नाभिव्यक्तम्। तदभिव्यञ्जकान्तःकरणस्यापि विलयात्। सुषुप्तौ साक्षिरूपेणापि जाग्रदादाविव न प्रकाशते। न हि राहुग्रस्तो दिवाकरो ग्रासकालेऽप्रकाशमानोऽपि नास्ति क्षणिकः शून्यो वा। एवमेवायमात्मापि, तदाऽप्रकाशमानोऽपि न नास्ति, किन्तु स्थाय्येव। कथं स्थायी? स्वयम्प्रकाशमानश्चास्ति केवलं तस्मै प्रकाशते। अन्यथा शशशृङ्गादिकमपि न भाति, परन्तु स्वयं स्वस्मै प्रकाशत इति स्यादिति शङ्का स्यात्। तद्वारणार्थं **मायासमा-च्छादनादे**वात्माप्रकाशोऽस्ति, न त्वसत्त्वात्। न चेदं समाधानं शशशृङ्गादावपि समानं स्यात्, न च

१.आत्माश्रयमेव इति हस्तलेखे पाठः।
२.नाम क्षणिकः इति पाठो हस्तलेखे।
३.स्वयम्प्रकाशत्वं नामावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषययोग्यत्वम्। आत्मा हि स्वयमवेद्योऽपि सन्नपरोक्षव्यवहारविषयो भवति। स तु स्वयम्प्रकाशत्वात्, स्वयम्प्रकाशो न कस्याप्यन्यस्य विना तद्विषयाज्ञाननिवृत्तिं भासते इति पाठो हस्तलेखे।
४.ये ये विषयाः भासन्ते ते शशशृङ्गादिवदसन्तः इति न वक्तुं शक्यमित्यभिप्रायो बुध्यते।

अस्यायमाशयः–

शून्यं चेज्जगतो हेतुः जगदेव न सिद्ध्यति।।१३।।

घटः शून्यः पटः शून्य इति कैः प्रतिपाद्यते।

शशशृङ्गादिकमज्ञानेनावृतं सदेव न प्रकाशते। अन्यथा राहुग्रासावसरे न प्रकाशते इति कृत्वा सूर्यचन्द्रादिकं पूर्वमुत्तरं च प्रकाशमानमसदित्यापद्येत। अत्र दृष्टान्ते राहुग्रासेनावरणम्, दार्ष्टान्तिके मायाग्रासेनावरणमिति विशेषः। तथा च सुषुप्तेः पूर्वं तदुत्तरं च प्रकाशमान आत्माऽपि न नासीत्, न क्षणिकः शून्यो वेति भावः।

अपरो विशेषस्तु राहुग्रस्तस्य ग्रासेनावरणमात्रादप्रकाशः, ततोऽपरे व्यवहारा अन्येषां प्रकाशश्च भवति, सुषुप्तस्य तु न तथा। तत्र सुषुप्तावप्रकाशमात्रेण राहुग्रस्तदृष्टान्तेन सन्मात्रत्वमिति कथमिति शङ्का स्यादिति तद्वारणार्थं **करणोपसंहरणत** इति। आवृतस्याप्रकाशमात्रेऽयं दृष्टान्तः, तद्विशेषस्तु दृष्टान्ते न सर्वेषामप्रकाशः, न वा सर्वथाप्रकाशः। अन्येषां प्रकाशस्तु करणानुपसंहारात्, सुषुप्तौ तु करणानामप्युपसंहारात् साक्षिताप्यपैति, इति कस्यापि, किं बहुना, आत्मनोऽप्यहंरूपेण न भानमिति भावः। सर्वथा तु राहुमुखस्थचन्द्रस्य सूर्यस्य च प्रागिवोर्ध्वमपि भानमिव जागरे सुप्तोत्थितस्यात्मना साक्षिरूपेण करणानां प्रत्याहारात्, अपरेषामप्यात्मनां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव उभयोरप्युपपन्न एव।

तत्र यथा स एवायं चन्द्रो मुक्त इति प्रत्यभिज्ञा, एवं एतावत्पर्यन्तं 'नाहं तदद्राक्षम्' इति प्रतीतिः। एवं सुप्तोत्थितस्य स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा। तथा 'एतावन्तं कालं न किमप्यन्वभवम्' इति, न च नावर्तते इति नासत्त्वम्, न च शून्यत्वमिति भावः।

तथा च 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' इतिन्यायाप्रसरात् पूर्वमिवोत्तरमप्यात्मानुभवस्य विद्यमानत्वात्। तस्य कदाप्यभावेन नासत्त्वम्, न वा शून्यत्वम्, येनात्मास्ति, भाति, इति भावो विभ्रमो भवेत्। अयमेव न्याय ईश्वरेऽपि। शून्यशब्देनाभावो भगवत्पादैर्गृहीत इति भगवत्पादानां शून्यवादनिरासो न तन्मतमनुसरतीति केचन मन्यन्ते, अभावाद् भावोत्पत्तिनिरासः, सर्वास्तिवादं विज्ञानवादमभिप्रेत्यैव भगवत्पादादीनाम्, तत्रैव तत्प्रस्तावात्। तत्राभावस्य कारणतानिरासो भावकारणत्वासम्भवं तन्मते सिद्धवत् क्लृप्त्यैव, येन भावस्यैव कारणत्वमर्थसिद्धं भवति। शून्यतावादे तु न भावत्वं वा, अभावत्वं वा, उभयं वा, अनुभयं वा शून्यम्। न भावकारणत्वं, नाभावकारणत्वं, नोभयकारणत्वं, नानुभयकारणत्वं वेति सर्वप्रमाणविरुद्धः शून्यवाद इत्येवं भगवत्पादाशयः। शून्यं हि न शून्यशब्देनापि वाच्यम्, शून्यमिति न वक्तव्यम्–

"शून्यमिति न वक्तव्यं नाशून्यमिति वा भवेत्।
येषां तु शून्यताबुद्धिस्तानध्यासान् प्रचक्षते।।" इति माध्यमिकवचनात्।

अनेन श्लोकेन प्राधान्येन ईश्वरो गुरुरात्मेति त्रैविध्यमात्मत्वे[१] निरूप्यते, तदिदं सर्वं विवरीतुं मानसोल्लासः– **शून्यञ्चेदिति**। शून्यं हि चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं न जगतः कारणं भवितुमर्हति। तदेव हि कारणम्, यत्कार्येष्वनुवर्तते, यथा– मृद् घट इति। न च शून्यं कार्येषु तथाऽनुवर्तते– घटः शून्यः, पटः शून्यः इति। विज्ञानवादे

१.आत्मनो निरूप्यते इति पाठस्तु सङ्गततरो भवेत्।

नैव भासेत शून्यं चेज्जगन्नरविषाणवत्।।१४।।

वस्त्वर्थी किमुपादद्याद्धारार्तः किं परित्यजेत्।

को विदध्यान्निषिद्ध्येद्वा शून्यत्वात् स्वस्य चात्मनः।।१५।।

अवसीदेत् निराकूतं तस्मात् सर्वमिदं जगत्।

स्कन्धानां परमाणूनां न सङ्घातयिताऽस्ति चेत्।।१६।।

त्वभावः कारणम्, असत्कार्यवादेनासत्कारणम्। तत्र च किमनुवर्तते कुत्रानुवर्तते इति न वक्तुं शक्यम्। न चैवं शून्यम्, तस्य स्वलक्षणस्य सर्वत्रानुवृत्तेरवक्तव्यत्वात्। अत्रोभयशून्यत्वे स्वरूपतोऽपि शून्यता, न वा कारणानुवेधेन शून्यता, इति शून्यताया अनुभवविरुद्धत्वात्। एवं प्रमाणविरुद्धः शून्यवादः। न केवलं शून्याननुवृत्तिमात्रेण शून्यतावादोऽयुक्तः किन्तु प्रमाणानुपपत्त्याऽपि। शून्यं हि सत्तामात्रम्, न तु स्वतः परतो वा भासमानमपि; कारणस्य, कार्यस्य वा शून्यस्य प्रकाशताया अभावात्। अतो न प्रकाशानुपपत्तिः।।१३१/२।।

अद्वैतमते सत्तायाः प्रकाश्यस्य वोभयस्य कारणसत्ताप्रकाशाधीनसत्ताप्रकाशत्वात् सद्रूपस्य, चिद्रूपस्य च प्रकाशमानस्योपादानकारणत्वात् , सत्तानुवेधः, प्रकाशानुवेधोऽप्युपपद्यत इति न शून्यवादो युक्तः। तदेतदाह-**नैवेति**। शून्यं हि न सत्, न चासत्, न वा सदसत्, इति सत्त्वाभावे नरविषाणवदपरोक्षत्वेन न प्रतीयेत, सत्त्वे वाऽपरोक्षत्वेनैव प्रतीयेत। अतो यदि सत्त्वमङ्गीकर्तव्यम्, तर्हि अपरोक्षत्वेन प्रतीतिविषयत्वम्। किं बहुना? विभ्रमविषयत्वमप्येवं न स्याज्जगच्छून्यतायाम्। तथा च तद्धानोपादानानुपपत्तिः। अनेन 'सुषुप्तौ कस्य किं भाति' इति सुषुप्तौ ज्ञातृज्ञेयज्ञानाभावात् शून्यवादस्य प्रतिबन्दिविधया सुषुप्तौ, किं बहुना, जागरस्वप्नयोरपि प्रमाणविकल्पविपर्ययादिसर्वविधप्रतीत्यनुपपत्त्या शून्यवादो निरस्तः। एवं हानोपादानानुपपत्त्यापि।।१४१/२।।

अथ विधिप्रतिषेधानुपपत्त्या, धर्माधर्मव्यवस्थानुपपत्त्याऽपि शून्यवादायोगो बौद्धमते। तथा च व्यवहारव्यवस्थानुपपत्तिरपीत्याह-**को विदध्यादिति**। अनेन प्रवर्तकानुपपत्तिः, वृत्त्यनुपपत्तिः, तेन निराकूतं सर्वं जगद् विपदर्णवमग्नं स्यादिति सर्वविपत्तिनिराकरणार्था बौद्धानां स्वधर्मप्रचारः, स्वतत्त्वविचारो वा विपदर्णवमज्जनायैव स्यादिति प्रसिद्धमिदमाभाणकमेव स्मृतिपथमायाति– 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इति। तदेवं सुषुप्तौ कस्य किं भाति,कः स्थायीति बौद्धानां सर्वास्तित्ववादिनां विज्ञानास्तित्ववादिनां च तत्तत्त्वक्षणिकत्वस्थिरत्ववादमतनिरासार्था शून्यवादिनां भूमिका निरस्ता।।१५१/२।।

अतः परं बौद्धानां त्रयाणामपि पञ्चस्कन्धादिप्रक्रियां निरसितुमाह-**स्कन्धानामिति**। अत्र सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः, यद्यपि रूप्यमाणा पृथिव्यादयो बाह्या वा मनुष्यादिशरीराणां सङ्घातततामर्हन्ति, तथापि कार्यत्वात् पृथिव्यादीनामप्याध्यात्मिकता विरुद्धा। एतेन विज्ञानस्कन्धोऽपि व्याख्यातः। स ह्ययमित्याकारो रूपादिनिर्णयः, इन्द्रियादिविषयो वा विज्ञानाकारः, वेदनास्कन्धस्तु प्रियाप्रियानुभवविषयस्पर्शे सुखदुःखतद्रहितविशेषावस्था चित्तस्य जायमाना। संस्कारस्कन्धस्तु रागादयः, क्लेशाः, उपक्लेशाः मदमानादयः, धर्माधर्मौ। तदेवं पञ्चस्कन्धसङ्घातः, परमाणुसङ्घातश्च यदि

सङ्घातो न विना हेतुं जडाः घटपटादयः।

महानुभावो भूयासमिति भ्रान्तश्च मन्यते॥१७॥

आत्मापलापको बौद्धः किमर्थं चरति व्रतम्।

प्रत्यभिज्ञायाः भ्रान्तित्वस्वीकारे दोषाः

प्रत्यभिज्ञा यदा भ्रान्तिः भोजनादि कथं भवेत्॥१८॥

इष्टसाधनमेवैतदन्नं गतदिनान्नवत्।

इति निश्चित्य बालोऽपि भोजनादौ प्रवर्तते॥१९॥

अवकाशप्रदातृत्वमाकाशार्थक्रिया यथा।

तथैवार्थक्रिया पुंसः कर्तृत्वज्ञातृतादिका॥२०॥

सुषुप्तिसमयेऽप्यात्मा सत्यज्ञानसुखात्मकः।

सर्वव्यवहारहेतुः, कथमात्मानं लभते, सङ्घातयितुः स्थिरत्वाभावे सुतरां च सर्वस्य शून्यत्वे। अतः समुदायानुपपत्त्या सामान्यतो बौद्धमतस्य विशेषतश्च शून्यवादस्यानुपपत्तिः। इदञ्च 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः' इति सूत्रे ब्रह्ममीमांसायामप्युक्तम्। यद्यपि सर्वास्तित्ववादनिरासावसर एवेदं सूत्रं प्रवृत्तम्, तथापि न्यायसाम्यात्, शून्यवादनिरासस्यान्यवादस्याप्युपलक्षणत्वम्, ब्रह्ममीमांसायां न्यायस्वरूपनिष्कर्ष एव तात्पर्यात्, उदाहरणविषयेऽनाग्रहात्। अत एव शून्यवादनिरासार्थव्यवस्थापरस्य सूत्रणम्॥१६१/२॥

अत्र समुदायाधिकरणे चेतनस्य जीवस्यापि सङ्घातार्थत्वं नास्तीत्युक्तम्। अत्र तु घटपटादीनामचेतनानामेव स्वयं सङ्घातार्थत्वं नास्तीत्युक्तम्। तदिदं शून्यवादे चेतनस्यापि शून्यत्वस्यावर्णनात् पृथक् पृथक् तस्य सङ्घटयितृत्वं न निरसनीयमिति मत्त्वा घटादीनामेव सङ्घातहेतुत्वं नास्तीति वर्णितम्। तदिदमाह- **महानुभाव** इति। अनेन शून्यवादिनां महानुभावो भूयासमिति व्रतविशेषाणामनुष्ठानमपि न सम्भवति, आत्माऽपलापकत्वात्। अनेन न्यायेन सङ्घातयितृत्वमपि नास्तीति ज्ञाप्यते। तत्र महानुभावो भूयासमिति तु क्षणिकत्वस्यापि शून्यत्वादात्मनः स्वीकाराद्विभ्रमः स्यात्, स चानुपपन्नः, इति भ्रान्तत्वं मन्यते। अनेन च क्षणिकत्वमपि सोऽहमिति स्थाय्यात्मविषयमनुपपन्नमिति सूच्यते। अन्यथा भूयासमिति भाविभावानुसन्धानमनुपपन्नं[1] स्यात्॥१७१/२॥

तत्र यदुक्तं प्रत्यभिज्ञेयं 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत् सादृश्याभिप्रायेति, भ्रान्तिर्वेति। तत्राह- **प्रत्यभिज्ञे**ति। अत्राद्वैतवादे सदसद्विलक्षणत्वस्वीकारात्, सत्तातादात्म्येन सत्प्रतीतिविषयत्वात्, स्थिरत्वाच्च यावद्बाधं प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, शून्यवादे तु नैवम्, तत्रेष्टसाधनत्वस्यैव शून्यत्वात्। अतः प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या न क्षणिकत्वोपपत्तिः। सर्वास्तिवादे, विज्ञानवादे च यत् क्षणिकम् तत् सदिति सत्त्वाङ्गीकारादपि सता प्रवृत्त्युपपत्तिः, शून्यवादिमते तु सदपि न युक्तमिति भावः॥१८-१९॥

तत्र यदि बौद्धमत आकाशस्यापदार्थत्वेऽप्यवकाशदातृत्वमेव, नात्मनोऽर्थक्रियाकारित्वं मन्यते, तर्हि

१...मनुपच्छिन्नं इति हस्तलेखे पाठः।

सुखमस्वाप्समित्येवं प्रत्यभिज्ञायते यतः॥२१॥
प्रत्यभिज्ञायत इति प्रयोगः कर्मकर्तरि।
आत्मा स्वयंप्रकाशत्वाज्जानात्यात्मानमात्मना॥२२॥
सुषुप्तौ मायया मूढो जडोऽन्ध इव लक्ष्यते[१]।
अप्रकाशतया भाति स्वप्रकाशतयापि च॥२३॥
जडात्मनि च देहादौ साक्षादीशो विविच्यते।

आत्मनोऽप्यर्थक्रियाकारित्वं स्यात्, तथा कर्तृत्वज्ञातृत्वादिकं स्यादित्यात्मापलापः कथमपि न सम्भवतीत्युपसंहरति शून्यतावादमात्मापलापकम्– **अवकाशप्रदातृत्वमिति**। स्पष्टोऽर्थः॥२०॥

तदेवं बौद्धानामाक्षेपमाकाशास्तित्वविषयं निरस्य सुषुप्त्यात्मास्तित्वं प्रमाणयति– **सुषुप्तिसमय** इति। सुषुप्तौ नात्मा न प्रकाशते, किन्तु सत्यज्ञानसुखात्मकं प्रकाशते, सदात्मना, ज्ञानात्मना, सुखात्मना च स्वयं प्रकाशते, परन्तु नाद्वयात्मना तस्य तत्प्रकाशः, अहङ्कारस्य तदा विलयात्। घटविलये घटाकाशस्य महाकाशभाववदपरिच्छिन्नात्मना प्रकाशते, तत्र सच्चिदंशयोर्जागरस्वप्नयोरपि साक्षिरूपेणात्मनोऽनावरणात्, जीवं प्रत्यपि तत्प्रकाशो जीवात्मनाऽपि, आनन्दात्मना तु तदाकारवृत्त्यनुदयात् न प्रकाशः। जागरे त्वनाद्यविद्याया अनादियोगेन तत्प्रयुक्तसदादिभेदादानन्दात्मनाऽप्रकाशो युज्यते, एवं सुषुप्तावपि रूपभेदोऽपि। तत्राज्ञानोपहितः प्रकाशते, इति सर्वस्याध्यारोपितं रूपम्, न वा तस्याधिष्ठानत्वम्, यतस्तत्राखण्डमज्ञानावृतम्, तेनाव्यक्तात्मैव सर्वस्यानुभवः[२], जागरेषु लेशतो भानमंशतोऽभानमित्यध्यारोपः। विशेषमभिप्रेत्यैव **'सत्यज्ञानसुखात्मक'** इत्युक्तम्। अतस्तत्र 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रत्यभिज्ञापि। तत्र चैतन्यांश एव प्रत्यभिज्ञा। अहमंशे तु स्मरणमेव, सुषुप्तिकालीनानुभवस्यैव तत्रानुसन्धानात्, सुषुप्तावहमनुभवाभावाच्च। अतः उक्तप्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेः, आत्मा सुषुप्तावस्तीति स्वीकर्तव्यम्॥२१॥

अत्र 'प्रत्यभिज्ञायते' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञाप्रमाता मुख्य आत्मेति शङ्का भवति। अतस्तत्र तद्वारणार्थं कर्मकर्तरि प्रयोगः। आत्मा स्वयम्प्रकाशत्वादात्मानं प्रत्यभिजानातीत्यर्थ इत्याह– **प्रत्यभिज्ञायत** इति। तथा च सुषुप्तावन्तःकरणस्यापि लयात्, तेन तदाकारवृत्त्या वोपधानाभावादहमिति प्रतीत्यभाव-मात्रेणात्मापलापो न युक्तः॥२२॥

नह्यप्रतीतिमात्रमसत्त्वं प्रसञ्जयति, अन्यथा सर्वदा प्रतीत्यभावेन सर्वापलापापत्तिः। शून्यतापि हि सर्वस्य सर्वदा न प्रतीयते इति शून्यस्याप्यपलापापत्तिरिति भावः। इममर्थसिद्धं स्वयमप्याह– **सुषुप्ताविति**। आत्मा सुषुप्तौ भातीति वर्णनमनुभवविरुद्धम्, कस्यापि तदाऽनुभवाभावादिति वचनं तु जात्यन्धस्यैव वचनम्। तथा वक्ता स हि मायया मूढो जात्यन्ध एव, यतस्तदाऽऽत्माऽज्ञानोपहितत्वात्, तदाऽप्रकाशमानोऽपि स्वयंप्रकाशमानोऽपि यथा मेघावृतः सूर्यः प्रकाशते, न प्रकाशते च, अन्यथा तेष्वावरणदशायामावरणं दृष्ट्वा सूर्यस्यापलापापत्तिरिति भावः। किं बहुना? देहादावनात्मन्यात्मबुद्ध्या जडवदवभासनान्न देहातिरिक्तात्म-

१.जात्यन्ध इति कथ्यते इति प्रकृतटीकाकृतां पाठः।
२.अत्र लेखोऽस्पष्टः।

एषैव मोहिनी नाम मायाशक्तिर्महेशितुः।।२४।।
मोहापोहः प्रमातॄणां मोक्ष इत्यभिधीयते।
अवस्थात्रयनिर्मुक्तो दोषादिभिरनाविलः।।२५।।
इषीक इव सन्मात्रः न्यग्रोधकणिकोपमः।

स्वरूपं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकादवगन्तुं शक्यत इति तदविवेकिनां देहादिरेवात्मा, न तदतिरिक्तो नात्मा प्रकाशते इत्यात्मापलापश्चार्वाकस्यापि साधुः स्यात्। अतस्तत्र यथा प्रकाशमानोऽप्रकाशमानश्चात्मा देहातिरिक्तो नापलपितुं शक्यते, तथा स्वप्रकाश आत्मापि सुषुप्तावपलपितुं न शक्यते। अतो मुग्धावस्थायामप्रकाशनतामात्रेणात्मापलापो न युक्तः। तथा चात्मप्रकाशोऽप्रकाशश्च देहात्मप्रतीतावपि दृश्यते। ततो मुख्यस्याधिष्ठानस्य प्रकाशः तन्माययैव तदप्रकाशश्चेत्याह–**जडात्मनीति**। अत्र ईशशब्देनाज्ञानोपहितं चैतन्यं विवक्ष्यते, तदीयत्वञ्च मायायास्तदावारकत्वमात्रेण, तस्याज्ञानविषयस्यैवाधिष्ठानत्वात्। अत्र मायाया मोहकत्वमावरणमात्रेण, न तु विक्षेपेण इति ब्रह्ममात्रविवर्तवादो मण्डनमिश्राभिमतो ज्ञायते[1]।।२४।।

ननु जीवानां चक्रभ्रमणवत् सर्वदा जाग्रदाद्यवस्थानामनुभवात् कदापि स्वयम्प्रकाशस्यात्मनोऽनुभवकथायाः कथामात्रत्वात् स्वप्रकाशनिर्विशेषात्मापलापो दुरपह्नव इति शङ्कायामाह– **मोहापोह** इति। पञ्चम्यादिभूमिकारूढो जाग्रत्येव सुषुप्तो मुक्तः, सर्वदोषविनिर्मुक्तं संविन्मात्रस्वप्रकाशमात्मतत्त्वं प्रकाशमानावस्थमेव क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकेन सच्चिदानन्दरूपमात्मानं श्रुत्येकगम्यमपि साक्षात्कृत्वापगततमोमोहोऽत्र समाधावस्ति दक्षिणामूर्त्यादिरूपो गुरुप्रवर इति भावः। इदमेवाभिप्रेत्य गीता–

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।"इति।

अतो महामोहव्यामोहार्थमेव प्रयत्नो युक्तः, न तु जाग्रदाद्यवस्थालय एव बम्भ्रमणेन स्थायिनमात्मानमपलपितुम्। आत्मा हि इषीक इव सन्मात्रः न तु शून्यम्, न्यग्रोधकणिकोपमोतिसूक्ष्मोपमो यथावददर्शनमात्रेण नापलपितुं शक्यते, अन्यथा 'न्यग्रोधफलमत आहर इति, इदं भगव इति, भिन्धीति, भिन्नं भगव इति, किमत्र पश्यसीति, अण्व्य इवेमा धाना भगव इति, आसामङ्गैकां भिन्धीति, भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति' इत्यादिक्रमेणातिसूक्ष्मस्य कारणत्वं न सदात्मनोऽप्यसङ्गतमपलप्येत। अतोऽतिसूक्ष्मस्याणोरणीय आत्माऽदर्शनमात्रेण नापलापमर्हति। तत्र बद्धस्य सुषुप्तौ तुरीयात्मतत्त्वस्यापलापेऽपि स्थितप्रज्ञस्य सुषुप्तावखण्डाकारसाक्षात्कारेणात्मानुभवात् नापलापस्तत्र युक्तः। अतः सूक्ष्मस्य वस्तुनश्चक्षुरादिनाऽदर्शनेऽप्यनुमानादिना निर्णयसम्भवात् कार्येण कारणानुमानविधयैव छान्दोग्ये आत्मतत्त्वोपदेशात्, स्थितप्रज्ञादिभिः स्वीयपञ्चमावस्थसुषुप्तावपि साक्षात्काराच्च स्वयं स्थितप्रज्ञावस्थां प्राप्तुं तयाऽऽत्मतत्त्वस्याधिकस्याशून्यस्य स्थायिनः साक्षादनवभासनेन[2] न कस्यापि तस्यापलापो युक्त इति।।२५।।

तदेतत् सूचयति–**इषीक** इति। **इषीकः**=कुशाद्यन्तर्गतसूक्ष्माङ्कुरविशेषोऽप्रकाशोऽपि यथा सन्मात्रः,

---

१.नाभिमत एवातो ज्ञायते।

२.साक्षात्कारमर्थमवभासनेन इति हस्तलेखे पाठः।

बाह्याद्बाह्यदलोन्मुक्तकदलीकन्दसन्निभः॥२६॥
निरंशो निर्विकारश्च निराभासो निरञ्जनः।
पुरुषः केवलः पूर्णः प्रोच्यते परमेश्वरः॥२७॥
वाचो यत्र निवर्तन्ते मनो यत्र विलीयते।
एकीभवन्ति यत्रैव भूतानि भुवनानि च॥२८॥
समस्तानि च तत्त्वानि समुद्रे सिन्धवो यथा।

यथा न्यग्रोधकणाः अन्तरतिसूक्ष्माः महतो न्यग्रोधस्य मूलकारणम्, यथा कदल्युन्मुक्तकदलीकन्दो बहूनां कदलीनां सन्मात्रः कारणम्। एवमप्रकाशोऽपि सन्मात्र आत्माऽस्ति, इति निश्चयः। इदञ्च सन्मात्र इति श्लोकांशस्य विवरणम्। कारणमित्यव्यक्तावस्थायामवस्थितान्येव व्यक्तावस्थानां कारणम्।

अत एव सद्विद्यायाम्– 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यव्यक्तावस्थकार्यतादात्म्यतापन्न एव सत्पदार्थोऽपि स्वयमावृत एव च जगत्कारणमिति श्राव्यते। व्यक्तं प्रकाशो हि सांशस्य स्थूलस्य सविकारस्य सम्यक् प्रतिभासयोग्यस्य इतरसम्बन्धयोग्यस्यैव भवति। आत्मत्वं तु विपरीतम्, अतः सन्मात्रं नापलपितुं शक्यम्। अतोऽवाङ्मनोगोचरमात्मतत्त्वं वेदान्तवाक्यार्थः, श्रवणमननिदिध्यासनसमाध्यादि विना न शक्यते द्रष्टुम्। तात्पर्यन्तु वेदान्तैरप्यद्वितीयमात्मतत्त्वम्, द्वितीयमिथ्यात्वादिकज्ञानं वा निर्विचिकित्सपरोक्षतामेवार्हति। सन्मात्रेणापरोक्षज्ञानमसत्त्वापादकाज्ञाननिवृत्तिमात्रेण सन्मात्रतयैव वस्तु गोचरयति, न त्वपरोक्षज्ञानमिवा-भानापादकाज्ञाननिवर्तनेन भातिव्यवहारं प्रयोजयति। नित्यपरोक्षाणि दिग्गुरुत्वादीनि, इन्द्रियाणि च नापरोक्षार्थानीति मत्त्वाऽपलापमर्हन्ति। प्रत्यक्षयोग्यान्यपि नानुमानेन परोक्षतयावगतानि सन्मात्रेणापि न सन्ति। किं बहुना? वाचा, मनसा, वेदान्ततया निर्देष्टुमशक्यत्वात्, न हीक्षुक्षारगुडादिसाराः सन्मात्रा अपलपितुं शक्याः, आत्मतत्त्वं त्वप्रत्यक्षमिति[१] सत्तामात्रमात्मैकसंवेद्यम्, सन्मात्रमिव चिन्मात्रमपि नापलपितुं योग्यमिति भावः॥२६-२७॥

तदेतदाह– **वाचो यत्रेति**। आत्मतत्त्वं हि यावदखण्डाकारसाक्षात्कारं नाद्वयमिति शुद्धसन्मात्रेणैव स्वप्रकाशमानमपि नापरोक्षम्, व्याघातात्[२]। वेदान्तवाक्यान्यपि परोक्षतयैवाऽऽत्मतत्त्वं बोधयन्ति, तत्साक्षा-त्कारस्तु श्रवणमननिदिध्यासनपाटवसहकृतमनोनिबन्धन एव[३]।

'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति मनसोऽगोचरत्वोक्तिस्तु श्रवणमननिदिध्यासनपाटवं विना तदगोचर-त्वाभिप्राया। अत एव श्रुतिः– 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति। अतो यावदात्मसाक्षात्कारं वेदान्ता अपि परोक्ष-तयैवात्मतत्त्वं बोधयितुमर्हन्ति। सद्विद्यायामपि तस्य मूलं किं स्यादिति प्रश्नोत्तरमेवमाम्नायते– 'सोम्य अन्नेन शुङ्गेन आपो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ'

१.अप्रत्यक्षमिन्द्रियागोचरमित्याशयः प्रतिभाति। किं वा 'तु प्रत्यक्षमिति' पाठः कल्पनीयः।
२.मायातत्कार्यसहभावाद्व्याघातः। अत एव वेदान्तवाक्यान्यपि परोक्षतया ब्रह्म बोधयन्ति, न तु अपरोक्षतयेति वाचस्पतिमिश्ररीतिः।
३.एवकारो वाचस्पतिमिश्रानुसारी।

कश्शोकः तत्र को मोह एकत्वमनुपश्यतः॥२९॥

वाच्यवाचकरूपत्वात् सविकल्पोऽपि सन्नहम्।

देहादीनां व्यपोहेन सम्भवेन्निर्विकल्पकम्॥३०॥

असन्नेव भवेद्विद्वानसद्ब्रह्मेति वेद चेत्।

इत्यादिना कार्येण कारणानुमानविधयैव सन्मात्रमेवात्मतत्त्वमाम्नायते। सर्वमिदं सन्मात्रपदसूचितमत्रानुसन्धेयम्।

अत्र 'एकीभवन्ति भूतानि' इति च्विप्रत्ययोऽभूततद्भावादौपाधिकभेदनिवृत्तिमभूतां गोचरयति। तेन च यावदौपाधिकभेदनिवृत्ति परोक्षमेवात्मज्ञानमिति सूचनात् सुष्ठु तस्यावस्थात्रये सन्मात्रमेवात्मतत्त्वम्, न तु निवृत्ताज्ञानमपरोक्षमपीति ज्ञाप्यते।

एतेन 'सुषुप्तौ कस्य किं भाति' इति (६-१) प्रश्नो व्याख्यातः। न कस्यापि किमपि भाति, किन्तु सन्मात्रेणात्मतत्त्वमेव तदापरोक्षतया प्रकाशमानमप्यप्रकाशमपीति सन्मात्रं स्यादिति सिद्धम्। एकीभावश्चात्मनि भूतानां समुद्रे सङ्गतानां सिन्धूनामिव ततो निर्गतानां तत्तद्देशाद्युपाधिसम्बन्धप्रयुक्तभेदानामिव समुद्रे लय उपाधिभेदप्रयुक्तभेदराहित्यमेव, घटाद्युपाधीनामाकाशानामिव, घटादिप्रलये महाकाशेन भेदनिवृत्तिरिति भावः॥२८॥

तदेतदाह— **समस्तानीति**। स्पष्टोऽर्थः। तथा च यावद्भेदनिवृत्ति सन्मात्रतयैव ज्ञानम्, एकत्वदर्शने तु सुषुप्त्यादावात्मतत्त्वादर्शनं तच्छून्यतायां न गमकम्। तदा हि न प्रष्टा, न प्रश्नः, न वोत्तरम्। किं बहुना?

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥" इति।

इदमेवार्थमभिप्रेत्याह— **कः शोक** इति। किं शब्दोऽत्राक्षेपे, न शोकः, न वा मोहः इति।

इदमुपलक्षणमन्येषामपि तदैतत्सम्बन्धिनाम्। सुषुप्तः पुमान् करणोपरतः इन्द्रियाणामप्युपसंहारात् 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या सन्मात्रः परोक्षमात्र इत्यर्थः। न हि प्रत्यक्षयोग्यमपि करणव्यापारोपरमे न प्रत्यक्षमिति [1]नास्ति॥२९॥

अत्र सन्मात्र इति परोक्षप्रमाणगम्यत्वं यद्युच्यते, तर्हि तस्य सद्वितीयत्वात् तेन वेदान्तवाक्यानां वाच्यवाचकभावाच्च सविकल्पकमेवात्मतत्त्वं स्यात्, न निर्विकल्पं लक्ष्यलक्षकभावेन वेदान्तगम्यमिति शङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति— **वाच्यवाचकरूपत्वादिति**। वाच्यवाचकरूपत्वात् सविकल्पः सन्नहं देहाद्युपाधिनिवृत्त्या निर्विकल्पो भवेयमित्यन्वयः। अहंपदप्रयोगात् उत्तमपुरुषे प्रयोक्तव्ये भवेदिति प्रथमप्रयोगोऽहंपदेन लक्ष्यार्थः सन्मात्रविवक्षयोपपद्यत इति केचित्। तत्र च 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः, नेदं तत्त्वमसिवाक्यार्थचैतन्यपरत्वेऽसिनैव खण्डयत दूषणं दुरुत्तरम्[2]। अतोऽत्राहम्पदं विभक्तिप्रतिरूपकमात्मतत्त्वपरं नाहमर्थपरमिति मन्तव्यम्। तथा च शरीरादितादात्म्यदशायां सविकल्पकः, शरीराद्युपाधियोगे निर्विकल्पक इति भावः। अतः सुषुप्तावप्यात्मा निर्विकल्पसन्मात्रः। अतस्तस्य

१.अत्र 'न' इत्यधिकं हस्तलेखे।

२.वाक्यमिदं दुर्बोधम्।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥३१॥

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

प्रबन्धे मानसोल्लासे षष्ठोल्लाससङ्ग्रहः॥३२॥

॥इति श्रीमानसोल्लासे षष्ठोल्लासः॥

प्रकाशोऽप्रकाशश्च वर्तते, न तु तदर्थः प्रत्यक्ष इति कृत्वाऽस्ति, न केवलं सुषुप्त्यवस्थायां, किन्तु तुरीयावस्थायामप्यात्माऽस्ति, स्थितप्रज्ञानामपि तेनाशरीरकैवल्यस्य शास्त्रसिद्धत्वादिति॥३०॥

श्लोकार्थमुपसंहरति– **असन्नेवेति**। इदं वाक्यं तैत्तिरीयोपनिषद् 'पुच्छं ब्रह्म' इति प्रस्तुत्य 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इति सौषुप्तानन्दमयस्याप्यन्तरात्मतया परामृश्य प्रवृत्ता तुरीयमेवात्मतत्त्वं प्रतिपादयति इति सौषुप्तानन्दमयपरतया योजनं न युक्तम्। इयञ्च तुरीयावस्था बहक्लेशसाध्या साधारणानाम्। किं बहुना? विदुषामपि अप्रत्यक्षत्वात्, तदप्रत्यक्षत्वेऽप्यात्मतत्त्वस्य सत्त्वे न विप्रतिपत्तिः, सौषुप्त्यात्मतत्त्वसत्तायाम्। इदं प्रकरणं पुच्छब्रह्मण एवेति येषां मतम्, तेषां मतेऽपि न दोष इति कृत्वा चिन्तया स्ववाक्येनैव मानसोल्लासो लिखति। इति सौषुप्तपुरुषविषयतयापि योजनं युक्तम्। तथा च न केवलमखण्डाकारसाक्षात्काराभावान्निर्विशेषमपि श्रुतिप्रमाणसिद्धं यदानापह्नवमर्हति। तदा सौषुप्तोऽपि पुरुषो नापह्नवमर्हति। स्थूलसूक्ष्मशरीरविशेषेऽपि जाग्रत्स्वप्नयोः प्रतीयमानयोः कारणशरीराज्ञातचिदात्मनः सुषुप्तौ सत्ता स्वीक्रियते, तुरीयावस्थायां तदज्ञानस्यापि विलयात् संविन्मात्रमनुवर्तते, तथा च सर्वावस्थास्वनुवर्तमानस्यात्मतत्त्वस्य सुषुप्तौ प्रत्याख्यानं न युक्तम्; अन्यथा जाग्रत्यपि संविन्मात्रस्य केवलस्याप्रत्यक्षत्वात् तत्राप्यात्मापलापः कर्तुं शक्येत, इति सुषुप्तिपर्यन्तानुधावनमत्र वितथम्।

अतः सुषुप्तावप्यात्मनः संविन्मात्रस्याज्ञानोपहितस्य सन्मात्रस्य सिद्धत्वादप्रत्यक्षत्वात् सुषुप्तावात्मतत्त्वस्य तत्रापलापो न युक्त इति सिद्धे नात्मतत्त्वं शून्यमिति बौद्धसिद्धान्तो विकल्पसहः॥३१॥

अधुनाऽवसरप्राप्तं षष्ठश्लोकार्थप्रतिपादकषष्ठश्लोकमानसोल्लासोपसंहारमनुसन्धत्ते **इतिश्रीति**॥३२॥

अत्रामरनाथो लिखति– **'राहुग्रस्तदिनाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्, सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत् सुषुप्तः पुमान्।'** इति पादद्वयस्य विवरणं श्रीमता महादेवशास्त्रिणा एवं क्रियते– आत्मा परमार्थतः सन्मात्रम्, सुषुप्तगाढनिद्रार्थमन्तःकरणानामुपसंहरणपूर्वकं मायासमाच्छादितं वर्तते राहुग्रस्तार्कचन्द्राविवेति। इदन्तु न युक्तम्–

मानसोल्लासो हि–

'सुषुप्तिसमयेऽप्यात्मा सत्यज्ञानसुखात्मकः।
सुखमस्वाप्समित्येवं प्रत्यभिज्ञायते यतः॥'

इति सुषुप्तिसमय आत्मनः स्वरूपं सत्यज्ञानसुखात्मकमिति प्रतिपादयति, न तु सन्मात्रम्। परमार्थसारेऽपि–

"जाग्रद्विश्वं भेदात्, स्वप्नस्तेजःप्रकाशमाहात्म्यात्।
प्राज्ञः सुप्तावस्था ज्ञानघनत्वात्ततुरीयं स्यात्॥"

इति सर्वप्रमातॄणां या सुप्तावस्था=सुषुप्तम्, सा प्राज्ञ इति ब्रह्मणः प्राज्ञावस्था, सर्वस्य प्रमातुः नीलसुखादि-

विश्ववैचित्र्यप्रभायाः[१] सैव संस्कारभूमिः, ततः प्रबुद्धस्य प्रागनुभूतवद्व्यवहारदर्शनात्। इत्थं च सुषुप्तं चिन्मयमेव ब्रह्मणः प्राज्ञावस्थेति गीयते। ततः परं तुर्यं निःशेषपाशवासनासंस्कारपरिक्षयात् शुद्धपूर्णानन्दमयं ब्रह्मणस्तुरीयं रूपमनुगुणं (नाद्रियते)[२] प्रतिपाद्यते। अत्र श्लोके 'यः प्रत्यभिज्ञायते' इति मायानिरासार्थं प्रत्यभिज्ञादर्शनाभिमतसाधना सूच्यते। अतः प्रत्यभिज्ञादर्शनं विहाय नान्या गतिरुक्तस्य श्लोकस्येति।

अत्र 'सन्मात्रः करणोपसंहरणतः' इति सन्मात्रस्य स्फुरणवर्णनात् चिन्मात्रं ब्रह्मणो रूपमिति[३] प्रत्यभिज्ञादर्शनकथा कथामात्रमिति सूच्यते। प्राज्ञ इति नाम सुषुप्तस्य प्रकर्षेण मायासमाच्छादनात् विषयावच्छेदेन तदा भानाभावाच्च प्र+अज्ञ इति व्युत्पत्त्यैवाद्वैतमते, अत एव सन्मात्रो न चिन्मयम्। अत एव मायासमाच्छादनादिति, मानसोल्लासे **सत्यज्ञानसुखात्मक**(६-२१) इति निर्देशस्तु (अज्ञाते कन्-प्रत्ययात्, सुषुप्तौ वाऽऽत्मास्ति)[४] केवलम् न तु सदात्मना, चिदात्मना, आनन्दात्मना च भाति। अत एव स तथा वर्तते वेति संशयः, अन्यथा सर्वात्मनाऽऽत्मनस्तदा ज्ञाने सुषुप्तमात्रेण मोक्षमापद्यते, तुरीयं च रूपमत्र विलक्षणं न सिद्ध्येत्, सत्यज्ञानसुखात्मक इति कन्-प्रत्ययोऽज्ञाते इत्यद्वैतसिद्धिव्याख्यावसरे विट्ठलेश्वां व्यक्तम्। ज्ञानधर्मत्वं तु सुषुप्तितुर्ययोर्न साधारणं भवितुमर्हति। यतः परमार्थसारव्याख्यैव स्वयम्– 'सुषुप्तभूमिः ज्ञानघना= प्रकाशमूर्तिः, कैव विश्वप्रबलसंस्कारेण श्यामला सती शुद्धचिन्मयी न भवती'ति विवृणोति। अतः सन्मात्रमेवात्मेति वक्तव्यम्, परन्तु न तथोच्यते इति सन्मात्रः इतिपदमेकं प्रत्यभिज्ञादर्शनस्य स्थानं प्रतिरुणद्धि।

प्रत्यभिज्ञायते इति पदं तु सुषुप्तौ तुर्य इव निःशेषपाशवासनासंस्कार[५]परिक्षयात्, शुद्धपूर्णानन्द-चिद्रूपस्याप्रकाशात्, ततोऽनन्तरं प्रत्यभिज्ञातुरभावात् चिन्मात्रस्य सत्यस्य प्रत्यभिज्ञानस्य साधनस्याप्रसरात् नीलसुखादिविश्ववैचित्र्यप्रभायाः प्रमातुः सा संस्कारभूमिका, तत एव 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मृतेरेव तत्तद्विषयाणां सम्भवात् सन्मात्रसुखदुःखात्मकस्यात्मन एव प्रत्यभिज्ञानादद्वैतमत एव उपपद्यते। स्मरणं तु तत्र नोक्तसुखादिज्ञानस्य सुषुप्तौ भातस्य, न तु चिन्मात्रस्येति चिन्मात्रप्रत्यभिज्ञानकथा कथामात्रमेव, चिन्मात्रस्य प्रकाशमूर्तेरप्यज्ञानेनाच्छादनेन तदात्राप्यहमित्यननुभवात्। अतो नात्र महादेवशास्त्रिणां विवरणमसाधु, न वा मानसोल्लासविरोधः, नतरां च प्रत्यभिज्ञानदर्शनकथाया अवसरः। नीलसुखा-हङ्कारादिसर्वकरणसंस्काराज्ञानमात्रशरीरकत्वात् तदतिरिक्तस्य कस्यापि जागराद्यवस्थायामिवान्तः करणवृत्तिद्वारा ज्ञानाच्च प्राज्ञत्वं सुषुप्तस्य न तु ज्ञानघनत्वात् प्रकाशमूर्तेर्वेति निष्कर्षः। अज्ञानशरीरमानन्दमय एव सन्मात्रः सौषुप्तः पुरुष इति भावः।

॥इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां षष्ठी वर्धिनी॥

१.नीलसुखादिविश्ववैचित्र्यमेव प्रकाश इत्याशयः।

२.अस्पष्टः पाठो हस्तलेखे।

३.अयमप्यस्पष्टः पाठो हस्तलेखे।

४.पाठोऽत्र नात्यन्तं सुस्पष्टः।

५.निःशेषपाशववासंस्कार इति पाठो हस्तलेखे।

ॐ

अथ मानसोल्लासे

सप्तमोल्लासः

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तस्स्फुरन्तं सदा।

बाल्यादिष्वपीतिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रसप्तमश्लोकस्य व्याख्या

बाल्यादिष्वपि=बाल्याद्यवस्थासु व्यावृत्तासु, यौवने वार्धके च न बाल्यावस्थानुवर्तते, एवं वार्धके बाल्ये च यौवनावस्था व्यावर्तते, वार्धकं तु जन्मान्तरे बाल्ये यौवने च व्यावर्तते। अत्र तु शरीरजीवैक्यसाधनं प्रत्यभिज्ञानम्। एवं ब्रह्मचर्यगार्हस्थवानप्रस्थसंन्यासदशायां प्रत्यभिज्ञानमपि शरीरस्यैक्ये प्रमाणम्। इदं दृष्टान्तार्थम्, न त्वात्मवदेकत्वं कल्प्यमिति मन्तव्यम्। दार्ष्टान्तिकस्तु **जाग्रदादिष्विति**। अत्र आदिपदेन स्वप्नसुषुप्तिसमाध्यवस्था गृह्यन्ते। स्वप्नसुषुप्त्यवस्थामात्रम्, जीवब्रह्मैक्यसाधने तदवस्थात्मनिबन्धन-प्रत्यभिज्ञायाः साधकत्वात्। **आत्मानं** =संविन्मात्रमनुपहितं चैतन्यमात्रम्, **भद्रया मुद्रया**=चिन्मुद्रयेति यावत्। चिन्मुद्रया अङ्गीकृतमौनयोगं **प्रकटीकरोति**=उद्बोधयति। प्रश्नोपनिषदि षष्ठप्रश्नोत्तरदिशा 'नैतद्बुद्धेन भाषितमि'ति गौडपादकारिकोक्तदिशा वा सप्तमभूमिकायां तुरीयावस्थायां वा करणादिव्यापारायोगात् चिन्मुद्रामात्रस्यावलम्बनम्।

अयमत्र निष्कर्षः गौडपादकारिकायाः–

"कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः।।
नात्मानं न पराँश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा।।
द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते।।
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।" इत्यादिना।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थानां तत्तदवस्थामात्रव्यावृत्तत्वम्, संविन्मात्रस्य सर्वत्रानुवृत्तत्वं च प्रतिपादितम्। इदं बाल्ययौवनवार्धक्यादीनामप्युपलक्षणम्। विशेषस्तु बाल्याद्यवस्थाव्यावृत्तिः तत्तदवस्थामात्रस्य, शरीरस्य तु सर्वत्रेति। इदं च दृष्टान्तार्थम्, यथा बाल्यावस्थाभेदस्यापि शरीरस्यैक्यात् 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवम्, स एव वार्धक्ये प्रणप्तॄननुभवामि' इति प्रत्यभिज्ञया शरीरैक्यमवगम्यते, तथा जाग्रदाद्यवस्थाव्यावृत्तावपि संविन्मात्रस्यानुवृत्तत्वात् सर्वानुगतसंविन्मात्रस्याप्यैक्यानुभवः प्रत्यभिज्ञयाऽवगम्यते। यत्र संविन्मात्रस्य प्रत्यभिज्ञा न जाग्रति, स्वप्ने, सुषुप्तौ वा सम्भवति, किन्तु तुरीयावस्थायामेव। सा च जीवदवस्थायां

स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥७॥

एतदुक्तं भवति–

प्रत्यभिज्ञास्वरूपम्

प्रत्यभिज्ञाबलादात्मा स्थायी निर्धार्यते यदि।
का नाम प्रत्यभिज्ञैषा किं वा तस्याश्च कारणम्॥१॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणेषु प्रत्यभिज्ञा न पठ्यते।
कथं तस्याः प्रमाणत्वमिति पृच्छन् प्रबोध्यते॥२॥
भातस्य कस्यचित्पूर्वं भासमानस्य साम्प्रतम्।
सोऽयमित्यनुसन्धानं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते[1]॥३॥

स्थितप्रज्ञस्यैव समाध्यवस्थायामेव। यदैव निद्राया अपि निवृत्तिः, अविद्याया वा। तस्य हि जीवन्मुक्तस्य निवृत्ताज्ञानस्य विद्यासंस्कारमात्रमनुवर्तते आप्रारब्धकर्मभोगसमाप्ति। तावत्पर्यन्तं तु दग्धपटन्यायेना-विद्यासंस्कारात्मना शरीरानुवृत्तिमात्रम्। किं बहुना? शरीरादिषु न ब्राह्मणत्वाभिमानोऽपि तस्यानुवर्तते, इति ब्राह्मणादिकर्तृकेषु कर्मसु न तस्याधिकार इत्यादि भामत्यां व्यक्तम्। इति तद्दृष्ट्या तुरीयस्य सर्वत्र तत्तदुपाध्युप-हितात्मना तु संहितस्य तदतीतसंविन्मात्रया प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धम्। तदानीं स्थितप्रज्ञस्योपदेष्टृत्वं तु पूर्वमुपाधिविशिष्टतयाऽहमिति पश्चाज्ज्ञानोपहिततयेश्वरोऽहमिति, ततोऽनुपहितत्वात् न सर्वोऽहं जीवोऽपीत्यनुभवो वर्तते। परन्तूपदेष्टृत्वं मौनेन, न तु वाचा, तत्तु अहमर्थसूचकप्रत्यगभिमुखस्याङ्गुष्ठस्य परागर्थतत्पदार्थसूचकतर्जन्या योगाख्यया चिन्मुद्रयैव। तयापि सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञया हि विशिष्टस्य तूपहितस्य च संसारिणः, असंसारिणश्चैक्यमेवागम्यते।

अयमर्थः सप्तमेन श्लोकेनानुसन्धीयते। उपपादितश्चायमर्थो देहादिव्यतिरिक्ततामात्मनः प्रतिपादयता मात्रयैव षष्ठेन श्लोकेन। अनेन तु ततोऽर्थसिद्धं विशिष्टानुपहितयोः प्रत्यभिज्ञा बोध्यते। अतोऽत्र निर्णेयं तत्त्वं प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यमेव प्राधान्येन। यद्बलात् सौषुप्त्यात्मपर्यन्तमैक्यं साधितम्, बौद्धमतनिरासश्च कृतः षष्ठेन श्लोकेन तदुल्लासनेनेति मत्त्वा मानसोल्लासोऽवतारयति श्लोकमिमम्– **प्रत्यभिज्ञेति**॥१॥

बौद्धा अभिज्ञाद्वयातिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं नोररीकुर्वन्ति, अत उच्यते– **प्रत्यक्षादि-प्रमाणेष्विति**।

इदन्तु प्राक् प्रकरणं मानसोल्लासस्य, न श्लोकव्याख्या, अन्यत्र प्रत्यभिज्ञायाः स्वतन्त्रप्रामाण्य-

१. नैयायिकास्तावत्प्रत्यभिज्ञाया अन्तर्भावं प्रत्यक्षे कुर्वन्ति, प्रत्यभिज्ञा हि सविकल्पकप्रत्यक्षविशेषः। यथा सोऽयं देवदत्त इत्यादौ तत्तांशस्य स्मरणं भवति, तदेव स्मरणं तत्तया सहेन्द्रियस्य ज्ञानलक्षणसन्निकर्षरूपं भवति। अनया रीत्या तत्तांशेदमांशाभ्यां सहेन्द्रियस्य सन्निकृष्टतया प्रत्यभिज्ञानरूपं प्रत्यक्षमुत्पन्नं भवति।

तद्देशकालाकारादीनवधूयानुषङ्गिकान्।
यथैकं वस्त्वनुस्यूतं प्रत्यभिज्ञानमात्मनः।।४।।
मायानुषङ्गसञ्जातकिञ्चिज्ज्ञत्वाद्यपोहनात्।
सर्वज्ञत्वादिविज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमात्मनः।।५।।

स्थाय्यात्मसाधनम्

पूर्वजन्मानुभूतार्थस्मरणान्मृगशावकः।

विचारादिति मन्तव्यम्। अतः श्लोकार्थसारो बहिरेव परीक्षितः[1]।।२।।

अत्र प्रथमं प्रत्यभिज्ञास्वरूपं निर्दिशति–**भातस्येति**। तेनाभिज्ञाद्वयमात्रेण न विवादोऽत्रेति सूचितम्।।३।।

अत्र 'सोऽयम्'इत्येकविज्ञानमित्यस्य विवरणार्थमाह– **तद्देशकालेति**। पूर्वोत्तरकालिकज्ञान-द्वयानुविद्धैकस्वरूपमात्रविषयकत्वं 'सोऽयम्'इत्यनेनाभिप्रेतम्। इदन्तु दृष्टान्तार्थम्, दार्ष्टान्तिकं तु जीवेश्वरैक्यज्ञानम्। तत्र हि तयोरैक्यं हि देहाद्युपाधिपरित्यागेन घटाद्युपाधिपरित्यागेन घटाकाशस्येव महाकाशेनैक्यज्ञानवत्। सर्वज्ञेनैक्यज्ञानं जीवस्य, जीवेश्वरयोरैक्यानुसन्धानमिति यावत्। इदमुपलक्षणम्–घटाकाशमहाकाशयोरिव जीवानुपहितचैतन्ययोरप्यनुसन्धानस्य।

अतो जीवेश्वरयोरैक्यानुसन्धानस्य द्वारमात्रत्वम्, यतो वस्तुगत्योभयानुगततुरीयैक्यज्ञानस्य समाध्यवस्थामात्रानुसन्धानमात्रत्वमुच्यते, तद्दार्ष्टान्तिकरूपम्। न हि गौडपादसिद्धान्ते भगवत्पादसिद्धान्ते च न जीवेश्वरयोरैक्यं सिद्धान्तः, व्यक्तञ्चैतदत्रैवानुपदं गौडपादकारिकाद्वारा विवेचितम्।

अथवाऽनेकजीववादे यावत्सर्वमुक्ति ईश्वरभाव एवेति मुक्तात्मस्वरूपनिरूपणप्रकरणे भाष्या-द्यनुसारेणोपपादनात् तदभिप्रायमिदं जीवस्य सर्वज्ञेनैक्याभिधानम्। अतो न विरोधः। स्पष्टञ्चैतत् सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे।

तत्रापि मुख्या मुक्तिरनुपहितब्रह्मभाव एव, कालविशेषप्रतीक्षा त्वकिञ्चित्करी, परन्तु तस्य तस्याज्ञानानां मूलाविद्याऽवस्थाविशेषत्वस्वीकाराद् मुक्तानां तन्मतेऽवस्थाज्ञानमात्रनाशेऽपि मूलाविद्याया अविनाशात् मूलाविद्याश्रयत्वमीश्वरस्येति युक्तमुक्तम्। सुरेश्वरमतेऽपि जीवाश्रयाज्ञानैक्येनैकाविद्यावादेऽपि कार्याध्यासानामेव नाशात् मूलाविद्या तदवस्थैव मतान्तर इव। तत्राप्युपाध्यविषयकस्योपहितमात्र-विषयकस्यैव ज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वात् फलतोऽनुपहितप्रत्यभिज्ञानमेव विवक्षितम्।

अत्र देशकालाकाशादीनामानुषङ्गिकत्वं तदुल्लेखस्य लक्ष्यत्वानभिप्रायेण। कोऽयमिति देवदत्तस्वरूप-मात्रे प्रश्नोत्तरत्वादस्य देशकालाद्याकाराणामानुषङ्गिकत्वम्। अनेन प्रत्यभिज्ञानस्य सन्निकृष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगजन्यत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेऽन्तर्भावः। अत्र 'सोऽयं देवदत्तः' इतिज्ञानं 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत् सादृश्यमात्रविषयकत्वादैक्यज्ञानं भ्रान्तिः। न च प्रत्यभिज्ञा नाम ज्ञानमस्तीति बौद्धानां मतमाशङ्क्य षष्ठोल्लासः। तत्र यद्यपि–

१.अत्र रामतीर्थेन तु द्वितीयमानसोल्लासश्लोकव्याख्यानन्तरं दशश्लोकीश्लोकस्य व्याख्या कृता।

जननीस्तन्यपानाय स्वयमेव प्रवर्तते॥६॥

तस्मान्निश्चीयते स्थायीत्यात्मा देहान्तरेष्वपि।

स्मृतिं विना न घटते स्तन्यपानं शिशोर्यतः॥७॥

प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यव्यवस्थापनम्

पूर्वत्रानुभवे काले स्मृतिकाले परत्र सन्।

आत्मा संस्काररूपेण स्मरत्यर्थं स्वनिष्ठितम्[१]॥८॥

प्रत्यभिज्ञेति भावानां स्मृतिश्चेदभिधीयते।

आत्मस्थैर्ये प्रमाणत्वं स्मृतिश्च प्राप्नुयात् कथम्॥९॥

"प्रत्यभिज्ञा यदा भ्रान्तिर्भोजनादि कथं भवेत्।
इष्टसाधनमेवैतदन्नं गतदिनादिवत्॥
इति निश्चित्य बालोऽपि भोजनादौ प्रवर्तते।"

इत्यनेन निरस्तः, तथापि प्रसङ्गाद् ह्यस्तनानुभूतविषयवस्तुना प्रत्यभिज्ञानतत्कार्ययोरिव जन्मान्तरानुभूतविषयजन्मान्तरप्रत्यभिज्ञानतत्कार्ययोरनुपपत्त्या तां निरसितुमाह–**पूर्वजन्मानुभूतार्थमिति**। अत्र 'स्मरणात्' इत्यनेनेष्टसाधनमेवैतत् स्वस्य जन्मान्तरस्तन्यमिति प्रत्यभिज्ञानमेव विवक्ष्यते[२]। तेनानेन प्रत्यभिज्ञानसिद्धिः। स्मरणं संस्कारोद्बोधनिमित्तत्वमात्रेणौपचारिकया, मृगशावकपदं तु मात्रादिप्रेरणानिमित्तत्वशङ्कावारणार्थमिति सूचयितुं **स्वयमेवेति**॥४-६॥

तदेवं प्रत्यभिज्ञया स्थाय्यात्मा सिद्ध इति क्षणिकत्वं सर्वबौद्धाभिमतं निरस्तं भवतीत्युपसंहरति– **तस्मादिति**। पूर्वं मृगशावकस्य निर्देशो दृष्टान्तार्थं शिशुमात्रोपलक्षणं तत्पदमित्यभिप्रेत्योक्तम्– **शिशोरिति**। तत्र स्तन्यपानत्वेन साम्यात् पूर्वानुभूतान्नवत्। वस्तुतः स्वरूपैक्यानुभवाभावेऽपि 'तदेवेदम्'इतिबुद्ध्या प्रवृत्तावपि प्रत्यभिज्ञानाविरोधः– यथा 'सेयं दीपज्वाला' इतिप्रत्यभिज्ञेति भावः। 'सोयम्' इत्यज्ञाने[३] तु स्वरूपैक्यमेवेति तस्य स्थायित्वसाधकत्वम्। अत आत्मा स्थायी॥७॥

इतः परं प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृतित्वं वारयितुमाह– **पूर्वत्रानुभव** इति। प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वं निरसितुं प्रथमं तत्स्वरूपमाह। आत्मनः पूर्वानुभवकाले कालान्तरे च सतः पूर्वानुभवजन्यसंस्कारेण स्वाभिलषितार्थमात्रप्रत्यभिज्ञा॥८॥

तत्रेयमाशङ्का– स्मृतिरेवेयम्, तस्या अप्येवंरूपत्वादिति। तत्र वक्तव्यं कथमनेनात्मस्थैर्य तत्प्रमाणत्वं वा? अतीतस्यापि स्मरणं भवति, न हि तत् पूर्वोत्तरयोः कालयोः सत एव हि प्रमाणं निश्चयात्मकं विषयस्य।

१. 'त्यर्थस्य निश्चितम्'इति टीकाकृदनुसारी पाठः।

२. स्तन्ययोर्भेदेऽपीष्टसाधनत्वमेकं प्रत्यभिज्ञाविषय इति भावः। इयं च प्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तरजन्मवर्त्यात्मैक्यं विनाऽनुपपन्नेति तत्स्थायितासिद्धिः।

३. 'सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञाने तु' इति तु युक्ततरः पाठः प्रतिभाति।

स्मृतौ प्रकाशो नार्थस्य न चाप्यर्थस्य निश्चयः।
न चाप्यर्थानुभवयोरङ्गुल्योरिव सम्भवेत्॥१०॥
नानुभूतिविशिष्टस्य पदार्थस्य च दण्डिवत्।
सर्वत्राप्येवमित्येवं प्रसङ्गादिति तच्छृणु॥११॥
प्राक्तनानुभवे नष्टे तदवष्टम्भसम्भवात्।
संस्कारसंज्ञात् साम्प्रयात् पौरुषाज्जायते स्मृतिः॥१२॥
अवेद्यानुभवे नष्टे तदीयं विषयं प्रति।
अनुभावकमात्मानं बोधयत्यनपायिनम्॥१३॥
विषये च प्रमुषिते नष्टे चानुभवे सति।
स्वविश्रान्तं स्मरत्यर्थं[1] देवोऽप्रमुषितस्सदा॥१४॥
प्रमोषणं प्रमातॄणां मायया तमसा कृतम्।
मायाविद्धे प्रभोश्शक्ती भानोश्छायाप्रभोपमे[2]॥१५॥

न च स्मृतिरर्थस्य निश्चायिका, न वानुभवो येन प्रमाणं स्यात्, अबाधितार्थविषयकज्ञानस्यैव प्रमात्वात्, स्मृतेश्च बाधितार्थविषयकत्वादिति तस्य न प्रमाणता।

अत्रेयमाशङ्का– स्मृत्या सहार्थस्यासम्बन्धाद् यदि न प्रामाण्यं स्मृतेस्तद्धि नानुभवस्याप्यर्थेन, द्वयोरङ्गुल्योर्हि स सम्भवति, ततः प्रत्यभिज्ञाप्यप्रमाणं स्यादिति शङ्कते–न चेति। यदि स्मरण-स्यार्थेनासम्बन्धात् स्मृतिरप्रमाणम्, अनुभवस्याप्यर्थेन सम्बन्धो द्वयोरङ्गुल्योरिव न सम्भवति। न च विना सन्निकर्षं ज्ञानमनुभवः। अन्यथा सर्वानुभवस्याप्यर्थविशिष्टस्यैव स्वीकार आपद्येत। अतो यदि नायं नियमः, किन्तूत्सर्गस्तर्हि स्मृतावपि तथेति न स्मृतिरप्रमाणमिति चेत्? शृणु, इति योजना॥९-११॥

अथ स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोर्विषयविवेको यथा– तत्र स्मृतिः प्राक्तनानुभवेन तज्जन्यसंस्कारवशात् ज्ञानमित्याह– **प्राक्तनानुभव** इति। स्मृतिः पुरुषतन्त्रं ज्ञानं, न तु वस्तुतन्त्रम्, प्रमाणतन्त्रं वा। तत्र कारणं तु प्राक्तनानुभवजन्यः संस्कारः॥१२-१३॥

तत्र विषयप्रमोषोऽनुभवनाशः, प्रमातुश्चाप्रमोषः। विषये प्रमुष्टे, अनुभवे नष्टे च प्रमुषितस्य[3] पुरुषस्य ज्ञानं स्मृतिर्भवतीति निष्कर्षमाह– **विषय** इति॥१४॥

तत्र प्रयोजनं प्रमातॄणां मायया तस्या आवरणशक्त्यावरणविधया[4] प्रमोषः। तदिदमाह–**प्रमोषणमिति**।

१. 'न्नर्थं' इति टीकानुसारी पाठः।
२. छायाया भानुशक्तित्वं टीकाद्युक्तरीत्योपपादनीयम्।
३. 'अप्रमुषितस्य' इति सुवचम्।
४. 'तस्यावरणशक्तिमत्यावरणविधया' इति हस्तलेखे पाठः।

सर्वानाच्छादयेन्माया विद्या व्याक्षिप्य दर्शयेत्।

प्रत्यभिज्ञैव सर्वेषां प्रमाणानाञ्च साधनम्॥१६॥

ईश्वरोऽन्योऽहमप्यन्य इति विच्छेदकारिणीम्।

व्याक्षिप्य विद्यया मायामीश्वरोऽहमिति स्मृतिः॥१७॥

ईषत्प्रकाशोऽभूदीशः मायायवनिकावृतः।

सम्यगावरणापाये सहस्रांशुरिव स्फुरेत्॥१८॥

तेन विषयप्रमोषे तदप्रमोषे च निमित्तम् तदविद्या विद्या च। तत्र विद्या ज्ञानम्, येनावरणनिवृत्त्या विषयस्याप्रमोषः, अन्यथा तु प्रमोष इति फलति॥१५॥

तत्र मायाशक्तेरावरणं कृत्यम्, विद्याशक्तेस्तु तन्निवर्तनमिति विवेकमाह– **सर्वानिति**। सर्वार्थाच्छादकत्वं तस्याः लक्षणम्, तन्निवर्तकत्वं तु विद्याया इति भावः॥१६॥

तदिदं निदर्शनमुखेन विशदयति– **ईश्वर** इति। अनेन च बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु चात्मनोऽज्ञानमीश्वरात्मना मायावशात्। तत्र बाल्या(द्य)वस्थानामव्यावृत्ततयाऽज्ञानं मायाकार्यम्, विद्यया जाग्रदादिविवेकेनात्मनः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागेनात्मनोऽज्ञान ईश्वरोऽहं चैकः इति प्रत्यभिज्ञानं, स्मृतिर्वा भवति। ततश्च जाग्रदादेर्व्यावृत्तिरात्मनोऽनुवृत्तिः प्रमुषिता मायया यदि विद्या निवर्त्यते[१], तदानीं प्रत्यभिज्ञानं भवति, तच्च न स्मृतिः, विषयस्याप्रमोषात्। अनुभवोऽपीश्वरस्योपहितरूपेणानुषङ्गिरूपेण भानान्न नष्टः। अतो न स्मृतिः 'सुखमहमस्वाप्सम्'इति प्रत्यभिज्ञानमपि, सुप्तोत्थितस्याहमंशस्यैव तदा नष्टत्वात् तदंश एव स्मरणम्, न त्वात्मांशेऽपि तस्य जाग्रदादिषु सर्वास्ववस्थास्वनुवेद्यत्वात्। इदमेवाभिप्रेत्य– 'सर्वासु व्यावृत्तास्वहमित्यन्तःस्फुरन्तं सदा' इत्युक्तम्। यद्यपि सुषुप्तौ नाहमोऽनुभवः, तदानीं तस्य नष्टत्वात्; तथापि चैतन्यस्यानुभवोऽस्त्येव। अत एव 'अहमिति स्फुरन्तं सदाऽऽत्मानम्' इत्येवोक्तम्, नतु जीवमिति।

अत्राहमिति स्फुरन्तमात्मानं माययाहमिति, विद्ययाऽऽत्मानमिति । बाल्यादीनामनुवृत्तिदशायामीश्वरोऽन्य अहमन्य इति ज्ञानम्, व्यावृत्तावस्थायामीश्वरोऽहमित्यभेदज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं वेति सूच्यते॥१७॥

अत्र कथं स्वप्रकाशस्येश्वरस्य परमात्मनो माययाऽऽवरणम्? कथं वा तत्प्रकाशश्च? यतो माययाऽऽवृतमपि प्रकाशत इत्युक्तं तत्र तत्रेत्यत आह– **ईषत्प्रकाश** इति। ईश्वरस्यावरणादित्यनाद्यविद्याप्रयुक्तः सदादिविभेदप्रकाशः, मायया त्वानन्दांशमात्रावरणेनैव। अत ईषत्प्रकाशोऽपि विद्यया तदावरणापगमे विशदं प्रकाशो निवृत्तावरणस्य सूर्यस्येव भवति। यवनिकावृता हि स्त्रियोऽन्येषामेव दर्शनागोचराः, न तु स्वस्यापीति भावः॥१८॥

ननु यद्यपरा[२]त्प्रकाशोऽपि ईषत्प्रकाशश्च[३], कारणानां प्रमाणानां वा व्यापारेण प्रत्यभिज्ञापनं भवितुमर्हति,

१.पङ्क्तेरस्या अभिप्रायो दुर्घटः।

२.लेखोऽस्पष्टः।

३.ईषत्प्रकाश इति कथनेन ईषदप्रकाश इत्यपि फलति।

न कारणानां व्यापारात् प्रमाणानां न वा पुनः।
प्रत्यभिज्ञापनं नाम मोहापसरणं परम्॥१९॥
यावन्ति सन्ति मानानि व्यवहारप्रवृत्तये।
तेषां मोहापसरणाद् व्यापारोऽन्यो न विद्यते॥२०॥
जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माश्चिदात्मनि।

किमनेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकेन, बाल्यादिव्यावृत्तत्वेनात्मनोऽनुवृत्तस्य ज्ञानेन विद्यया मोहापहरणेनेत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञाने हि मोहापहरणं नैव भवति, प्रमाणानां व्यापारोऽपि विद्यानिबन्धनत्वाद् मोहापहरणस्य विद्योत्पादनार्थमेव, विद्याया एवाविद्याविरोधित्वादित्याह- न कारणानामिति। अत्र मोहापसरणं प्राथमिकसाक्षात्कारमात्रेण नाविद्याया निवृत्तिः किन्तु पटुतमसाक्षाकारसहकृतेनैव, अन्यथा श्रवणाद्यभ्यास-वैयर्थ्यात्, इत्यतो यावत्पटुतरसंस्कारपर्यन्तं ज्ञानानां क्षणकालमननुवृत्तौ पुनरप्यावरणम्, तथा च युद्धे भटानामिवापसरणमात्रं कञ्चन कालम्, लब्धे त्ववसरे पुनरावरणमिति सूचनार्थम्[१]। इदमेवाभिप्रेत्य भटवदपसरणं वेति वृत्तिज्ञानोपयोगविचारावसरे सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे पक्षभेद उपन्यस्तः॥१९॥

इदं हि नात्मज्ञानमात्रे, किन्तु घटादिज्ञानेष्वपि, अन्यथा सकृज्ज्ञानमात्रेण घटाद्यावरणे निवृत्ते सर्वदा सर्वप्रकाशेन तत्तज्ज्ञापनार्थं पुनः पुनः प्रमाणव्यापारवैयर्थ्यमिति शङ्का स्यादित्यत आह- यावन्तीति। एतेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षः सूच्यते, इति तत्तत्कालिकतत्तद्विषयाज्ञानानि तत्तज्ज्ञानेन निवर्तन्त इति सूच्यते। तत्र यदि घटाज्ञानं पटाज्ञानमिति ज्ञानभेदेन तावन्त्यज्ञानानि स्वीक्रियन्ते, तर्हि तत्तदज्ञानस्य न तत्तज्ज्ञानकालेऽपसरणमात्रं विवक्षितम्। अन्यथा त्वेकज्ञानेनैकैकाज्ञानस्य निवृत्तिः, तन्निवृत्तिकाल एवान्येनाज्ञानेनावरणमिति व्यवस्था, घटाद्यज्ञानानां प्रत्येकमेकत्वे तत्तदज्ञानविषयत्वमात्रस्य यावज्ज्ञानसत्त्वं निवृत्तिः, ततस्तु पुनरप्यन्येनाज्ञानेनावरणमित्यादिप्रक्रियाभेदाः सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे सङ्गृहीताः।

तत्र प्रमाणानां प्रामाण्यं तद्विषयाज्ञाननिवर्तकज्ञानत्वेन। तत्र घटादिज्ञानानि व्यावहारिकप्रमाणानि यावद्ब्रह्मज्ञानं घटादेरबाधात्। ततस्तदज्ञानानि तत्तदवच्छिन्नचैतन्याश्रितानि निवर्तयन्ति प्रमाणानि। तत्रापरोक्षज्ञानेनाज्ञानस्यासत्त्वापादकशक्तिमात्रं नश्यति, तेन सदित्येव प्रतीतिः, अपरोक्षज्ञानेन त्वभानापादकाज्ञानम् असत्त्वापादकाज्ञानं चोभयमपि नश्यति, तेन 'सन् घटो भाति' इति प्रतीतिः। अयमेव न्यायो ब्रह्मज्ञानेऽपि, तत्र प्रमाणजन्यं ज्ञानमज्ञाननिवृत्तिपर्यन्तं सदित्येव ज्ञानं जनयति, यथा 'सदेव सोम्य! इदमग्र आसीत्' इति।

अभानापादकाज्ञानं त्वानन्दात्मनोऽपि ब्रह्मणो ज्ञानेनैव निवर्तते, तत्र ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिमात्रं प्रयोजनम्, न तु तत्प्रकाशनमपि, स्वयम्प्रकाशत्वादखण्डस्यात्मतत्त्वस्य। तदुक्तं भाष्ये- 'न हि शास्त्रमिदन्तया ब्रह्म गोचरयति, अविद्यानिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य'[२] इति॥२०॥

१.सूचनार्थं मोहापसरणमित्युक्तमिति सम्बन्धः।
२.अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य इति हि भाष्ये पाठः। द्र. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् १-१-४.

सत्यज्ञानसुखात्मत्वं मोहाद्देहेऽपि कल्प्यते॥२१॥

शुक्तौ रजतमित्येवं यथा व्यामुह्यतेऽन्यथा।

सत्ख्यातिनिरासः

सदेव रूप्यं चेद्भाति विलयस्ते न सिद्ध्यति॥२२॥

तत्र स्वयम्प्रकाशस्यापि ब्रह्मणोऽज्ञानेनाविरोधात्, तन्निमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहं ममेति व्यवहारो नैसर्गिकोऽध्यासोऽनुवर्तते, येन परस्पराध्यासो देहेन्द्रियादीनाम्। किं बहुना? जडप्रपञ्चमात्रस्य तदुपधानद्वारा जीवात्मनोऽपि। तेनाविद्यया देहाद्यविवेक आत्मनः, विद्यया तु तद्व्यावृत्त्यवगमः। तद्विवेको नेति निरूपयिष्यन् तद्विवेककारणं निर्दिशति- **जडानृते**ति। अनेन परस्पराध्यासो जडचैतन्ययोः शुक्तिरजतदृष्टान्तेन तदविवेकनिबन्धनः प्रस्तूयते। जडञ्च जगत् व्यावहारिकं सत्यमनृतमिति दृष्टान्तार्थं शुक्तिरजतादि। किं बहुना? परिच्छिन्नं सर्वं देहेन्द्रियादि जडं चानृतम्। परिच्छिन्नश्च देहः। देहमित्युपलक्षणमनृतस्य, तस्य धर्मांश्चिदात्मन्यध्यस्यन्ते। अत्र धर्मपदं धर्मिणोप्युपलक्षणम्, अथवा देहाः, धर्माश्च देहधर्माश्चेत्युभयपरिग्रहः। धर्मितादात्म्याध्यासं विना धर्माध्यासासम्भवः, धर्मधर्म्युभयाध्यासस्य विवक्षणीयत्वात्। इतः परं परस्पराध्यासं निरूपयितुं चिदात्मनो देहादावध्यासमनुसन्दधते- **सत्यज्ञानसुखात्मत्व**मिति। सत्यज्ञानसुखात्मत्वमधिष्ठानस्य तद्धर्मस्य स्वरूपतोऽध्यासे तस्यापि बाध्यत्वापत्त्याऽत्र सत्यज्ञानसुखात्मत्वपदेन तत्तत्संसर्गमात्रस्य विवक्षा परस्पराध्यासे ऽधिष्ठानस्यारोपितेऽध्यासस्य संसर्गमात्राध्यासत्वस्य ब्रह्मसिद्ध्यादौ विवेचनात्। सन्निकृष्टस्थले संसर्गमात्राध्यासस्य 'लोहितः स्फटिकः' इत्यादौ दर्शनात्। तेन व्यावृत्तानामधिष्ठानवत् तेन तादात्म्याध्यासात् यावद्बाधकज्ञानं विद्यां वा न व्यावृत्तः स्वभावस्यापि देहादेर्व्यावृत्तत्वग्रहः। अयं च परस्पराध्यास आरोपस्य बाधं विना न युज्यते,इति सत्त्वेन प्रतीतस्य रजतादेरिव देहादेरप्यनिर्वचनीयत्वं सिद्ध्यति। तेन च विद्यया तदविवेकनिबन्धनानुवृत्तत्वभ्रमनिवृत्त्या देहादेर्व्यावृत्तत्वनिर्णयो भवति। तेनात्मस्वरूपस्य ज्ञानं सिद्ध्यति। इदमेवाभिप्रेत्योक्तम्- 'जाग्रदादिष्ववस्थासु व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमात्मानं स्फुरन्तम्' इति। अहमितिज्ञानस्याप्यसंवलितविषयकस्य ततोऽनात्मनः पृथक् विवेके तस्य तत्प्रतीतौ स्फुरणासम्भवादात्मज्ञानं यथा-

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" इति।

सर्वक्षेत्रेष्विति। क्षेत्राणां पृथक् विवेके ज्ञमात्रस्याभेदः, न तु क्षेत्रविशिष्टस्य, इति क्षेत्रज्ञपदेन ज्ञानमात्रस्य विवक्षयाऽभेदः। एवमत्रापि चिन्मात्रस्याहंपदेन ग्रहणमिति भावः॥२११/२॥

अतः प्रसङ्गात् सत्ख्यात्यख्यात्यन्यथाख्यात्यात्मख्यातीनां निरसनेनानिर्वचनीयख्यातिं समर्थयति- **सदेवे**ति। अयमत्र सत्ख्यातिवादः, तन्निरासप्रकारश्च। सत्ख्यातिवादो शिवदृष्टिनिबन्धे प्रत्यभिज्ञानदर्शने एवमुपन्यस्यते- प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वम्, शुक्तिरजतादिकं देहादिकञ्च सदेव। अत एव चर्ममयरूप्यचिह्नैः रूप्यव्यवहारो यथावदनुभूयते, अन्यथा लोकव्यवहार एव क्रयविक्रयादिरूपो न सिद्ध्येत्। साम्प्रतमपि पत्रैरेव सङ्केतितैः क्रयविक्रयादिव्यवहाराः दृश्यन्ते। यतो न हि तत्र तेषु[1] रूप्यत्वग्रहो भ्रमः। अतो विभ्रमे भासमानं

१.कर्गजनिर्मितपत्रादिषु।

असत्ख्यातिनिरासः

नात्यन्तासत्प्रकाशेत नरशृङ्गादिवत्क्वचित्।

अख्यातिनिरासः

कान्ताकरादौ रजतमिति स्यात्स्मरणं भ्रमे।।२३।।

तेनेदं तुल्यमित्येवं स्यात्साद्दश्यात्तु विभ्रमः।

पीतश्शङ्खो गुडस्तिक्त इत्यादौ नास्ति तुल्यता।।२४।।

अन्यथाख्यातिनिरासः

तादात्म्येन स्फुरति चेद्रजतत्वेन शुक्तिका।

सर्वं सदेवेति स्वीकर्तव्यमिति तदाशयः। तन्निरासप्रकारस्तु रज्जुसर्पादिस्थले शुक्तिरजतादिस्थले वा न सर्पादिभावेन रज्ज्वादयः, स्फटिकादयो लोहितादिगुणयोगेन न प्रकाशन्ते। प्रकाशमाना वा भवन्ति तदात्मानः, तद्धर्माणो वा, न हि मरुषु मरीचिषु जलमिति भ्रान्तस्तेन पिपासां शमयति, चर्मादौ पत्रादौ च रूप्यसङ्केतता-मात्रम्, न तु भ्रमः। न हि चर्मखण्डाः सर्वेऽपि, पत्राणि वा सर्वाणि तथाऽसङ्केतितानि सङ्केतितानीव क्रयविक्रयव्यवहारयोग्यानि भवन्ति राजमुद्रामुद्रितान्यपि। अतो न सत्ख्यातिवादो युक्तः।।२२।।

असत्ख्यातिवादस्तु 'नेदं रजतम्' इतिबोधस्तत्र प्रतीतस्य तत्रैव निषेधानुपपत्त्याऽसदित्येव युक्तमिति। तन्निरासप्रकारस्तु तत्रापि रजतस्य पुरोवर्तिना सत्तासम्बन्धानुपपत्त्या रजतस्यापि सदिति प्रतीत्यनुपपत्त्या च न युक्ता, अतोऽसत्ख्यातिवादोऽपि न युक्तः।

अख्यातिवादस्तु प्रभाकरसम्मतो यथा 'इदं रजतम्' इति द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे। तत्रेदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणम्, दोषवशात् तद्गतशुक्तित्वसामान्यविशेषाग्रहात् तन्मात्रं गृहीतं सद्दशतया संस्कारोद्बोधक्रमेण रजतस्मृतिं जनयति। सा च गृहीतग्रहणस्वभावाऽपि दैववशाद् गृहीतत्वांशप्रमोषात् ग्रहणमात्रमवतिष्ठते। तथा च रजतस्मृतेः, पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाग्रहात् सन्निहितगोचरज्ञानसारूप्येण 'इदं रजतम्' इतिभिन्नेऽपि ग्रहणेऽभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्यव्यपदेशं च प्रवर्तयतः। क्वचित् पुनर्ग्रहणे एव मिथोऽगृहीते– यथा 'पीतः शङ्खः' इति। यत्र नयनवर्तिपित्तस्य पीतत्वस्य च ग्रहणम्, शङ्खस्य च स्वरूपमात्रग्रहणमित्युभयेऽपि ग्रहणे एव। अभेदव्यवहारश्च तत्रापि, भेदाग्रहणमात्रेण। तत्र 'नेदं रजतम्'इति दोषनिवृत्तौ बाधकप्रत्ययेन विवेकाग्रहमात्रं बाध्यते। तेन च भ्रान्तिरिति व्यवहारमात्रम्, न तु रजतादेस्तत्र बाधकथापि। तथा च यथार्थाः सर्वे प्रत्ययाःप्रत्ययत्वात् सत्तामात्रत्वाच्च सम्प्रतिपन्नवदिति।

तन्निरासप्रकारस्तु– अस्ति तावद्रजतार्थिनो 'रजतमिदम्' इतिग्रहणात् पुरोवर्तिनि द्रव्ये प्रवृत्तिः। इयं चेदङ्काराभिमुखी प्रवृत्तिः पुरोवर्तिनि रजततादात्म्यबुद्धिं विना नोपपद्यते। तत्र यदि रजतमिति स्मरणमात्रं तर्हि स्वस्त्रीकरस्थानस्य रजतस्य स्मरणात् तदभिमुख्येव प्रवृत्तिः स्यात्, न तु शुक्त्यभिमुखी प्रवृत्तिः। तत्र रजतबाध एव शुक्तौ दृश्यते। एतदन्यथानुपपत्त्या शुक्तौ रजतभ्रमः स्वीकर्तव्यः। तत्रेदंरजतयोः साद्दश्यमात्र-

विभ्रमो निरधिष्ठानो बाधो निरवधिर्भवेत्।।२५।।

आत्मख्यातिनिरासः

बुद्धिस्थितं चेद्रजतं बाह्यत्वेन प्रतीयते।
गुञ्जादौ ज्वलनारोपे देहदाहः प्रसज्यते।।२६।।

अनिर्वचनीयख्यातिसाधनम्

युक्तिहीनप्रकाशत्वाद् भ्रान्तेर्न ह्यस्ति लक्षणम्।
यदि स्याल्लक्षणं किञ्चिद् भ्रान्तिरेव न सिद्ध्यति।।२७।।
जलचन्द्रवदेकस्मिन् निर्भये रज्जुसर्पवत्।

प्रतीतिस्तु सादृश्यमात्राग्रहणादनुपपन्ना। 'पीतः शङ्खः' 'तिक्तो गुडः' इत्यादौ न सादृश्यकणा अपि ततोऽख्यातिवादो न युक्तः।।२३-२४।।

अन्यथाख्यातिवादस्तन्निरासप्रकारश्च– तत्र 'इदं रजतम्' इत्यत्र 'नेदं रजतम्' इत्यनेन रजतस्य निषेधः, न चेदन्तायाः, किन्तु तत्सादृश्यात् स्मृतस्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या सन्निकृष्टस्य च रजतस्य संसर्गमात्राध्यासः, सन्निकृष्टस्थले हि संसर्गमात्राध्यासः, न स्वरूपाध्यास इत्यद्वैतिनोऽपि स्वीकुर्वन्ति। अतोऽत्र संसर्गमात्रबाधो युक्त इति। 'इदं रजतम्' इति च सामानाधिकरण्यदर्शनात्, सामानाधिकरण्यस्य तादात्म्यस्य संसर्गविषयकत्वस्य 'नीलो घटः' इत्यादौ दर्शनात्, 'इदं रजतम्' इत्यत्रापि तादात्म्यसंसर्गमात्रविषयकत्वं युक्तमित्यन्यथाख्यातिवादः। स च न युक्तः, तत्र तादात्म्यसंसर्गारोपस्यात्र स्वीकारात्, रजते च संसर्गाध्यासमात्रस्य स्वीकाराच्च। अयमपि वादो न विकल्पसहः, सामानाधिकरण्यं हि 'नीलो घटः' इत्यादाविव न युक्तः विशेषणविशेष्यभावाभावात्। नाप्यभेदे, तस्यापि बाधात्। न चान्यदपि, बाधायां सामानाधिकरण्यं तु रजतस्यानिर्वचनीयत्वं विना नोपपद्यते, अतोऽयमन्यथाख्यातिवादो न युक्तः।।२५।।

आत्मख्यातिवादस्तन्निरासप्रकारश्च– यथा विज्ञानवादिनो ह्यात्मख्यातिवादिनः। अयं हि तेषामाशयः– यद्यपि तेषां मते बाह्यं रजतं न वस्तुसत्, तथाप्यनादिवासनाख्याविद्यारोपितमलीकं बाह्यम्। तस्य ज्ञानाकारस्य बहिरारोपः। उपपत्तिस्तु यद् यादृशमनुभवसिद्धम्, तत् तादृशमेवाङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथात्वे पुनर्बाधकप्रत्ययबलाद् 'नेदं रजतम्' इतिबाधकप्रत्ययस्य त्विदन्तानिषेधमात्रेणोपपत्तौ न रजतगोचरतोचिता, तेनेदन्ताया एव बाधात्, तस्यान्तरत्वपर्यवसानमिति। तन्निरासप्रकारो यथा– विज्ञानं स्वगोचरतेदन्ता-निषेधादान्तरत्वे पर्यवस्यतीति न युक्तम्। इदन्ता हि सन्निकृष्टता पुरोवस्थितता वा, तन्निषेधे हि नात्यन्तसन्निकृष्टात्मरूपतायां पर्यवसानम्। किन्त्वतिविप्रकृष्टकिञ्चिद्रूपतायाम्। अतो बाधकप्रत्ययबलान्न रजतस्य ज्ञानाकारता, अन्यथा गुञ्जादावारोपितवह्नेरात्माकारतायां बाधज्ञानानन्तरं शरीरदाह आपद्येतेत्यात्मख्यातिवादनिरासः।।२६।।

तदेवमुक्तानां ख्यातीनां दुरुपपादत्वमुपपाद्य तत्र सर्वत्र लक्षणासम्भवमप्युपक्षिपति–**युक्ति-हीनप्रकाशत्वादिति**। इदमत्रालोचनीयम्– सत्ख्यात्यख्यात्यन्यथाख्यात्यात्मख्यातीनामन्यतमपक्षे यत्र कुत्रापि

प्रतीयते यथा स्वर्णे कारणे कटकादिवत्॥२८॥
उपात्ते रूप्यवच्छुक्तौ व्याप्ते यक्षपुरीव खे।
रश्म्यम्बुवत् स्फुरद्रूपे स्थाणौ चोरवदक्रिये॥२९॥
असत्कल्पमिदं विश्वमात्मन्यारोप्यते भ्रमात्।
स्वयम्प्रकाशं सद्रूपं भ्रान्तिबाधविवर्जितम्॥३०॥
प्रत्यभिज्ञायते वस्तु प्राग्वन्मोहे व्यपोहिते।

भ्रमलक्षणमेव न सिद्ध्यति। सिद्धे तु लक्षणे प्रामाणिकत्वमपि स्यादिति न भ्रान्तिरेव सिद्ध्यतीत्य-ख्यातिपक्ष एव पर्यवसानम्॥२७॥

तत्र तु 'नेदं रजतम्' इति बाधप्रत्ययः इदङ्काराभिमुखी प्रवृत्तिश्च बाधिता, अन्यथाख्यातिवादे तु सन्निकृष्टस्यैव रजतस्य रजतत्वस्य वा भानात् तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्, ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिरपि सन्निकर्षमेव साधयति। अतो बाधितार्थविषयकत्वमेव भ्रमलक्षणं वक्तव्यम्। तच्च शुक्त्यादेरसतो भानाभावात् तद्वदेव जगतोऽप्यसतो बाधासम्भवात् अन्योऽन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकताध्यासं विना नोपपद्यत इत्यभिप्रेत्यैव–

"जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माश्चिदात्मनि।
सत्यज्ञानसुखात्मत्वं मोहाद्देहेऽपि कल्प्यते॥
शुक्तौ रजतमित्येव यथा व्यामुह्यतेऽन्यथा।" इत्युक्तम्।

तदिदं बहुतरनिदर्शनपूर्वकमाह– **जलचन्द्रेति**। अत्र सर्वत्र जलचन्द्रादौ न तद्वति तत्प्रकारकत्वम-सम्भवदोषदुष्टम्, तेन अत्र सर्वत्रासत एव सत्त्वेन प्रतीत्या सद्विलक्षणम्, असत्कल्पमिति वर्णनादसद्विलक्षणम्। अत एव सदसद्रूपत्वस्यापि विरोधात्, सदसद्रूपवत्त्वं च वार्यते। अत्र भ्रमलक्षणं तु सत्याधिष्ठानका-रोपितार्थविषयत्वम्, सत्याधिष्ठानकबाधितार्थविषयकत्वं वा, न तु भ्रमज्ञानविषयत्वमात्रम्, येनाधिष्ठानमपि बाध्यं स्यात्। यथा च भ्रमविषयत्वेऽप्यधिष्ठानस्य बाधकज्ञानविषयस्य संसर्गमात्राध्यासः, अत एव तस्याबाधश्च, तथा व्यक्तमधस्तात्॥२८-२९॥

तदिदमाह– **असत्कल्पमिति**। अत्र भ्रान्तिविवर्जितमिति भ्रान्तिविवर्जितत्ववर्णनेन सर्वेषां ज्ञानाना-मधिष्ठानांशे प्रमात्वं ज्ञाप्यते। बाधवर्ज़ितमित्यनेनाधिष्ठानेतरस्यारोपितस्यैव बाध इति सूचयन् आरोपितस्यैव साधिष्ठानत्वं बोध्यते, तेन नानवस्थापत्तिः। अनेनारोप्यस्य भ्रान्तिविषयत्वम्, बाधितत्वञ्च ज्ञाप्यते। तथा च सर्वं ज्ञानं प्रकारांशे भ्रम इति मण्डनसिद्धान्तः। विकल्पांशे ज्ञानस्याप्रामाण्यमेव, सन्मात्रे ज्ञानस्य प्रामाण्यमित्येवंरूपो ख्याप्यते, यत्र श्रीभाष्यादावाक्षेपः, समाधानञ्च शतभूषण्यादौ[१] व्यक्तम्॥३०॥

तदेवं सिद्धो व्यामोहनिबन्धने भ्रमे तद्वत्त्वेनाहङ्कारादीनामात्मनश्च विवेकाग्रहादात्मस्वरूपज्ञानमेव न सम्भवति, विद्यया तु व्यामोहनिवृत्तौ जाग्रदाद्यवस्थानां व्यावृत्तत्वनिर्णये क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकन्यायेन देहादिविविक्तात्मस्वरूपं चिन्मात्रम्, 'ईश्वरोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञायते, अन्यथा तु न, तत्र च देहाद्यविवेक-

१. द्रष्टव्या– शतभूषणी पृ. ५८-६५।

देहाद्युपाधौ निर्धूते स्यादात्मैव महेश्वरः॥३१॥

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमित्यादीन्यपराण्यपि।

प्रमाणान्याप्तवागाह प्रत्यभिज्ञाप्रसिद्धये॥३२॥

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

प्रबन्धे मानसोल्लासे सप्तमोल्लाससङ्ग्रहः॥३३॥

॥इति श्रीमानसोल्लासे सप्तमोल्लासः॥

निबन्धनोऽहमिति प्रत्ययो भ्रमः, अहमेवेश्वर इति प्रत्यभिज्ञानमेव प्रमा, इति प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यात् सुष्ठु भगवत्पादैरनुसंहितम्। स्तुतञ्च– 'बाल्यादिषु जाग्रदादिषु सर्वास्ववस्थासु' इत्यादिना। तदाह– **प्रत्यभिज्ञायत** इति। देहादिविविक्ततयात्मस्वरूपज्ञाने च घटाकाशो महाकाश इति प्रत्यभिज्ञानवत् ईश्वरोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानमपि सम्भवति। तावत्पर्यन्तमहमन्यः, ईश्वरोऽन्यः, वयमन्ये, जडा अन्ये इत्यादिरूपं भेदज्ञानं तु केन वार्यते, न केवलं प्रत्यक्षसिद्धं किन्तु तत्र तत्र श्रुतिसिद्धमपि यावदात्मस्वरूपज्ञानम्, यावद्बाधं च प्रमाणमेव। आत्मतत्त्वज्ञाने तु बाधितत्वात् तदनुवेधेनैव सर्वस्य सत्प्रतीतिविषयत्वाच्च। तदेवं प्रत्यभिज्ञा-बाधादद्वयात्मतत्त्वं श्रुतिसिद्धं प्रामाणिकं व्यवस्थापितम्॥३१॥

इतःपरं प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यादीन्यपि प्रमाणानीति व्यवस्थापयन् सप्तममुल्लासमुपसंहरति–**स्मृतिरिति**। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' ईश्वरोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायाम्– 'उदाराः सर्व एवैते' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इत्यादिस्मृतिः, प्रत्यक्षम्=स्थितप्रज्ञानामात्मस्वरूपानुभवः, ऐतिह्यम्=ऐतिह्यजनकयाज्ञवल्क्य-संवादः, योगवासिष्ठगतान्यसङ्ख्यान्युपाख्यानानि च, अद्वैतसिद्धिगृहीतानि सामान्यानुमानानि विशेषानुमानानि, विष्णुपुराणमहाभारतानि च प्रमाणम्॥३२॥

अथ यथापूर्वं सप्तमोल्लासमुपसंहरति– **इतिश्रीति**॥३३॥

अयं श्लोकः शाङ्करवेदान्तानुकूलं किमपि न वर्णयति, परन्तु प्रत्यभिज्ञानदर्शनसाधारणमपीत्यमरनाथो वदति। परन्तु व्यावृत्तास्वनुवृत्त्या प्रकाशश्चिन्मात्रस्य विवर्तोपादानताभिप्रायेण। अनेन 'सन् परमार्थः, अनुवर्तमानत्वात्' 'घटादयः अपरमार्थाः, व्यावृत्तत्वात्' इति ब्रह्ममात्रसत्यत्वम्, तदितरमिथ्यात्वञ्च, यदत्र विवक्ष्यते, तदिदं प्रत्यभिज्ञानदर्शनस्य परिपन्थीति नामरनाथो जानाति। अस्तु, अत्रापि न प्रत्यभिज्ञान-दर्शनगन्धः। स्फुरणं भानं नात्मप्रकाशाधीनप्रकाश इत्यपि पूर्वमेव व्यक्तीकृतम्।

॥इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां सप्तमी वर्धिनी॥

ॐ

अथ मानसोल्लासे
अष्टमोल्लासः

बन्धमोक्षव्यवस्थोपपादनम्

प्रकाशव्यतिरेकेण पदार्थः कोऽपि नास्ति चेत्।
परमार्थोपदेशान्तो व्यवहारः कथं भवेत्॥१॥

प्रथमे श्लोके चिदात्मनि मायया प्रपञ्चस्य कल्पितत्वेनारोपितं सद्वितीयत्वम्, वस्तुतोऽद्वितीयत्वञ्च प्रतिपादितं स्वाप्नजागरयोरपि, द्वितीयश्लोकेऽतिसूक्ष्मस्यापि तस्य न परमाणुवत् सतः कार्यस्याविर्भावः, न वा प्रधानवत् परिणामिकारणत्वम्, किन्तु विवर्तोपादानत्वम्, तेन चात्मव्यतिरेकेण सर्वाभावेऽद्वितीयत्वस्योपसंहारः कृतः। तेनात्मनोऽधिष्ठानत्वम्, अन्यस्य तत्सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः, तथा तत्प्रकाशातिरिक्तप्रकाशाभावश्च निष्कृष्यते। तुरीयश्लोके प्राधान्येनात्मप्रकाशाधीनप्रकाशत्वमेव विशदीक्रियते। पञ्चमे देहप्राणेन्द्रियबुद्धीनामनात्मत्वं व्यष्टिशः समष्टिशश्च विवेचितम्। षष्ठेन त्वात्मनः क्षणिकत्वं शून्यत्वञ्च निरस्तम्। सप्तमे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकेन प्रत्यक्तत्त्वस्य विवेचनेन 'सोऽहमीश्वरः' इत्यात्मसाक्षात्कारो व्यक्तीकृतः। तदेवं सप्तश्लोक्यामद्वितीयतुरीयस्वप्रकाशसदात्मकस्य ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वेन मायाद्वितीयस्य मिथ्यात्वज्ञापनेन चाद्वैततत्त्ववादो भगवत्पादाभिमतः गौडपादाद्यनुसंहितश्च मानसोल्लासेन स्पष्टीकृतः।

तत्र यद्यात्मतत्त्वव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वम्, यदि च तत् स्वप्रकाशचैतन्याधिष्ठानकत्वेन, यदि चाद्वयत्वमेव पारमार्थिकं तत्त्वम्, तर्हि स्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेण जीवोऽपि नास्तीतिसिद्धं भवति। एवञ्च–

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।"

इति गौडपादकारिकार्थ एव वेदान्तार्थः। स एवाद्वैतवादश्चेति फलति। अत एव गौडपादकारिका–

"अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते॥"
"मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥"

किं बहुना? विश्वतैजसौ प्रकृतिपुरुषयोरुभयोरपि वैतथ्यं भेदानामित्युपसंहतम्। एवञ्च सति विश्वतैजसौ यदा मिथ्या तदा प्रश्ना इमे उत्तिष्ठन्ति गौडपादोक्तरीत्या–

"क एतान् बुद्ध्यते भेदान् के वा तेषां विकल्पकाः" इति।

इदमुपलक्षणम्–

"कस्य बन्धः कस्य मोक्षः को बन्धः केन हेतुना"

इति श्रुतिरपीममेवार्थं श्रावयति– 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्, केन किं वा जानीयात्'

कस्य बन्धश्च मोक्षश्च बध्यते केन हेतुना।
मायायाः लक्षणं किं स्यादित्येवं परिपृच्छतः॥२॥
प्रश्नः स्यादुत्तरं वक्तुं प्रतिपत्तुं सुखेन च।
उक्तोऽर्थस्सप्तभिः श्लोकैः पुनः सङ्क्षिप्य कथ्यते॥३॥
पौनरुक्त्यं न दोषोऽत्र शब्देनार्थेन वा भवेत्।
अभ्यासेन गरीयस्त्वमर्थस्य प्रतिपाद्यते॥४॥

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥८॥

इति। यदि मायावशाद् बन्धः, तर्हि का वा सा माया, या प्रथमश्लोके 'पश्यन्नात्मनि मायया' इत्यत्र, द्वितीयश्लोके 'मायाकल्पितदेशकालकलना' इत्यत्र, षष्ठे श्लोके 'मायासमाच्छादनात्' इत्यत्र चानुसन्धीयते। किं तल्लक्षणम्। तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गतश्च किं नाम मिथ्यात्वम्? कथं मिथ्याभूतस्यापि क्रियाकारित्वमित्यादयोऽपि प्रश्ना उत्तिष्ठन्ति, इत्येषां प्रश्नानामुत्तरार्थं अष्टमश्लोक इत्यवतारयति मानसोल्लासः– **प्रकाशव्यतिरेकेणेति**। इदं मिथ्यात्वलक्षणादीनामनुपदोक्तानां प्रश्नानामप्युपलक्षणम्। तेषामप्युत्तरस्यात्रानुसन्धानात्॥१-३॥

यद्यप्यत्र पौनरुक्त्यमिवाभाति, तथाप्युक्तार्थस्य विशदीकरणात् सूचितस्य च स्पष्टीकरणात् पौनरुक्त्यं न दोषायेत्याह– **पौनरुक्त्यमिति**। तदुक्तमभ्यासेन ह्यर्थस्य दृढीकरणं भवति, पुनः पुनरुक्तस्यापि तत्त्वस्य माययावरणमपि पुनःपुनर्भवतीति मोहापकरणार्थत्वात् पौनरुक्त्यं श्रेयस एव, येनार्थस्य गरीयस्त्वं भवतीति भावः॥४॥

विश्वं पश्यतीति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्याष्टमश्लोकस्य व्याख्या

अत्राष्टमश्लोको यथा– **विश्वं पश्यतीति**।

गौडपादकारिकादिः–

"जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥
जीवात्मनोऽपृथक्त्वं यत् प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।
भविष्यद्वृत्त्या गौणत्वे तन्मुख्यत्वं न युज्यते॥" इति जीवात्मनोरैक्यं प्रागुत्पत्तेः प्रतिपादितम्, तद्भविष्यद्वृत्त्या गौणं न मुख्यमिति प्रतिपादयति। तेनावगम्यते–

"प्रकाशव्यतिरेकेण पदार्थः कोऽपि नास्ति चेत्।
परमार्थोपदेशात्तो व्यवहारः कथं भवेत्॥"

अस्यायमभिसन्धिः–

स्वयम्प्रकाशे सद्रूपेऽप्येकस्मिन् परमेश्वरे।

कार्यकारणसम्बन्धाद्यनेकविधकल्पना।।५।।

राहोश्शिरः सुषिः खस्य ममात्मा प्रतिमावपुः।

इति प्रश्ने भविष्यद्वृत्त्या प्रकाशव्यतिरेकेण पदार्थाभावप्रतिपादनस्य व्यवहारदशायां गौणत्वेन मुख्यत्वाभावात्, भाविनीं दशामादाय वर्तमानदशायाम्। अतीतदशायां वा भेदव्यवहारानुपपत्तिशङ्का नात्रावतरति। मुख्यत्वं त्वखण्डाकारसाक्षात्कारपाटवदशायाम्, जीवन्मुक्तिदशायां सर्वात्मना विद्यानिवृत्तिदशायां वा–

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।"

इत्यस्यैव सिद्धान्तस्य स्वीकाराद् व्यवहारानुपपत्तिशङ्काऽखण्डाकारसाक्षात्कारात् नोत्तिष्ठति, इति कार्यकारणभावः, स्वस्वामिभावः, पितृपुत्रभावः, अन्यश्च भेदव्यवहारप्रयोजकः साक्षात्कारपूर्वकालिकः एवेति मायाविष्टम्भितो न विरुद्ध्यते। स्वप्ने जाग्रति वा ब्रह्मसाक्षात्कारपूर्वकाले सर्वोऽपि व्यवहारो मायानिबन्धन एवेति कस्य बन्धः, कस्य मोक्षः, को वा बध्यते? इत्यादिशङ्कानामवसरस्य साक्षात्कारपूर्वकालिकाविद्या-विशिष्टविषयत्वात् बन्धमोक्षादीनां तस्य मिथ्यात्वं भविष्यद्दृष्ट्या स्वप्ने जाग्रति वा गौणम्, न मुख्यमिति प्रश्नस्य नावकाशलेशोऽपि। अत एवाध्याससिद्धान्तभाष्यम्– 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' बन्धदशामभिप्रेत्यैव, न तु मुक्तिदशाम्, अज्ञाननिवृत्तिदशां वा। तत्र कार्यकारणभावः, उपादानोपादेयभावः, मायोपहितपदार्थयोः, तदुपाधित्वेन संविज्जीवयोः, अधिष्ठानारोप्य-भावो वा, स्वस्वामिभावः परम्परया, पुत्रपितृभावोऽपि मिथ्या, न व्यवहारविरोधीति भाष्यतात्पर्यम्। अतः 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्, पश्यन्नात्मनि' इत्युपपन्नम्, आत्मनोऽप्यधिष्ठानत्वात्, अन्येषां भावानामारोपाच्च।

अत्रात्मनीति स्वप्रकाशं संविन्मात्रं विवक्षितम्, अस्याधिष्ठानत्वञ्चाविद्ययाऽऽवरणात्, स्वप्रकाश-स्याप्यावरणम्– 'कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्' इत्यादिना समर्थितं भाष्य एव। इदं सर्वं मनसि निधायाह–**स्वयंप्रकाश** इति। तथापि भविष्यद्वृत्त्या कार्येतरस्य मायाविजृम्भितत्वात् साक्षात्कारात् पूर्वं व्यवहारस्तदा कार्यकारणभावादिकञ्च न व्याहतमिति भावः। न केवलं कार्यकारणभावः किन्तु ममात्मा, मम शरीरम्, इत्यादिस्वस्वामिभावोऽप्यहमिति धर्म्यध्यासात् ममेदमिति धर्माध्यासात् स्वस्वामिभावोऽध्यास एव। अत एव– 'अहमिदम्, ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' इति।।५।।

अत्र यद्यपि कार्यकारणभावो विवर्तोपादानोपादेयभाव उपादानव्यतिरेकेणोपादेयाभाव एव पर्यवस्यति, व्यवहारेणापि तादात्म्यमेव, इति ममेति स्वस्वामिभावो न सम्भवति। तथापि 'राहोः शिरः' इति राहुव्यतिरिक्त-तच्छिरोऽभावेऽपि यथा षष्ठी, यथा वा पुरुषस्य चैतन्यमिति, तथा तत्प्रत्ययस्य विकल्पाख्यप्रतीतित्वात् स न विरुध्यत इत्याह–**राहोरिति**। अयमेव न्यायः पितृपुत्रभावेऽपि। अत्र पितृपुत्रात्मनेत्यादिपदेनोपास्योपासक

इत्यादिकल्पनातुल्या न पृथग्वस्तुगोचरा॥६॥
उपास्योपासकत्वेन गुरुशिष्यक्रमेण च।
स्वामिभृत्यादिरूपेण क्रीडति स्वेच्छयेश्वरः॥७॥
पितरं प्रति पुत्रो यः पुत्रं प्रति पितैव सः।
एक एव हि नानेव कल्प्यते शब्दमात्रतः॥८॥
तस्मात्प्रकाश एवास्ति परमार्थनिरूपणे।
भेदप्रतीतिर्मिथ्यैव माययात्मनि कल्पिता॥९॥

भावः, साक्षात्कर्तृसाक्षात्कार्यभावोऽपि विवक्ष्यते, इति तत्रापि न भेदव्यवहारो यावत्साक्षात्कारपर्यन्तं न विरुध्यते॥६॥

अत्र सुरेश्वरमते मण्डनमत इव प्रमाणजन्योपासनायाः साक्षात्कारपदेन व्यपदेशात् शाब्दपरोक्षवाद एव विवक्ष्यते, इति नोपास्योपासकभावव्यपदेशविरोधः। तदेतदाह–**उपास्योपासकत्वेनेति**। स्वस्वामिभावः, गुरुशिष्यभावश्च, तत्तच्छरीरस्य कार्यत्वनिबन्धनं तु तत्तज्जीवकार्यत्वनिबन्धनतादात्म्यविवक्षया, न तु साक्षात्तत्तज्जीवानां कार्यत्वनिबन्धनः॥७॥

एतेन पितृपुत्रभावोऽपि व्याख्यात इत्याह–**पितरं प्रतीति**। स्वस्वामिभाववत् पितृपुत्रादिभावेऽपि घटाकाशमहाकाशन्यायेनोपाधिभेदमात्रं, नात्मभेद इति तद्भेदव्यपदेशः। वाचारम्भणं नामधेयमात्रम्, तदपि न भविष्यद्वृत्त्याऽभेदवादप्रतिबन्दी, योऽयं स्वप्ने जाग्रति वा, न सुषुप्तौ, सुतरां न समाध्यवस्थायाम्, केवलं मायामात्रविजृम्भितः; एवमनुसन्धानामृतत्वेन श्रीदक्षिणामूर्तेरनुसन्धानं तस्य, स्थितप्रज्ञावस्थस्यातीतदशामभिप्रेत्य साक्षात्कारदशायां स्थितप्रज्ञावस्थायां वा। तस्य तेषु मिथ्यात्वनिश्चयेनैव भरतादिवत् व्यवहार इति भावः, तेन दक्षिणामूर्तेः 'य एव पुरुषो मायापरिभ्रामितः' इति न विरुद्धम्, स्थितप्रज्ञो ह्यतीतावस्थायामप्यनुसन्दधाति, परन्त्वनभिनिवेशेन, तेषु मिथ्यात्वनिश्चयात्। अतस्तदनन्तरं च मिथ्यात्वनिश्चयो न भविष्यद्वृत्त्या गौणः, किन्तु तादात्विकदृष्ट्या मुख्य एव। तच्च 'मायापरिभ्रामितः' इत्यनेन प्रथमद्वितीयपञ्चमश्लोकेषूक्तस्यैवोपबृंहणम्, परन्तु न तत्रापि मायाविजृम्भितत्वं मिथ्यात्वेनेति न प्रतिपादितम्[1]॥८॥

अतो मायाविजृम्भितत्वं मिथ्यात्वं विनापि इति केषाञ्चन शङ्का स्यादिति मानसोल्लासः तदिदं मिथ्यात्वाभिप्रायमेवेत्युपसंहरति–**तस्मादिति**। स्वप्रकाशेऽधिष्ठाने मायाकल्पिता भेदप्रतीतिर्मिथ्येति स्थितप्रज्ञावस्थादृष्ट्या तत्र मुख्यं मिथ्यात्वमिति भावः। इदञ्च– 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो

१.मूलेऽत्र चर्चा समुपस्थापिता यत् यदि अद्वैतं स्वीकृतं तर्हि समस्ता या लोकव्यवस्था विद्यते, पितृपुत्रभाव-स्वस्वामिभाव-उपास्योपासकभावादिःसा कथं सम्भविष्यति, एतादृश्या कस्या अपि व्यवस्थायाः साधुतासम्पादनाय भेदस्वीकारो भवत्यावश्यकः। अत एव द्वैतिनो दार्शनिकाः जीवात्मनोर्यदनन्यत्वं श्रुतौ प्रतिपाद्यते, तद्भविष्यद्वृत्त्या गौणं विद्यते इति स्वीकुर्वन्ति, किं वा सादृश्यमाधारीकृत्य तादृशः प्रयोगो भवति– यथा धनधान्यादिसमृद्धौ राजा संवृत्त इत्युच्यते। अत्र टीकाकारो मूलकारोपदर्शितरीत्या सर्वासामप्येतासां व्यवस्थानां मायाद्वारा निर्वाहो भविष्यतीति प्रतिपादयति।

मिथ्यात्वस्वरूपम्

मिथ्यात्वं नाम बाध्यत्वं सम्यग्ज्ञानोदये सति।

शिष्याचार्योपदेशादि स्वप्नवत् प्रतिभासते।।१०।।

व्यवहारादेर्मिथ्यात्वम्

मिथ्याभूतोऽपि वेदान्तः सत्यमर्थं प्रबोधयेत्।

मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः' इत्यध्यासभाष्योपसंहारं भगवत्पादानां मनसि कृत्वा मानसोल्लासेनोल्लासितम्।।९।।

तत्र 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयवचनः' इतिभामती मण्डनपृष्ठसेविनी, तत्रानिर्वचनीयत्वं सदसद्विलक्षणत्वेन, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वेन, ज्ञाननिवर्त्यत्वादिना वा बहुधा तत्र तत्र निरुच्यते। तत्र मानसोल्लासोऽध्यासभाष्योपसंहार एव 'अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता अभूयन्त[1]' इत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिसाध्यमनर्थहेत्वध्यासप्रहाणमिति भाष्यात्, समन्वयसूत्रे 'अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वात् शास्त्रस्य' इति भाष्यात्, 'तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनम्' इति भाष्याच्च, ज्ञाननिवर्त्यत्वमेव प्रधानं मन्यते, तन्निबन्धनत्वात् सर्वेषां मिथ्यात्वलक्षणानाम्। ब्रह्मसिद्धावपि स्वाभाविक्या अविद्याया उच्छेदायैव सर्वेषां शास्त्राणां प्रवृत्तिवर्णनाच्च बाध्यत्वमेव मिथ्यात्वमिति निरूपितमिति मनसि निधायाह–**मिथ्यात्वमिति**। तथा च शिष्यदृष्ट्याऽऽचार्योपदेशादिकं यावत्तस्य व्यावहारिकम्, मिथ्यात्वनिश्चयो वा भविष्यद्दृष्ट्यैव शिष्यस्य गौण एव, आचार्यस्य तु तन्मुख्यत्वं स्थिप्रज्ञस्य। अतो नोपदेशानुपपत्तिः।

किं बहुना? वेदान्ता अपि भविष्यद्वृत्त्यैव मिथ्याभूताः यावत्तत्त्वसाक्षात्कारं शिष्यस्य मिथ्यात्वस्य परोक्षनिश्चयस्यैव सत्त्वात् तत्रापि नात्मतत्त्वबोधकत्वानुपपत्तिः।

अनेनेदं सूच्यते– सर्वस्य मिथ्यात्वनिश्चयात् पूर्वमेवार्थक्रियाकारित्वम्, प्रमाणत्वं वा, न तु तदुत्तरमिति मिथ्यात्वेन, निश्चीयमानार्थविषयकत्वलक्षणं शुक्तिरूप्यादिज्ञानस्याप्याबाधमिति सिद्धान्तात् परेषामयमाक्षेपः वेदान्तानामपि मिथ्यात्वात् कथं प्रामाण्यम्? कथमसत्यात्सत्योत्पाद इत्यादिशङ्का नावसरति। वस्तुतोऽसत्येऽपि तदसत्यत्वाज्ञानदशायां तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य बहुशो दर्शनात्। तथा चोक्तम्–

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।"इति। बहु पराक्रान्तमत्र ब्रह्मसिद्धौ। तद्यथा– 'नायं नियमः, असत्यं न कस्मैचित् कार्याय भवतीति, भवति हि माया प्रीतेर्भयस्य च निमित्तम्। असत्यं च सत्यप्रतिपत्तेः, यथा रेखागवयो लिप्यक्षराणि च'[2] इति।

स्यादेतत्– स्वरूपेणेदं सत्यं, न शून्यम्, ऐकात्म्यवादिनस्तु स्वरूपेणापि उपायानामसत्यता। उच्यते;

१.आरभ्यन्ते इति भाष्ये।

२.द्र. ब्रह्मसिद्धिः पृ.१३-१४.सम्पादक– एस कुप्पुस्वामी शास्त्री, सद्गुरुप्रकाशन, प्रकाशनवर्ष-१९८४।

देवताप्रतिमावच्च चित्रवत्प्रतिबिम्बवत्॥११॥
सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं मायायाः परिजृम्भणम्।
सुषुप्तिसदृशी माया स्वप्रबोधेन बाध्यते॥१२॥
युक्तिहीनप्रकाशस्य संज्ञा मायेति कथ्यते।
नासती दृश्यमाना सा बाध्यमाना न वा सती॥१३॥

सन्तु स्वरूपेण सत्याः, येन तु स्वरूपेण प्रतिपादकाः, तदसत्यम्, कार्योपयोगरहिता स्वरूपसत्यता व्यर्था। अपि चाभेददर्शनोपायाः अपि न स्वरूपेण मिथ्या, यतो ब्रह्मैवेत्येषां स्वरूपम्। तत्र तत्र ब्रह्मैवाविद्यानुविद्धं ब्रह्मप्राप्त्युपायः यथा रेखागवयादय इति॥१०॥

वस्तुतस्तु असद्विलक्षणत्वमेवार्थक्रियाकारित्वप्रयोजकम्, न सद्रूपवत्त्वम्। अत एव स्वजन्यज्ञाननिवर्त्यानां वेदान्तानामपि सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वात् सदसद्विलक्षणानामपि नार्थक्रियाकारित्वविरोधः। सर्वमिदं मनसि निधायाह–**मिथ्याभूतोऽपी**ति। अयं भावः– 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' इति तृतीयतृतीये (ब्रह्मसूत्रम्-३-३-९) ब्रह्ममीमांसायां सामानाधिकरण्येऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणामध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यत इति प्रतिज्ञाय 'यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः'[1] इति व्यक्तम्। तेन प्रतिमायां विष्ण्वादिबुद्धिर्न सत्येति ज्ञायते। अयमेव न्यायः चित्रादौ प्रतिबिम्बे च। न च चित्रमपि तत्तद्देवतादात्म्येन प्रतिबिम्बं वा तत्तद्बिम्बरूपत्वेन गृह्यमाणं सत्यम्, तथा च प्रतिमानामर्चावताररूपाणां तेन तेन रूपेणोपास्यमानानां तत्तद्भक्तानुग्राहकत्वदर्शनात्, चित्राणामपि तत्तद्व्यक्तिप्रत्यभिज्ञापकत्वात् असत्यादेव सत्यार्थप्रतिपत्तिरिति तत्र नेयम्। अतः असत्यात् सत्यार्थप्रतिपत्तिर्न भवतीति नियमो न सम्भवति। खण्डनखण्डखाद्यन्तु–

"अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः॥"

इति कुत्रापि सत्त्वं न कारणात्मनावच्छेदकमिति विवेचयति। पराक्रान्तं चात्र भामत्यामध्यासभाष्यसिद्धान्तव्याख्यावसरे। अतोऽसत्यात्, असत्यत्वेनानिर्णीताद्वा न सत्यार्थप्रतिपत्तिवादो न युक्त इति भावः॥११॥

इतः परं मायाया लक्षणं लक्षयिष्यन् 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' इति भगवत्पादाध्यासभाष्यमूलकं मायाविजृम्भितत्वं व्यवहारस्योपसंहरति–**सर्वोपी**ति। सुषुप्तिसदृशीत्यनेन जागरिकानामिव स्वाप्निकानामपि मिथ्यात्वं बोध्यते। अन्यत् सर्वं स्पष्टम्॥१२॥

अथ मायाया लक्षणं किमिति प्रश्नस्योत्तरमनुसन्धत्ते–**युक्तिहीनप्रकाशस्ये**ति। तत्र प्रथमं लक्षणं सदसद्भिन्नत्वम्=अनिर्वचनीयत्वम्, असच्चेन्नोपलभ्येत सच्चेन्न बाध्येत इति नियमात्, 'अहमज्ञ' इतिप्रत्यक्षत्वेन प्रतीत्या ज्ञानेन बाध्यमानत्वाच्च, सदसद्विलक्षणत्वम्, तदपरोक्षत्वमपि घटादीनामिव न फलव्याप्यत्वेन, न वात्मवद्वृत्तिव्याप्यत्वेन, किन्तु स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यस्य सम्बन्धमात्रेण। अनुमानमपि

१.द्र. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-३-३-९.

न प्रकाशादियं भिन्ना छायेवार्कस्य तामसी।
न चाभिन्ना जडत्वेन विरोधान्नोभयात्मिका॥१४॥
स्वहेत्ववयवाभावान्नेयं सावयवोच्यते।
न चावयवहीना सा कार्यत्वेष्ववयवान्विता[1]॥१५॥
अविचारितसिद्धेयं मायावेश्याविलासिनी।
पुरुषं वञ्चयत्येव मिथ्याभूतैः स्वविभ्रमैः॥१६॥
न तस्याः मूलविच्छेदमभिवाञ्छन्ति केचन।
तेषां पक्षे कथं मोक्षो मनसः सम्भविष्यति॥१७॥
तिस्रोऽप्यवस्थाः मनसः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
चक्रवत्परिवर्तन्ते भेदभ्रान्त्येकहेतवः॥१८॥

प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्यज्ञानविषय-तदावरकाज्ञानान्तराभावात् तत्र प्रमाणम्। अत उक्तम्–**युक्तिहीनप्रकाशस्येति**॥१३॥

अनेनानुमानेन तस्य भावत्व[2]मात्रं साध्यमिति वर्णनं तु तस्य साक्षिसिद्धत्वं गृहीत्वैवेत्याह–**न प्रकाशादियमिति।** प्रकाशाप्रकाशविलक्षणत्वात्, न प्रकाशेन भिन्ना, प्रकाशव्यतिरेकेणाप्रकाशात्, यथार्कस्य छाया, अत एव तस्याः साक्षिणा भानात्। प्रकाशाभिन्नत्वमप्यत एव न जडत्वात्[3], उभयात्मकत्वं च विरोधान्न युक्तम्॥१४॥

तृतीयं लक्षणमाह– **स्वहेत्ववयवाभावादिति।** अवयव्यवयवभिन्नत्वम्। नावयवी, अवयवाजन्यत्वात्, नानवयवा अनवयवी[4], सत्त्वरजस्तमोगुणानां तद्धर्माणां कार्येष्वनुगमात्॥१५॥

विचारासहत्वं मायायास्तुरीयं लक्षणमाह– **अविचारितसिद्धेयमिति।** असङ्गसंविन्मात्रस्य निर्विशेषस्यापि विशेषापादिकेयमघटितघटनापटीयसी पुरुषमपि वञ्चयत्यनादिकालमारभ्य॥१६॥

नन्वेवं सति तस्याः ज्ञाननिवर्त्यत्वेन न मिथ्यात्वम्, तन्निमित्तानां मिथ्यात्वाभावे तत्प्रयुक्त-सर्वमिथ्यात्वमपि न सम्भवति। अतोऽनित्यत्वमपि न सम्भवतीति शङ्कामनूद्य निरसितुं तत्र शङ्कामनुवदति– **न तस्या इति।** अनेन 'को मोक्षः? केन हेतुना?' इति प्रश्नमनुवदति। तत्रानादित्वादुच्छेदो न भवितुमर्हतीति प्रष्टुराशयोऽभिप्रेयते॥१७॥

अयं प्रश्नो न साङ्ख्यानाम्, तन्मते पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता माया नाङ्गीक्रियते, न वा मीमांसकानां मते,

१. 'सावयवात्मिका' इति लेखे पाठः।

२. 'स्वभावत्व' इति हस्तलेखे।

३. अत्र हस्तलेखे 'प्रकाशाप्रकाशविलक्षणत्वात् न प्रकाशेनाभिन्ना, प्रकाशव्यतिरेकेण प्रकाशात्, यथार्कस्य छाया। अत एव तस्याः साक्षिणा भानादप्रकाशभिन्नत्वमप्यत एव जडत्वात्' इति पाठः।

४.अत्र 'नानवयवा अनवयवी' इत्यस्य स्थाने 'नावयवा अवयव्यजनकत्वात्' इति कश्चिदन्यो वा तादृशःपाठो भवेत्।

बन्धाभावोपपादनम्

ताभिः करोति कर्माणि पुनस्तैर्बध्यते मनः।
मनसः केवलः साक्षी भानुवत् पुरुषः परः।।१९।।
यथा प्राणिकृतैरर्कः कर्मभिर्नैव बध्यते।
तथा मनःकृतैरात्मा साक्षित्वान्नैव बध्यते।।२०।।

अन्यत्र वा, द्वैतमतातिरिक्ते, तथाप्यद्वैत एवायमाक्षेपः कथमविद्याया निवृत्तिर्भवति? तन्मते हि ब्रह्मविद्यया-ऽविद्याया उच्छेदः, तत्र तन्निवर्तकं तु पूर्वोक्तविधया तुरीयात्मतत्त्वविज्ञानमेवेति वक्तव्यम्। न च तत्सम्भवतीत्याह– **तिस्रोपीति**। तुरीयात्मानुभवो हि न जाग्रदादिषु त्रिषु जीवस्य भवति, किन्तु तुरीयावस्थान्तर इति वक्तव्यम्। तदानीं हि जीवस्य जीवत्वमेवापेयात्, जाग्रदाद्यवस्थावत्त्वं किल जीवलक्षणम्। अतो यस्य बाधो जीवस्य , स एवापैति तदभिमतमोक्षावस्थायामिति नाविद्योच्छेदलक्षणो मोक्षः सम्भवतीति भावः। अतो मनस इति सुषुप्तौ सूक्ष्मकारणरूपतामभिप्रेत्य, इति न विरोधः। अथवा स्थितप्रज्ञावस्थायां मनोऽपि वर्तते, इति तदीयसुषुप्त्यभिप्रायं मनस इति।।१८।।

इमं प्रश्नमुत्तरीतुकामः तदुपोद्घाततया कस्य बन्धः? केन हेतुना बध्यते? इति प्रश्नं समाधत्ते– **ताभिरिति**। अनेन जाग्रदाद्यवस्थासु मनोऽभिमानेनाध्यस्ताहम्भावेन वा तत्तदवस्थायां क्रियमाणैः कर्मभिर्वा बन्धः, स च जाग्रदाद्यवस्थावतो जीवस्य इत्युक्तः प्रश्नः समाधीयेत।।१९।।

तत्र यदि जाग्रदाद्यवस्थायाश्चक्रवत् परिवर्तनम्, तदा क्रियमाणकर्मभिर्जीवस्य बन्धः, तर्हि कथं तस्य मोक्षः? यावज्जीवत्वं तस्य जाग्रदाद्यवस्थयानुपरमात्, बन्धस्यापि चक्रवत् परिभ्रमणादित्याशङ्कायां कस्य मोक्ष? इति प्रश्नं पूर्वोक्तं समाधत्ते– **यथेति**। सत्यं मनःकृतैः कर्मभिस्तादात्म्याध्यासादात्मगतैरिव मन्यमानैर्जीवस्य बन्धो भवति, परन्त्वात्मानात्मसंवलितस्य मिथ्याभूतस्याहमर्थस्य तत्तदुपाधिविरह एव मुख्यात्मत्वं नापैति, घटाकाशमहाकाशन्यायेन, समस्तोपाधिभेदप्रयुक्तमायाकल्पितजीवस्य बन्धस्तुरीया-त्मानुभवेऽपगच्छति। अतो जीवस्याहमर्थस्यैव बन्धस्य कल्पितत्वेऽपि तदसङ्गमेन मुक्तस्य जीवस्य न बन्धः, ततश्चास्यैव मोक्ष इति। स चोपपद्यत एव। तत्त्वसाक्षात्कारश्च स्वप्नजागरयोः सुषुप्ताविव सर्वोपाधिविरमे[1] सम्भवति इति न चक्रवत् परिभ्रमणं जाग्रदादीनाम्, न वा कर्मणां बन्धकानामिति भावः।

प्राणिकृतैः कर्मभिः सूर्य इव साक्ष्यात्मापि न बध्यते, केवलं तत्तत्कर्मद्रष्टृत्वेन साक्षिमात्रत्वादात्मनः। यथा सर्वसाक्षी सहस्रांशुः केवलं द्रष्टा, न कर्ता कारयिता वा, तद्वदेव साक्षी सन्निधानमात्रेण साक्ष्येवेति भावः। सर्वमिदं गौडपादकारिकायाम्–

"कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुद्ध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः।।
विकरोत्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।

१.इतः परं उपरमे इत्यधिकः पाठो हस्तलेखे।

आत्मा करोति कर्माणि बध्यते मुच्यते च तैः।
इत्यौपचारिकी क्लृप्तिर्भ्रममात्रैव केवलम् ।।२१।।
धूमाभ्रधूलीनीहारैरस्पृष्टोऽपि दिवाकरः।
यथा छन्न इवाभाति तथैवात्माऽपि मायया।।२२।।
यथा लीलावशात् कैश्चिद् भ्राम्यमाणः कुमारकः।
भ्रमत्तत्पश्यति जगच्छतचन्द्रं नभस्थलम्।।२३।।
तथैव मायया जीवो भ्रामितो वासनावशात्।

नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः।।
चित्तकाला हि येऽन्तस्तु दृश्यकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः।।
अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः।।
निश्चितायां यथा रज्जौ विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः।।" इति।

इति व्यक्तम्। तथा च मायाकल्पितप्रमातृताद्यवस्थायां बन्धः, अद्वयतुरीयात्मस्वरूपनिश्चये त्वविद्याकल्पित-सर्वोपाधिनिवृत्त्या जीवस्यैव मोक्ष इति भावः। सति चैवं तत्त्वज्ञानोपहितश्च तुरीयात्मतत्त्वसाक्षात्कारवान् स्वप्ने जागरे वा स्थितप्रज्ञो जीवन्मुक्तः कारणशरीराज्ञाननिवृत्त्युपलक्षितवस्तु[1]मुख्यात्मा मुक्त इति निष्कर्षः।।२०।।

एवञ्चात्मैव कर्म कुर्वाणो विशिष्टे बध्यते। स एवात्मज्ञानोपहितो[2] मुच्यत इति निष्कृष्टमर्थं तावदुप-क्षिपति– **आत्मेति**। आत्मनः कर्तृत्वमौपाधिकमेव न तु मुख्यम्। सति चैवं तत्र कर्तृत्वबुद्धिः केवलं भ्रममात्रमिति भावः।।२१।।

साक्षित्वे च यथा सूर्यस्य धूमधूलिनीहारैः स्पृष्टस्यापि न तैः सम्बन्धः, एवमेवात्मनोऽपि कर्तृत्वादेरध्यास-मात्रेण भ्रमत्वात् तत्र न सम्बन्धः। तथा चाध्याससमर्थनानन्तरं भाष्यम् 'तत्रैवं सति तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाणुमात्रेणापि न सम्बध्यते' इति। तमिममर्थमाह–**धूमाभ्रेति**। स्पष्टोऽर्थः।।२२।।

ननु चक्रवत्परिवर्तमानेषु जाग्रदादिषु क्रियासमभिव्याहारेण संसारचक्रे बन्धाय सम्भ्रममाणो जीवः कथं न दोषैरणुमात्रेणापि न सम्बध्यत इत्याशङ्क्य शङ्कामिमां निदर्शनप्रदर्शनेन समाधत्ते– **यथेति**। यथा माणवकः लीलावशाद् भ्राम्यमाणो जगदपि तत्र भ्रमत् पश्यति, शतचन्द्रनभस्तलं च, तथैव जीवो मायावशात्

१.अत्र 'तदुपहितश्च तुरीयात्मतत्त्वसाक्षात्कारवत् स्वप्ने जागरे वा स्थितप्रज्ञो जीवन्मुक्तः कारणशरीरज्ञानोपलक्षितवस्तु' इति हस्तलेखे पाठः।

२.अत्र 'एवात्मनाप्युपहितो' इति हस्तलेखे पाठः।

नानाकारमिदं विश्वं भ्रममाणं न पश्यति॥२४॥

संसृज्य मनसा देवः संसरन्निव लक्ष्यते।

यथार्को जलसंसर्गाच्चलन्नानेव लक्ष्यते॥२५॥

योगस्य जीवन्मुक्तिसाधनता

योगाभ्यासवशाद्येन मनो निर्विषयं कृतम्।

निवृत्तः स पुमान् सद्यो जीवन्मुक्तो भविष्यति॥२६॥

द्वासुपर्णौ च सयुजावभवन्मायया शिवः।

अजामेकां जुषन्नेकः नानेवासीदिति श्रुतिः॥२७॥

भ्रामितो वासनावशात् नानाकारमिदं विश्वं भ्रममाणं पश्यति, संसृज्य च तेन संसरन्निव लक्ष्यते, यथाऽर्को जलसंसर्गाच्चलन्नानेव लक्ष्यते, जलगतं सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति, जलचलनेन चलति, जलभेदे भिद्यते। एवं जलधर्मानुगामी भवति, न तु परमार्थतः सूर्य एव तथात्वमस्ति। एवं परमार्थत एकरूपमपि परात्मतत्त्वं देहाद्युपाध्यन्तर्भावात् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन्, तेनात्मानमप्युपाधीनिव नानाकारान् पश्यति मायया मूढः, नानाजन्मसु नानारूपान् देहादीन् पश्यत्यात्मानमपि मायया मोहितो नानाकारं पश्यतीति॥२३-२५॥

अत्रायं पर्यनुयोग उत्तिष्ठति—कथं वा तत्रापि तत्तत्कर्मवशेन मायामोहितस्य नानाकारस्यैव दृश्यमानात् पारमार्थिकैकरूपस्य स्वरूपावाप्तिर्देहाद्युपाधिविलयेन, येन मोक्षः स्यात्? इति, तदुपायश्च कः? इति तदुपायं दर्शयति— **योगाभ्यासवशादिति**। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसूत्रम्-१-२,३) इति सूत्रान् मनसो निर्विषयीकरणमेवात्मनः स्वस्वरूपप्राप्तावुपायः, तेन च सर्वेभ्य उपाधिभ्यो निर्मुक्तो जीवन्मुक्तो भवति स्थितप्रज्ञो वा पञ्चमादिभूमिकामारूढः। तदानीं हि स आत्मानमेतावत् पर्यन्तं मायया विभ्रान्तं पश्यति, तेन च तत्र सर्वतो निवृत्तिर्भवति। अमुमेवार्थं मनसि निधाय भगवत्पादा मायाविभ्रामितमात्रं तत्तदात्मना पश्यन्तमुपसंहरति। तेन यतो दक्षिणामूर्तिर्योगारूढमात्मानं निगलितोपाधिं पश्यति, ततो ज्ञायतेऽतीतावस्थां मिथ्यात्वावस्थां वा स पश्यन्नासीदिति। अत एवात्र योगाभ्यासादुपाधिनिर्मोकमपि मानसोल्लास उल्लासयति। श्लोकेनानेन तत्सङ्कलनं सङ्गतं भवति। अतो नात्राप्रसक्तार्थानुसन्धानं मानसोल्लासस्य॥२६॥

उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं मानसोल्लासो विवेचयति—**द्वा सुपर्णेति**। तत्र प्रमाणं द्वे श्रुती—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"इति।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" इति।

तत्राद्यायां मायया जीवस्य द्वे रूपे=बन्धमोक्षावस्थारूपे, तत्रानश्नन्नन्यः इत्यनेन मुक्तस्वरूपावस्था

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे अष्टमोल्लाससङ्ग्रहः।।२८।।
।।इति श्रीमानसोल्लासे अष्टमोल्लासः।।

यत्र प्रकाशः, बद्धरूपस्य तु तत्तदुपाध्युपहितस्यावरणेनाप्रकाशश्च साध्यते, तेनावरणनिवृत्त्यनन्तरमेव मोक्ष इति ज्ञाप्यते। अयमेव न्यायः 'अजामेकाम्'इत्यत्रापि। तत्राप्येकस्यैवोपाध्युपधानानुपधानाभ्यां रूपभेदः, उपहितो भोक्ता, अनुपहितोऽभोक्तेति। तथा चोपाध्युपधानादात्मनो भेदः कल्पितः, तदनुपधानदशायां त्वभेदः। आद्यावस्था बन्धावस्था, द्वितीया तु मोक्षावस्थेति विवेकः।।२७।।

इति प्रथमादिसप्तमान्तश्लोकार्थस्य विशदीकरणमात्रमनेन श्लोकेन क्रियते। अयं यथापूर्वमष्टम-श्लोकार्थसङ्ग्रहोपसंहारः– इतिश्रीति।

अष्टमे श्लोके विश्वपरमात्मनोः कार्यकारणभावादि निर्दिश्यते, इदं त्वद्वैतसिद्धान्तविरुद्धम्, प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं युक्तम्। अतोऽत्र प्रत्यभिज्ञादर्शनमित्यमरनाथादयः।

तत्रायं निर्णयः– यदद्वैतमतेऽपि कार्यकारणभावादिः सर्वोऽपि विश्वपरमात्मनोर्वर्तत एव। परन्तु मायापरिभ्रामित इति विशेषणात् सोऽध्यासनिबन्धनो विवर्तवादाभिप्राय एवेति न व्याघातलेशोऽपि। इदमत्र मानसोल्लासेनाप्यत्र ज्ञाप्यते। स यथा–

"तस्मात्प्रकाश एवास्ति परमार्थनिरूपणे।
भेदप्रतीतिर्मिथ्यैव माययात्मनि कल्पिता।।
मिथ्यात्वं नाम बाध्यत्वं सम्यग्ज्ञानोदये सति।
शिष्याचार्योपदेशादि स्वप्नवत् प्रतिभासते।।
न तस्याः मूलविच्छेदमभिवाञ्छन्ति केचन।
तेषां पक्षे कथं मोक्षो मनसः सम्भविष्यति।।
तिस्रोऽप्यवस्थाः मनसः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
चक्रवत्परिवर्तन्ते भेदभ्रान्त्येकहेतवः।।
ताभिः करोति कर्माणि पुनस्तैर्बध्यते मनः।
मनसः केवलः साक्षी भानुवत् पुरुषः परः।।"

अत्र च मिथ्यात्वं 'मायापरिभ्रामितः'इत्यनेन ज्ञाप्यत इति नायमस्य श्लोकस्याविषयः, तस्यातिदूरत्वात्[१]। अयञ्चार्थः– 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं, ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' इतिभाष्येण, साक्षात्–

'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्।।' इति साम्प्रदायिककारिकाद्वारापि व्यक्तीक्रियते।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यामष्टमी वर्धिनी।।

१.तस्यातिदूरे वा इति पाठो हस्तलेखे।

ॐ

अथ मानसोल्लासे

नवमोल्लासः

ईशोपासनायाः मायानिवृत्त्युपायत्वम्

कथमेवंविधा माया निवर्तेतेति पृच्छतः।
ईश्वरोपासनारूपस्तदुपायः प्रकीर्त्यते।।१।।

अष्टविधप्रत्यक्षमूर्तीनामुपासना

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपासु परमेश्वरमूर्तिषु।
प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते सर्वैरप्यष्टमूर्तयः।।२।।

एतावता मायाविजृम्भणेन मनसो बन्धः, योगाभ्यासेन मनसो निरोधेन निर्मनस्कता च प्रतिपादिता। मायानिवृत्तिश्च केनेति न विवेचितमिति तन्निवर्तकनिरूपणार्थं नवमश्लोक इति मानसोल्लास अवतारयति- **कथमिति**। अत्रेश्वरोपासनाशब्देन प्रमाणतन्त्रा वस्तुतन्त्रा श्रवणादिनिबन्धना च निदिध्यासनाख्या दर्शनसमानाकारा स्मृतिधाराख्या प्रतिपत्तिर्विवक्ष्यते, यन्निबन्धन आत्मसाक्षात्कारो द्रष्टव्यपदार्थः 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यत्र निदिध्यासनातिरिक्तो ब्रह्मसिद्ध्या मन्यते, न तु पुरुषतन्त्रा। तस्याः पुरुषतन्त्रायाः प्रमाणजन्यवृत्तिविज्ञानरूपत्वाभावात् तत्सहकृतमनोजन्यसाक्षात्कारासम्भवाच्चाविद्यानिवृत्तिर्न स्यात्। तत्रेश्वरशब्देनाज्ञानोपहितस्य विवक्षणात्, वृत्तेश्चाज्ञानस्थाने उपाधिरूपतयोपधानमात्रत्वेन तस्या स्वाविषयतया स्वरूपमात्रविषयकत्वेनोपहितान्याविषयकत्वविशिष्टोपहितविषयकत्वादविद्यानिवर्तकत्वमव्याहतम्।।१।।

एतेन शाब्दापरोक्षवादो मण्डनस्येव सुरेश्वरस्याप्यनभिमत एव इति सूच्यते। तच्चोपासनं सर्वस्य जगत आत्मतत्त्वात्मनानुसन्धानैकनिर्वाह्यम्। तच्चात्मव्यतिरेकेण सर्वाभावपर्यवसितसर्वात्मत्वानुसन्धानरूपम्। न चेदं सर्वस्य जगतः पुरोवस्थितत्वम्, सर्वत्र मनोव्यापारं वा विना सम्भवति, इति सर्वेषां युगपदेव सर्वात्मात्मनानुसन्धानप्रकारार्थं सर्वस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मना षट्त्रिंशत्तत्त्वानां पृथिव्यप्तेजोवायुसूर्याकाश-चन्द्रयजमानाष्टमूर्तावन्तर्भावेन, तदात्मना, तत्राप्यण्डे स्थितं पिण्डेऽपि विद्यत इति स्वशरीरान्तर्गत-तद्रूपेणानुसन्धानसम्भवात् तदुपादानार्थमाह- **षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपास्विति**। षट्त्रिंशत्तत्त्वानि द्वितीयश्लोक-व्याख्यायां मानसोल्लासोल्लिखितरीत्या।

"भूतैस्तु पञ्चभिः प्राणैश्चतुर्दशभिरिन्द्रियैः"

इति चतुर्विंशतितत्त्वानि साङ्ख्यशास्त्रे,

"महान् कालः प्रधानञ्च मायाविद्ये च पूरुषः।

अनुमेयासु न मनः क्षिप्रमारोहतीत्यतः।
मूर्त्यष्टकमयीं ब्रूते गुरुः सर्वात्मभावनाम्।।३।।

भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमा-
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्।
नान्यत् किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्माद्विभोः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।९।।

अस्यैवं सिद्धान्तः–

विराट्छरीरे ब्रह्माण्डे प्राणिनामपि विग्रहे।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसङ्घातः सर्वत्राप्यनुवर्तते।।४।।

इति पौराणिकाः प्राहुः त्रिंशत्तत्त्वानि तैः सह।।
बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्।
षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागमविशारदैः।।" इत्युक्तानि।

तत्र प्रधानं महान्, अहंतत्त्वं, पुरुषश्च साङ्ख्यसम्मतानि तत्त्वानि, यत्रैकादशेन्द्रियाणि इति पञ्चविंशतितत्त्वानि साङ्ख्यमते, इति साङ्ख्यादवान्तरविभागोऽपि वर्तते। पातञ्जलमतमीश्वरतत्त्वमपि सङ्गृह्णातीति त्वन्यदेतत्।।२।।

अत्राष्टमूर्तयः– पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि भूतानि, सूर्यः, चन्द्रः, यजमान इत्यष्टौ। तत्र षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु चन्द्रसूर्ययोस्तेजस्येवान्तर्भावः, यजमानस्य तु पुरुषेऽन्तर्भाव इति मन्तव्यम्। षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु बहूनि परोक्षाणि सूक्ष्माणि च वर्तन्ते इति तेषां प्रत्यक्षत्वादनुसन्धानासम्भव इति कृत्वाऽष्टमूर्तीनामेवानुसन्धानं विवक्षितमित्याह– **अनुमेयास्विति**। सर्वात्मभावनाम्=सर्वात्मतयाऽऽत्मतत्त्वभावनाम्। 'सदेव सोम्येदम्' इति सर्वात्मतया भावनाया एवात्मतत्त्वध्यानोपायत्वबोधनात्। अध्यारोपापवादनमेव हि निर्विशेषात्मतत्त्वानुसन्धानमज्ञाननिवर्तकमिति सर्वात्मनानुसन्धानमत्र द्वारमिति भावः।।३।।

तदेवमवतार्य व्याख्येयं श्लोकं निर्दिशति– **भूरम्भांस्येति**। सर्वात्मनानुसन्धानं स्वव्यतिरेकेण सर्वभावानुसन्धानमेवेति बोधयितुं 'नान्यत् किञ्चन विद्यते विमृशतः' इत्युक्तम्।[1]

तत्राष्टमूर्तीनामपि तत्तद्देशगतानां बहूनामनुमेयत्वात् न प्रत्यक्षत्वम्, अनुसन्धानयोग्यत्वं वेति पुनः शङ्कायाम्– 'अण्डे यदस्ति तत्सर्वं पिण्डेऽपि' इत्याभाणकं मनसि निधाय तासामपि स्वशरीर एव सत्त्वात् तेन प्रत्यक्षत्वसम्भवाच्च सर्वात्मत्वेनात्मानुसन्धानं सम्भवतीत्याह–**विराट्शरीर** इति। व्यष्टिसमष्ट्यो-

१.भूः, जलं, अग्निः,वायुः,आकाशं, दिनपतिः सूर्यः, चन्द्रमाः, पुमाँश्च इतिरीत्या सर्वमपि चराचरात्मकं यस्यैव मूर्त्यष्टकं अस्ति, विचारे कृते यस्मात् परस्मात् विभोः किञ्चनान्यत् न विद्यते,तस्मै गुरुमूर्तिस्वरूपिणे श्रीदक्षिणामूर्तये विद्यते मदीयो नमस्कारः, तं श्रीदक्षिणामूर्तिमहं प्रणमामि– इति प्रकृतश्लोकस्यार्थः।

व्याप्तिर्व्यष्टिशरीरेऽस्मिन् मनसो व्यष्टिरूपिणः।
तस्मात्सर्वात्मकमिदं स्वशरीरे[1] विचिन्तयेत्॥५॥
व्यष्ट्युपासनया पुंसः समष्टिव्याप्तिमाप्नुयात्।
उपसङ्क्रामतीत्येवं दशकृत्व उपादिशत् ॥६॥
ब्रह्माण्डस्योदरे लोकाः सप्त भूरादयः स्मृताः।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तेष्वाधारेषु वसन्ति ते॥७॥
वीणादण्डो महामेरुरस्थीनि कुलपर्वताः।
गङ्गा तु पिङ्गला नाडी यमुनेडा प्रकीर्तिता॥८॥
सरस्वती सुषुम्नोक्ता नाड्योऽन्याः पुण्यनिम्नगाः।
द्वीपाः स्युर्धातवः सप्त स्वेदबाष्पादयोऽब्धयः॥९॥

रवयवावयविनोरिवाभेदात् समष्टिशरीरे समष्ट्यात्मनेव व्यष्टिशरीरे तान्येव व्यष्ट्यात्मना वर्तन्त इति भावः। अत्र व्यष्टिसमष्ट्योरभेदः शाबरभाष्यगतवनवादो[2]क्तरीत्याऽवयवातिरिक्तावयव्यभावेन वा व्यष्टिशरीरे समष्टिशरीरस्यान्तर्भावः॥४॥

ननु कथं व्यष्टिशरीरे समष्टिशरीरावयवानां मनसानुसन्धानं भवतादिति चेत्? अत्राह– **व्याप्तिरिति**। स्पष्टोऽर्थः॥५॥

तत्र व्यष्ट्युपासनायाः समष्ट्युपासने द्वारत्वमाह– **व्यष्ट्युपासनयेति**। तैत्तरीयोपनिषदि अन्नमयाद्युपसङ्क्रमणं दशवारं श्रुतम्, तत्र प्रथमं व्यष्ट्युपासनाभिप्रायं, द्वितीयं समष्टिप्राप्त्यभिप्रायमिति विवेकः॥६॥

तत्र सप्तानां लोकानां ब्रह्माण्डान्तर्गतानां व्यष्टिशरीरं मूलाधारादि ब्रह्मरन्ध्रान्तं स्थानमित्याह– **ब्रह्माण्डस्येति**॥७॥

अथ शरीरावयवेषु कुत्र कुत्र कस्य दृष्टिराधेया? इत्यत आह–**वीणादण्ड** इति। वीणादण्डे पृष्ठवंशे महामेरुदृष्टिः, अस्थिषु कुलपर्वतदृष्टिश्च कर्तव्येत्यर्थः॥८॥

अतः परं सुषुम्नादिषु नाडीषु, मूलाधारादिषु कस्य कस्य दृष्टिः कर्तव्येत्याह– **सरस्वतीति**। शरीरेस्मिन् कठिनांशः पृथिवी, द्रवांश आपः, उष्णांशस्तेजः, प्राणापानादिर्वायुः, सुषिरंश आकाशः, शोणितम्, मांसः, मेदः, स्नायुः, अस्थि, मज्जा, शुक्रमिति सप्तधातवो व्यष्टिरूपाः तेषु यथायथमुक्तेन प्रकारेण ततः समष्टिरूपमनुसन्धेयम्। तत्र भूर्लोकः पादयोः, भुवर्लोकः जानुनि, स्वर्लोकः कटिप्रदेशे, नाभिदेशे महर्लोकः, जनलोकस्तु हृदये, कण्ठे च तपोलोकः, भ्रुवोर्ललाटयोर्मध्ये सत्यलोक इति सप्तलोका इत्याद्यप्यनुसन्धेयम्।

१.स्वशरीरमिति मैसूरसंस्करणे पाठः।

२.यथा वनवृक्षयोः कश्चन भेदो न भवति, ये एव वृक्षास्ते एव सङ्कलिताः सन्तः वनेतिपदभाजः भवन्ति। तथैवात्रापि।

मूले तिष्ठति कालाग्निरस्थिमध्ये च बाडवः।
वैद्युतोऽग्निः सुषुम्नायां पार्थिवो नाभिमण्डले॥१०॥
हृदि तिष्ठति सूर्याग्निः कपाले चन्द्रमण्डलम्।
नक्षत्राण्यपराण्याहुः नेत्रादीनीन्द्रियाण्यपि॥११॥
धार्यन्ते वायुभिर्लोकाः यथा प्रब्रहणादयः[1]।
प्राणादिभिर्दशविधैर्धार्यते वायुभिर्वपुः॥१२॥
प्राप्येडापिङ्गले प्राणः मूलात् सूर्यस्वरूपतः।
नासिकाभ्यां बहिर्गत्वा लीयते द्विषडङ्गुले॥१३॥
अष्टाङ्गुलेन सोमात्मा नाडीभ्यामन्तराविशन्।
मलमूत्रमरुच्छुक्राण्यपानो विसृजेद्बहिः॥१४॥
अग्नीषोममयो भूत्वा सुषुम्नारन्ध्रमाश्रितः।
आब्रह्मरन्ध्रमुद्गच्छन्नुदानो वर्धते स्वयम्॥१५॥
व्यापयेद्वपुषि व्यानः भुक्तान्नरसमन्वहम्।
सन्धुक्षणं समानस्तु कायाग्नेः कुरुते सदा॥१६॥

येन पृथिवीतलमनुसंहितम्। सर्वमपरं स्पष्टम्। इत्थं तत्र तत्रेडापिङ्गलासुषुम्नाः, अन्या नाड्यश्च तत्तन्नदीरूपेण ध्येया, येन जलतत्त्वमुपासितं स्यात्। अतस्तत्त्वानुसन्धानप्रकारस्तु 'मूले तिष्ठति कालाग्नि'रिति श्लोकेन सङ्गृहीतः॥९-११॥

अथ वायुतत्त्वानुसन्धानप्रकारमाह—**धार्यन्त** इति॥१२॥

तत्र प्राणस्य गत्यागतिप्रकारमाह— **प्राप्य** इति। श्वासस्य नासिकातो बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं गतिः, इडापिङ्गलयोर्नासिकायां बहिर्गमनं लयश्च॥१३॥

अथापानवायुगतिप्रकारो यथा— **अष्टाङ्गुलेनेति**। नासिकातो बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं गतस्य मूलाधारादष्टाङ्गुलपर्यन्तं गमनागमनावस्थायां प्राणस्यैवापान इति नाम, कार्यं तु तस्य मलादिविसर्जनम्॥१४॥

अथ छान्दोग्यानां दृष्ट्योदानस्य तृतीयत्वादुदानगतिप्रकारं, तत्कार्यं चाह— **अग्नीषोममय** इति। सुषुम्नारन्ध्रमार्गतः प्राणो यदा ब्रह्मरन्ध्रमुद्गच्छन्निव वर्धते, तदा तस्योदान इति नाम॥१५॥

अतो व्यानसमानगतिप्रकारमाह— **व्यापयेदिति**। यावच्छरीरं व्यापनं व्यानकार्यमुक्त्वा समानकार्यं समानगतिमाचक्षते जाग्रद्दशायामग्नेः सन्धुक्षणमिति॥१६॥

पञ्चानां प्राणानां प्रधानानां गत्यागतिप्रकारादि विविच्य तेषामवान्तरभेदानां नागादीनां कार्याण्याह—

१.प्रवहणादिभिरिति मैसूरसंस्करणे पाठः।

नागो हिक्काकरः कूर्मो निमेषोन्मेषकारकः।
क्षुतं करोति कृकरः देवदत्तो विजृम्भणम्।।१७।।
स्थौल्यं धनञ्जयः कुर्यात् मृतं चापि न मुञ्चति।
आकाशो बहिरप्यन्तरवकाशं प्रयच्छति।।१८।।
चन्द्रार्कौ कालनेतारौ प्राणापानौ शरीरिणाम्।
साक्षी पुरुष इत्येवं मूर्त्यष्टकमिदं वपुः।।१९।।

अष्टाङ्गयोगः

समनस्कमिदं योगी सेवमान उपासकम्।
अष्टाङ्गयोगयुक्तः सन्नमनस्कं स गच्छति।।२०।।

यमनिरूपणम् [1]

मनःप्रसादः सन्तोषः मौनमिन्द्रियनिग्रहः।
दयादाक्षिण्यमास्तिक्यमार्जवं मार्दवं क्षमा।।२१।।

नाग इति। अनेन ज्ञाप्यते– प्राणोत्क्रमणकाल एव धनञ्जयस्य न गतिः, प्रेतशरीरेऽपि स्थौल्यदर्शनात्, अन्यानि तु प्राणकार्याणि प्रेतशरीरे न दृश्यन्ते।।१७१/२।।

अथाकाशतत्त्वं शरीरान्तर्गतमाह–**आकाश** इति।।१८।।

चन्द्रार्कतत्त्वे तु प्राणापानौ शरीरिणां कालं नयतः, तथा च प्राणापानगतिभ्यां श्वासनिःश्वासाभ्यां जीवनकालव्यवस्था, तत्र श्वासनिःश्वासयोः सङ्ख्याह्रासवृद्धिभ्यां जीवनव्यवस्था, अन्यथा तु वयसोऽपि ह्रासादिक्रमः। ततः प्राणायामादिना प्राणायामगतिनिरोधे योगिनां वयोवृद्धिः, तदानीमायुषोऽप्याधिक्यमत एव दृश्यते। अतः पुरुषतत्त्वस्याष्टमूर्त्यन्तर्गतस्य कार्यं तत्तत्कार्यद्रष्टृत्वमात्रमित्याह–**चन्द्रार्कौ**विति। तदेवं समष्टिरूपपार्थिवादितत्त्वानां व्यष्टिशरीरदृष्ट्याऽऽत्मनः सर्वात्मानुसन्धानक्रमो वर्णितः।।१९।।

अथेश्वरोपासनारूपं मायानिवर्तकमुपासनप्रकारं विवेचयित्वा योगाभ्यासकाले–

"योगाभ्यासवशाद्येन मनो निर्विषयीकृतम्" (८-२६)इति।

तदुपायं निर्मनस्कतासाधनं योगाभ्यासं विभजते–**समनस्कमिदमिति**। सर्वात्मतोपासने विश्वस्य सत्यत्वेन ग्रहणात्, तत्केवलोपासनायां न पर्यवस्यति, मनसो हि बहिर्व्यापारादीनामनुपरमात्। न च तदुपरामं

१.योगसूत्रे तु 'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाःयमाः' (२-३०) इतिरीत्या यमाः निरूपिताः। अत्र तु प्रकारान्तरेण ते सत्यं विहाय सङ्गृहीता एव केचनान्येऽपि मनःप्रसादादयोऽपि गृहीताः इति योगसूत्रादस्य विशेषः। योगसूत्रे तावत् 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'(२-३२) इतिकृत्वा नियमाः सङ्गृहीताः। अत्र त्वेषः विशेषो यत् तत्रत्याः विभिन्नाः नियमा अपि शौचतप आदीन् विहाय यममध्ये परिगृहीताः। वस्तुतो यमानां सामान्यलक्षणं मनःसाध्यत्वम्, नियमानाञ्च कायसाध्यत्वमिति निदर्शनमत्र विहितं मनःप्रसादस्नानादेः परिगणनद्वारा।

भावशुद्धिरहिंसा च ब्रह्मचर्यं स्मृतिर्धृतिः।
इत्येवमादयोऽन्ये च मनस्साध्या यमाः स्मृताः॥२२॥

नियमनिरूपणम्

स्नानं शौचं क्रतुस्सत्यं जपो होमश्च तर्पणम्।
तपो दानं तितिक्षा च नमस्कारः प्रदक्षिणम्॥२३॥
व्रतोपवासाद्याश्चान्ये कायिकाः नियमाः स्मृताः।

आसननिरूपणम्

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं हंसाख्यं ब्राह्ममासनम्॥२४॥
नृसिंहं गरुडं कूर्मं नागाख्यं वैष्णवासनम्।
वीरं मयूरं वज्राख्यं सिद्धाख्यं रौद्रमासनम्॥२५॥
योन्यासनं विदुश्शाक्तं शैवं पश्चिमतानकम्।
निरालम्बनयोगस्य निरालम्बनमासनम्॥२६॥
निरालम्बतया ध्यानं निरालम्बः सदाशिवः।

विना केवलात्मोपासनमविद्यानिवर्तकमात्मानं लभते। अतो योगाभ्यासाङ्गम्, तदुपायो वाऽनेन प्रतिपाद्यते। अतो मूर्त्यष्टकात्मनोपासनोपयोगसिद्धय आध्यात्मिकानि योगाङ्गानि कानि कानीति दर्शनीयानि। तत्र योगाङ्गान्यष्टौ। तानि यथा– यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र यमस्यावान्तरविभागः सन्तोषः, इन्द्रियनिग्रहः, दया, दाक्षिण्यम्, आर्जवम्, क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्यम्, धृतिरित्यष्टविधाः नियमाः॥२०॥

तेषामाध्यात्मिकानामुपासनाङ्गतयाऽनुष्ठेयानां स्वरूपाण्याह–**मनःप्रसाद** इति। मनःप्रसादमौनदाक्षिण्यार्जवक्षमाऽहिंसाब्रह्मचर्यधृतयो मनःसाध्याः, प्रसादमौनाद्यतिरिक्तं किमपि विना नोपासनासिद्धिरिति भावः॥२१-२२॥

अथ नियमा मनःसाध्याः विभजनीयाः, ते च कायिका एवेति तान् विभजते–**स्नानमिति**। योगाभ्यासकाले कर्मणामुपासनासिद्धिपर्यन्तमनुष्ठानं कर्तव्यमेव। अनेन ज्ञाप्यते संयोगपृथक्त्वन्यायेन कर्मणामप्युपासनेन साक्षात्कारपर्यन्तमनुष्ठानं कर्तव्यम्। न तु श्रवणकाल एव संन्यासः स्वीकर्तव्य इति मण्डनसिद्धान्त[1] एव सुरेश्वरस्यापि सम्मतः। तदनुषङ्गतः शाब्दापरोक्षवादोऽपि। विशदं चैतत् ब्रह्मसिद्धौ, तद्भूमिकायाञ्चास्मदीयायाम्॥२३^1/२॥

अथासनानि विभजते– **स्वस्तिकमिति**। इम आसनप्रकाराः गुरूपदेशगम्याः पद्मवज्रासनादयः केचन योगोपनिषत्सु निर्दिष्टाः। निरालम्बनतया भानन्तु सर्वात्मत्वपरित्यागेन शुद्धात्मानुसन्धानम्। यत्तु प्रथमश्लोके

१.द्रष्टव्यः– अद्वैतब्रह्मसिद्धौ नियोगकाण्डः।

प्राणायामनिरूपणम्

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकःप्राणसंयमः॥२७॥

प्रत्याहारनिरूपणम्

इन्द्रियाणां समस्तानां विषयेभ्यो निवारणम्।
प्रत्याहार इति प्रोक्तं प्रत्याहारार्थवेदिभिः॥२८॥

धारणानिरूपणम्

आधारे क्वापि मनसः स्थापनं धारणोच्यते।

ध्याननिरूपणम्

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां चिन्ता ध्यानं प्रचक्षते॥२९॥

'यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्' यदमनस्कतावस्थामात्रफलरूपम्॥२४-२६१/२॥

प्राणायामं योगस्य तुरीयमङ्गं विभजते–रेचक इति। प्राणायामस्त्रिविधः- रेचकः, पूरकः, कुम्भक इति। तत्र पूरकः, कुम्भकः, रेचक इति केचन। रेचनप्राथम्ये तु रेचकानन्तरं कुम्भकस्यासम्भवात् रेचकः, पूरकः, कुम्भक इति क्रमेणैव प्राणायामः। वायुमापूर्य..पूरयित्वोदरस्थितम्[१]। तत्र रेचकादिस्वरूपं योगचूडामण्युपनिषन्निर्दिष्टं यथा–

"षड्विंशदङ्गुलिर्हंसःप्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेच्च यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्॥
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः॥
मात्रा द्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ॥
पूरकं द्वादशं कुर्यात् कुम्भकं षोडशं भवेत्।
रेचकं दश चोङ्कारः प्राणायामः स उच्यते॥
अधमे द्वादशमात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥
अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥"इति।

पूरककुम्भकरेचकक्रमोऽधमानां मध्यमानामुत्तमानान्तु रेचकपूरककुम्भकक्रमेण। अत एव–

१.अत्र लेखे काचन त्रुटिर्विद्यते।

समाधिनिरूपणम्

ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरभिधीयते।
अमनस्कसमाधिस्तु सर्वचिन्ताविवर्जितम्।।३०।।

योगचिह्नानि

चित्ते निश्चलतां याते प्राणो भवति निश्चलः।
चित्तस्य[१] निश्चलत्वाय योगं सध्यानमभ्यसेत्।।३१।।
आकुञ्चनमपानस्य प्राणस्य च निरोधनम्।
लम्बिकोपरि जिह्वायाः स्थापनं योगसाधनम्।।३२।।
चित्ते निश्चलतां याते प्राणे मध्यपथं गते।
चिह्नान्येतानि जायन्ते पञ्चभूतजयात् पृथक्।।३३।।

"उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्।" इत्युक्तमत्रैव।

प्राणायामविषये बहुतरा विचाराः गीताव्याख्याया गूढार्थदीपिकातोऽनुसन्धेयाः[२]।।२७।।

अथ प्रत्याहारं लक्षयति– **इन्द्रियाणामिति**। स्पष्टोऽर्थः।।२८।।

अथ धारणां लक्षयति– **आधार** इति। स्पष्टोऽर्थः।।२८१/२।।

अथ ध्यानं लक्षयति– **ब्रह्मविष्णुशिवादीनामिति**।स्पष्टोऽर्थः।।२९।।

अथ समाधिं लक्षयति–**ध्यानादस्पन्दनमिति**। अत्र समाधिः सम्प्रज्ञातसमाधिः, असम्प्रज्ञातसमाधिश्चेति द्विविधः। तत्र सम्प्रज्ञातसमाधिरष्टाङ्गयोगान्तर्गतः समाधिः, यः स्थितप्रज्ञस्य स्वप्नावस्था, तुरीया वा भूमिका, यत्र स्थितप्रज्ञस्य अन्यमनस्कता=असम्प्रज्ञादिफलरूपः, यत्र सर्वथा चित्रवृत्तिनिरोधः, विगलितसर्वोपाधिचिन्मात्रे स्वरूपावस्थानमिति योगशास्त्रवेदान्तादिरूपः। तत्र निर्विकल्पकसमाधिरात्मसाक्षात्कारोपाय एव, यत आत्मसाक्षात्कार इति योगशास्त्रविदः।

तत्रामनस्कतामात्ररूपत्वादिति। तन्निमित्तमेव मानसोल्लासः साधु मन्वान आह–**अमनस्केति**। एतन्मते पञ्चमभूमिकारोहे साधनं सम्प्रज्ञातसमाधिरिति।।३०।।

तदिदं विशदयति–**चित्त** इति। अद्वयात्मध्यानं सम्प्रज्ञातसमाधिरेवात्मतत्त्वसाक्षात्कारसाधनमिति भावः। स्पष्टोऽर्थः।।३१।।

अथ सम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यसनाय योगमुद्रामाह–**आकुञ्चनमिति**। अपानस्य आकुञ्चनम्, प्राणस्य निरोधनम्, प्राणापानयोः सञ्चारः, जिह्वाया अन्तर्जिह्वायां स्थापनञ्च योगसाधनमिति भावः।।३२।।

तेन च चित्ते निश्चले प्राणे मध्यपथं गते प्रथमं चिह्नं पञ्चभूतजयः, अपराणि चामूनि चिह्नानि भवन्तीति

१.प्राणस्येति लेखे।

२.द्रष्टव्या– श्रीमद्भगवद्गीतायाः ४/२९,३०श्लोकयोः मधुसूदनसरस्वतीविरचिता गूढार्थदीपिकाव्याख्या।

मलमूत्रकफाल्पत्वमारोग्यं लघुता तनोः।
सुगन्धः स्वर्णवर्णत्वं प्रथमं योगलक्षणम्॥३४॥
कण्टकाग्रेष्वसङ्गत्वं जलपङ्केष्वमज्जनम्।
क्षुत्तृडादिसहिष्णुत्वं द्वितीयं योगलक्षणम्॥३५॥
बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता।
दर्शनं श्रवणं दूरात् तृतीयं योगलक्षणम्॥३६॥
मण्डूकप्लवनं भूमौ मर्कटप्लवनं द्रुमे।
आकाशगमनञ्चेति चतुर्थं योगलक्षणम्॥३७॥
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम्।
अनन्तशक्तिमत्त्वञ्च पञ्चमं योगलक्षणम्॥३८॥
प्राणे सुषुम्नां सम्प्राप्ते नादोऽन्तः श्रूयतेऽष्टधा।
घण्टादुन्दुभिशङ्खाब्धिवीणावेण्वादितालवत्॥३९॥
तनूनपात्तटित्तारातारेशतपनोपमम्।
ब्रह्मनाडीं गते प्राणे बिम्बरूपं प्रकाशते॥४०॥
श्वासाश्चरन्ति यावन्तः मनुष्यस्य दिनं प्रति।

प्रतिजानाति–**चित्त** इति। पञ्चभूतजयः पार्थिवाप्यतैजसवायवीयाद्युपद्रवाभावः॥३३॥

कान्यपराणि चिह्नानीत्यत आह– **मलेति**। योगिन इमानि चिह्नानि भवन्तीत्यर्थः॥३४॥

अवशिष्टान्यपि चिह्नानि सङ्कलयति– **कण्टकाग्रेष्विति**। एतैर्योगसिद्धस्य मलमूत्रकफाल्पत्वं सुगन्धसुवर्णत्वादिभिः, कण्टकाग्रे पङ्कमध्ये च शयनेऽपि तदसङ्गित्वम्, अशनायापिपासादिसहिष्णुत्वम्, बह्वन्नपानभोक्तृत्वातपादिसहिष्णुता, दूरश्रवणदर्शनादीनि, भूमौ मण्डूकवत् प्लवनम्, वृक्षे वृक्षे चङ्क्रमणादि, आकाशमार्गेण गमनम्, त्रिकालज्ञानसम्पत्तिः, अणिमाद्यैश्वर्यम्, अनन्तशक्तिरित्यादीनि भवन्तीति ज्ञाप्यते॥३५-३८॥

अपरं योगविशेषं तत्फलञ्चाह–**प्राण** इति। सुषुम्नानाड्यां प्राणेऽवस्थिते घण्टाद्यष्टविधाः नादास्तस्य जायन्ते॥३९॥

विश्वस्वरूपप्रकाशसमर्थं योगविशेषमाह– **तनूनपादिति**। ब्रह्मरन्ध्रगते प्राणे स्वप्रकाशविश्वरूप-परमात्मा प्रकाशत इत्यर्थः॥४०॥

अथ अर्कगतिपरिमाणं विवेक्तुकामः प्रस्तौति– **श्वासाश्चरन्तीति**। अनेन सूर्यपरिमाणं विविच्य श्वाससङ्ख्या प्रत्यहं षट्शतोत्तरैकविंशतिसहस्राण्यनुपदमेव वर्णयिष्यते। तथा च यावन्ति योजनानि सूर्यस्य

तावन्ति योजनान्यर्कः श्वासे श्वासे प्रधावति॥४१॥

सोऽहमित्यस्य प्रणवात्मकत्वम्

एकविंशतिसाहस्रं षट्शतं श्वाससङ्ख्यया।
सोऽहमित्युच्चरत्यात्मा मन्त्रं प्रत्यहमायुषे॥४२॥
सकारञ्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥४३॥
अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुनादकौ।
पञ्चाक्षराण्यमून्याहुः प्रणवस्थानि पण्डिताः॥४४॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चापीश्वरश्च सदाशिवः।
तेष्वक्षरेषु तिष्ठन्ति षट्त्रिंशत्तत्त्वसंयुताः॥४५॥
गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गलक्षणम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिञ्च शाश्वतीम्॥४६॥
सच्चिदानन्दरूपाय बिन्दुनादान्तरात्मने।

प्रत्यहं गतिरिति निष्कर्षः। इतः परं मनुष्यस्यायुर्वर्धनार्थं षट्शतोत्तरैकविंशतिसहस्त्रं श्वाससङ्ख्या, सोऽहमितिमन्त्रं योऽभ्युच्चरति प्रत्यहं श्वाससङ्ख्या षट्शतोत्तरैकविंशतिसहस्त्रमिताः तथा सङ्ख्यायाः 'सोऽहम्' इतिमन्त्रोच्चारणं योगिन आयुरभिवर्धते॥४१॥

'सोऽहम्'इति मन्त्र एवोंकारोऽपीत्याह– **सकारञ्चेति**। 'सोऽहम्'इति मन्त्रगतसकारहकारयोर्लोप 'ओ अम्' इति स्थिते पूर्वरूपसन्धित 'ओम्' इति रूपं प्रतिपद्यते। इति तेनोंकारजपोऽपि 'सोऽहम्' इति मन्त्रजप एव। तदर्थोऽपि 'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्मास्मि'इति महावाक्यार्थ एव, यस्याभ्यासेन मुक्तः सर्वोऽपि॥४२-४४॥

प्रकारान्तरेण प्रणवं प्रशंसति– **ब्रह्मेति**। येन ब्रह्मादिगुरुदेवेश्वरसदाशिवाः सृष्टिस्थितिसंहार-त्रितयकर्त्रधिष्ठानात्मस्वरूपमेवोङ्कारार्थ इति तदुच्चारणेनाधिदैवं सर्वात्मत्वमश्नुते॥४५॥

तदेवमष्टाङ्गयोगलक्षणं भूतजयविशेषचिह्नानि च निर्दिश्य तस्याष्टाङ्गयोगस्य यद्वशादात्मसाक्षात्कारो भवति, अपराणि च लक्षणान्यलौकिकानि भवन्ति गरिमादीनि गुरुप्रसादेनैव भवन्तीत्याह–**गुरुप्रसादादिति**। 'गुरुमूर्तये' इत्यंशस्यास्य व्याख्यानरूपं गुरुप्रसादादिति। गुरुप्रसाद एव शिवप्रसादोऽपि नियत इति बोधनात् भगवत्प्रसादानां दृष्ट्या ईश्वर एवात्र गुरुरूपं गतः इति दर्शयति। अत एव प्रतिश्लोकं 'तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये' इति॥४६॥

यद्यपि प्रथमश्लोकव्याख्यानावसर एवास्य मानसोल्लासस्य पाठो युक्तः, तथापि तत्र प्रथमश्लोकान्ते 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने' इति न केवलमीश्वरत्वं गुरुत्वञ्चोपदेष्टुमुल्लिखितम्। साम्प्रतन्तु दक्षिणामूर्तेः,

आदिमध्यान्तशून्याय गुरूणां गुरवे नमः॥४७॥

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

प्रबन्धे मानसोल्लासे नवमोल्लाससङ्ग्रहः॥४८॥

॥इति श्रीमानसोल्लासे नवमोल्लासः॥

गुर्वनुसन्धानं विद्याप्राप्तये तत्तत्प्रसाद एव साधनमित्यभिप्रेत्य 'गुरुमूर्तये'इत्यस्यापि विवरणं प्रस्तुतम्। परमार्थतस्तु न केवलं दक्षिणामूर्तिः शिवः, न वा गुरुः, किन्त्वद्वयसच्चिदानन्दात्मरूपोऽपि प्रथमश्लोकान्ते प्रस्तुत एव। 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने' इति तत्त्वमेवोपसंहर्तव्यम्, येनोपक्रमोपसंहारन्यायेन तदेवं तत्त्वं प्रकाशितमिति मत्त्वोपसंहरति नवमश्लोकमानसोल्लासम्– **सच्चिदानन्दरूपाये**ति मानसोल्लासेन नवमे अत्र 'गुरूणां गुरवे'इत्यनेन प्रथमगुरुत्वम्, दृष्टान्तसिद्धगुरुत्वं श्रीदक्षिणामूर्तेरेव, येन स्वस्यापि जगद्गुरुत्वम्, तदन्तेवासिनामपि मत्ख्यानमास्थितानामपि करतलामलकं हि यत्–

"दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।
न स्पर्शत्वं श्रितनिजचरणे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन चालौकिकोऽपि॥" इति॥४७॥

अथ यथाप्राप्तं नवमोल्लासमुपसंहरति–**इतिश्री**ति। स्पष्टोऽर्थः॥४८॥

अत्राष्टमूर्तीनां षट्त्रिंशत्तत्त्वेष्वन्तर्भावात् तदुपासनं समष्ट्युपासने पर्यवस्यतीति बोध्यते। तत्र कथमष्टमूर्तीनां प्रसक्तानामुपासनं षट्त्रिंशत्तत्त्वोपासने पर्यवस्यतीति शङ्कावारणार्थमुच्यते 'नान्यत् किञ्चन विद्यते' विमृशतापि सुकरमन्तर्विमर्शनं युक्त्या विषयनिष्कर्षणमेव, तेन च षट्त्रिंशत्तत्त्वानां ततो न पृथक्त्वमिति निर्धारणं भवति। अत्र मूर्तिशब्देनोपाधीनामेव विवक्षा, इति निर्विशेषसाक्षात्कारोपासनेऽङ्गं सगुणोपासनमष्टमूर्त्युपासनम्। अनेन षट्त्रिंशत्तत्त्वोपासनम्, ततः क्रमेणोपाधिपरित्यागेन निर्विशेषोपासनं निर्विशेषसाक्षात्कारो वा भवति, येन सर्वात्मसाक्षात्कारोऽपि भवतीति भावः। इदमेवाभिप्रेत्य कल्पतरौ–

'वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥'इत्युक्तम्।

तत्र सगुणोपासनस्य साष्टाङ्गयोगसहितस्यैव निर्विशेषसाक्षात्कार उपयोग इति निरूपणार्थमष्टाङ्गयोगधनानां निर्विशेषसाक्षात्कारापरपर्यायसम्प्रज्ञातसमाधावुपयोग इति मत्त्वा योगाङ्गानामुपपादनम्। गूढार्थदीपिकायां षष्ठाध्यायेऽसम्प्रज्ञातसमाधिः स्वयमात्मसाक्षात्कार एव, न चित्तवृत्तिनिरोधमात्रमिति यदुक्तं तदप्येतन्निबन्धनमेव। अतोऽत्र विमृशतामिति प्रयोगः, अष्टाङ्गयोगानां निरूपणञ्चामरनाथोक्तरीत्या न विफलम्। अत्र श्रीदक्षिणामूर्त्यष्टकस्य क्वचित् सगुणोपासनद्वाराऽभ्युदयसाधनत्वम्, क्वचिच्चाधिकारभेदेनाऽऽैश्वर्यमात्रसिद्धिः, क्वचिच्च सर्वात्मत्वाख्यमहाविभूतिरित्यष्टमूर्त्युपासनमपि परम्परया सर्वात्मत्वाख्यमहाविभूतये प्रभवतीति न विरोधः।

॥इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां नवमी वर्धिनी॥

ॐ

अथ मानसोल्लासे

दशमोल्लासः

स्तोत्रफलश्रुतिः

परिच्छिन्नमहम्भावं परित्यज्यानुषङ्गिकम्।
पूर्णाहम्भावलाभोस्य स्तोत्रस्य फलमुच्यते।।१।।
सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद् ध्यानाच्च सङ्कीर्तनात्।

दशमः श्लोकः प्रथमादिनवमान्तश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रफलश्रुतिः। तत्र नवमान्ताः श्लोकाः आत्मनः सर्वात्मत्वं, वस्तुतोऽद्वयत्वं, अमूर्तषट्त्रिंशत्तत्त्वसमष्ट्युपासनाशक्तस्य व्यक्तव्यष्ट्युपासनं स योगसाधनमुपायः, तत्र योगसाधनेन सर्वफलावाप्तिः, अन्ततः योग[1]साधनेन ध्यानेनात्मसाक्षात्कारश्च फलमिति विशदयन्ति स्म। साम्प्रतं तत्राप्यशक्तानामुक्तस्तोत्रकीर्तनेन, स्तोत्रार्थश्रवणमनननिदिध्यासनमात्रेण, न केवलमष्टैश्वर्यादिकं, किन्त्वद्वयात्मस्वरूपावाप्तिरपीति बोधयति। तत्र व्यष्ट्युपासनं व्यष्टावहंभावेन, समष्ट्युपासनं समष्टावहंभावेन, सर्वात्मत्वानुभवेन वा। तथा च तैत्तिरीयोपनिषत्– 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रामति, एतं मनोमयमात्मानमुपसङ्क्रामति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रामति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति' इति व्यष्ट्यन्नमयाद्युपासनं ब्रह्मवल्ल्याम्। भृगुवल्ल्यां तु समष्ट्यन्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मोपसङ्क्रमणेन व्यष्ट्युपासनेनैव[2] समष्ट्युपासना, ततः सर्वात्मतत्त्वं चोपसंहरति।

अतो व्यष्टावन्नमयादौ चाहम्भावं परित्यज्य समष्ट्यन्नाद्यात्मत्वरूपपूर्णाहन्तासिद्धिरेव सर्वात्मत्वसिद्धिरिति तत्त्वं नवमान्तश्लोकैर्विनिर्णीय भगवत्पादाः लोकानुजिघृक्षवः स्वीकृतश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रश्रवणेन, तदर्थमननेन, तदर्थानुध्यानेन, किं बहुना, स्तोत्रस्यास्य पाठेनापि सर्वात्मत्वादिकेवलमनायासेन सिध्यतीति प्रतिपादयन्तीति दशमश्लोकमवतारयति मानसोल्लासः—**परिच्छिन्नेति**। समष्ट्युपासनस्यैव लक्ष्यत्वेऽपि व्यष्ट्युपासनं परित्यज्य समष्ट्युपासने मनो नेयमिति भावः।।१।।

सर्वात्मत्वमितीति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रदशमश्लोकस्य व्याख्या

एवमवतार्य दशमं श्लोकं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रफलश्रुतिरूपमनुसन्धत्ते–**सर्वात्मत्वमितीति**। यस्मादमुष्मिन् स्तव इति पूर्वप्रकारेण सर्वात्मत्वं स्फुटीकृतम्, असकृत्तत्तदाक्षेपपरिहारपूर्वकं तत्तात्पर्य-

१. 'संयोग' इति हस्तलेखे।

२. 'समष्ट्यन्नमय्यामातमतत्त्वमुपसङ्क्रामतीति व्यष्ट्युपासनेनैव' इति हस्तलेखे।

सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः

सिद्ध्येत्तत् पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्।।१०।।

इदमत्राकूतम्—

पुत्रपौत्रगृहक्षेत्रधनधान्यसमृद्धयः।

अर्वाचीनाश्च सिद्ध्यन्ति स्वर्गपातालभूमिषु।।२।।

पाके प्रवर्तमानस्य शीतादिपरिहारवत्।

प्रासङ्गिकाश्च सिद्ध्यन्ति स्तोत्रेणानेन सर्वदा।।३।।

ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक् स्थितिः।

पुरुषे धावमाने हि छाया तमनुधावति।।४।।

अनन्तशक्तिरैश्वर्यं निष्यन्दाश्चाणिमादयः।

पर्यनुयोगपूर्वकञ्च, **तेन**=तस्मात्, **अस्य श्रवणात्**, तदर्थमननमित्यत्र तदर्थस्यैव प्रक्रमात् श्रवणादित्यत्र तदर्थश्रवणादिति व्याख्येयम्। तदर्थश्रवणमात्रेणाप्यशक्तानां सर्वात्मत्वं भवति, ततः शक्तानां तु तदर्थमननात् सर्वात्मत्वं, अत्यन्तशक्तानां तु तदर्थश्रवणमनननिदिध्यासनैः सर्वात्मत्वं भवति। तत्र श्रवणमात्रेण सर्वात्मत्वफलकीर्तनं प्रशंसार्थम्, तेन प्ररोचनया श्रवणे प्रवर्तनार्थम्, अत्यन्ताशक्तानां विषयाभिमुख्यत आवर्जयितुं कीर्तनादिभिः, तेन कीर्तनादिना परम्परया तथा श्रवणमननयोरपि ध्यानस्यैव साक्षात्फलम् सर्वात्मतत्त्वानुसन्धानम्। फलान्युत्तरार्धनिर्दिष्टानि सर्वात्मत्वं, महाविभूतित्वं, ईश्वरत्वं, अष्टैश्वर्यं च[1] इत्येवं श्लोकयोजना।

तत्र परिच्छिन्नाहम्भावव्यष्ट्युपासनफलमाह— **पुत्रेति**। अत एव परिच्छिन्नफलत्वात् परित्यजन्नहम्भावं व्यष्टिषु, समष्ट्यहम्भाव एवार्हतीति भावः।।२।।

समष्टिदृष्ट्या व्यष्टिषु समष्टिष्वेव वा साक्षात् क्रमेणाहम्भावमापन्नस्तु सर्वात्मत्वमेव फलमाप्नुवान आनुषङ्गिकानपि भोगान् प्राप्नोति—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।"

इत्याह— **पाक** इति। यथा फलार्थी वृक्षमारोपयन् छायादिकमपि प्राप्नोतीत्यस्याप्युपलक्षणम्। स्तोत्रपाठस्य स्तोत्रार्थश्रवणादेर्वेश्वरत्वमपि फलं भवति, तदप्यानुषङ्गिकमेव।।३।।

तत्राप्येकमुदाहरणं सोदाहरणनिर्देशमाह—**ऐश्वर्यमिति**। सर्वमैश्वर्यादि सर्वात्मत्वाविनाभूतम्, छायेव

---

१. 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित-त्वाच्च'(ब्रह्मसूत्रम् ४-४-१५,१६,१७) इत्यादिषु विविधेषु ब्रह्मसूत्रेषु ब्रह्मज्ञानवतः विविधशरीरधारित्व-सर्वात्मत्वाद्यैश्वर्यं प्राप्तं भवतीति प्रतिपाद्यते।

स्वस्येश्वरत्वे संसिद्धे सिद्ध्यन्ति स्वयमेव हि॥५॥
यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिः ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
ऐश्वर्यवन्तो भासन्ते स एवात्मा सदाशिवः॥६॥
पुष्पमानयता गन्धो विनेच्छामनुभूयते।
पूर्णाहम्भावयुक्तेन परिच्छिन्नाः विभूतयः॥७॥

अष्टसिद्धिविवेचनम्

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः॥८॥
अत्यन्तमणुषु प्राणिष्वात्मत्वेन प्रवेशनम्।
अणिमासंज्ञमैश्वर्यं व्याप्तस्य परमात्मनः॥९॥

धावमानस्य पुरुषस्य। तत्र सर्वात्मत्वस्व परमात्मभाव एव पर्यवसानात्, तद्बिन्दुमात्रस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रादिशक्तिरूपत्वादित्याह– **यदीयैश्वर्येति**। सर्वाधिष्ठानपरमात्मशक्तिविशेषा ब्रह्मविष्णुरुद्रादयः इति स्तोत्रेणानेन श्रुतेन मतेन ध्यातेन परमात्मभावे तस्य मुक्तस्य परमात्मभावमापन्नस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रादयोऽंशा एवेति भावः॥४-६॥

अपरिच्छिन्नानन्दादिपरमात्मभावे विनैवेच्छां पुष्पे नीयमाने गन्धा इवानुवर्तन्ते सर्वा विभूतय इत्याह– **पुष्पमिति**॥७॥

सर्वात्मत्वे परिच्छिन्नविभूतीनां सर्वासामप्यनुभवोऽर्थसिद्ध इतः परं सिद्ध्येत् तत्पुनरष्टधा परिणतमैश्वर्यमव्याहतं फलं सर्वात्मत्वमापन्नस्य भवतीत्याह– **अणिमेति**। अनेनाष्टधा परिणतमैश्वर्यं विभजते। तत्राणिममहिम्नोः स्वरूपं स्वशरीरस्य अन्यस्य वा स्वबाह्यस्य महतोऽणूकरत्वशक्तिः, अणोर्महत्करत्वशक्तिः, यथा हनूमतः सुरसायामात्मानं कवलयितुं प्रवृत्तायां मुखादधिकपरिणतस्य शरीरस्य महीकरणम्, समुद्रतरणार्थं विश्वरूपधारणम्, वामनस्य चारत्निमात्रस्य परिमाणस्य विराड्रूपधारणम्, एवं हनूमतः सुरसायाः महापरिणतं विवृतं तन्मुखं निरीक्ष्य स्वल्पमक्षिकासदृशस्य स्वशरीरस्याणूकरणम्। लाघवं महामेरोरपि समुद्धरणार्थं तूलवत् लघूकरणम्, गौरवं तु तद्विपरीतं लघुपरिमाणस्य गुरूकरणम्, यथा हनूमतः स्ववालस्योत्तलनार्थं प्रवृत्तस्य भीमस्य तदुत्तोलनेऽशक्तिं प्रदर्शयितुमतिगुरूकरणम्, प्राप्तिस्तु प्रह्लादस्य पातालमात्रवासिन एव सतो ब्रह्मलोकावलोकनम्, यथा भक्तानां भूमाववस्थितानां वैकुण्ठवासिनो दर्शनम्, प्राकाम्यञ्च स्वेच्छामात्रादाकाशगमनादिशक्तिः। किं बहुना? स्वेच्छामात्रेण लोकस्रष्टृत्वादिशक्तिः, यथा– विश्वामित्रस्य त्रिशङ्कोः कृते स्वर्गस्य सेन्द्रस्यापि स्रष्टृत्वम्, अनसूयायाः दशरात्रं सूर्यानुदयनियन्त्रणम्। वशित्वन्तु सलोकपालसर्वलोकानां स्ववशीकरणं, रावणादेः॥८॥

तत्र अणिमानं विवृणोति– **अत्यन्तमिति**। यथा सौभर्यादीनामनेकशरीरव्याप्तेः। किं बहुना? परमात्मन

ब्रह्माण्डादिशिवान्तायाः षट्त्रिंशत्तत्त्वसंहतेः।
बहिश्च व्याप्यवृत्तित्वमैश्वर्यं महिमाह्वयम्॥१०॥
परमाणुसमाङ्गस्य समुद्धरणकर्मणि।
गौरवे मेरुतुल्यत्वं गरिमाणं विदुर्बुधाः॥११॥
महामेरुसमाङ्गस्य समुद्धरणकर्मणि।
लाघवे तूलतुल्यत्वं लघिमानं विदुर्बुधाः॥१२॥
पातालवासिनः पुंसो ब्रह्मलोकावलोकनम्।
प्राप्तिर्नाम महैश्वर्यं सुदुष्प्रापमयोगिनाम्॥१३॥
आकाशगमनादीनामन्यासां सिद्धिसम्पदाम्।
स्वेच्छामात्रेण संसिद्धिः प्राकाम्यमभिधीयते॥१४॥
[1]स्वशरीरप्रकाशेन सर्वार्थानां प्रकाशनम्।
प्राकाश्यमिदमैश्वर्यमिति केचित् प्रचक्षते॥१५॥
स्वेच्छामात्रेण लोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकर्तृता।
सूर्यादीनां नियोक्तृत्वमीशित्वमभिधीयते॥१६॥
सलोकपालाः सर्वेऽपि लोकाः स्ववशवर्तिनः।
तदैश्वर्यं वशित्वाख्यं सुलभं शिवयोगिनाम्॥१७॥

एवेयं महिमा सर्वव्याप्त्या सर्वेषां सदात्मना भासमानत्वापादनम्। स्पष्टोऽर्थः॥९॥

अथ महिमानमाह–ब्रह्माण्डादीति। इदमपि मुख्यं परमात्मन एव यथा वामनस्य त्रिविक्रमावस्था॥१०॥

अथ गरिमाणं लक्षयति–परमाण्विति। यथा केनोपनिषत्प्रतिपादितरीत्याऽग्रतो दृष्टेन यक्षेण तृणस्याप्युद्धरणे वायोरशक्तिप्रदर्शनम्॥११॥

अथ लाघवं दर्शयति– महामेर्विति। यथा श्रीकृष्णस्य गोवर्धनोद्धारणत्वम्॥१२॥

अथ प्राप्तिं लक्षयति– पातालेति। यथा प्रह्लादस्य पातालवासिनो वैकुण्ठनाथस्य दर्शनम्॥१३॥

प्राकाम्यस्वरूपमाह– आकाशगमनादीनामिति। तद्यथा गन्धर्वाणां ब्रह्मर्षिनारदादीनां च॥१४॥

स्वशरीरप्रकाशनेन सर्वार्थप्रकाशनं प्राकाश्यम्। प्राकाम्यस्थाने प्राकाश्यमिति केषाञ्चन वादः। तमनुसृत्य प्राकाश्यमपि लक्षयति– स्वशरीरे[1]ति। स्वशरीरप्रकाशनेन सर्वार्थप्रकाशनम्। यथा सूर्यचन्द्रादीनां प्रकाशेन सर्वेषां प्रकाशः॥१५॥

अथेशित्वं लक्षयति– स्वेच्छामात्रेणेति। यथा विश्वामित्रादीनामित्यनुपदमेवोक्तम्॥१६॥

१. 'प्राकाश्यमिदमि' इति हस्तलेखे।

यस्त्वेवं ब्राह्मणो वेत्ति तस्य देवा वशे स्थिताः।
किं पुनः क्ष्मापतिव्याघ्रव्यालस्त्रीपुरुषादयः॥१८॥
स्तोत्रमेतत् पठेद्धीमान् सर्वात्मत्वं च भावयेत्।
अर्वाचीने स्पृहां मुक्त्वा फले स्वर्गादिसम्भवे॥१९॥
सर्वात्मभावसाम्राज्यनिरन्तरितचेतसाम्।
परिपक्वसमाधीनां किं किं नाम न सिद्ध्यति॥२०॥

अथ वशित्वं लक्षयति– **सलोकपाला** इति। यथा शिवभक्तस्य रावणादेः वशित्वलक्षण-लक्षिततत्वम्॥१७॥

इदं हि ब्रह्मज्ञानमिव धनमिति श्रुतिसिद्धमपीत्याह–**यस्त्वेवमिति**। असर्वात्मत्व एव एतत्स्तोत्र-श्रवणादिकाले किं नामालभ्यम्। अतः क्षुद्रे स्वर्गादिलोके कामनां विहाय स्तोत्रमिदं श्रोतव्यम्, मन्तव्यम्, ध्यातव्यम्॥१८-१९॥

किं बहुना? कीर्तनमात्रमपि पर्याप्तमिति स्तोत्रफलविकासपूर्वकमुपसंहरति–**सर्वात्मभावेति**। एतेन–

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥"

इति भगवद्गीता प्रत्यभिज्ञायते। सर्वात्मभावाख्यं हि साम्राज्यं न तु मानुषादिगम्यम्, अतः सर्वात्मना निरन्तरचेतसां परिष्वक्तचेतसां परिपक्वसमाधीनां च सर्वं लक्ष्यम्। तदानन्दसदृश आनन्दो वैकुण्ठवासिनो नारायणस्य, कैलाशवासिनः शिवस्यापि न सुलभः, का नाम कथा मानवस्य साम्राज्यात्, मनुष्यगन्धर्वस्य, गन्धर्वस्य, कर्मदेवानाम्, देवानाम्, इन्द्रस्य, बृहस्पतेः, प्रजापतेर्वा।

एतेन– 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यायकः, आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः, तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः, स एको

स्वर्गादिराज्यं साम्राज्यं मनुते न हि पण्डितः।
तदेव तस्य साम्राज्यं यत्तु स्वाराज्यमात्मनि।।२१।।
सर्वात्मभावनावन्तं सेवन्ते सर्वसिद्धयः।
तस्मादात्मनि साम्राज्यं कुर्यान्नियतमानसः।।२२।।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

देवगन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः, स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः, स एक आजानजानां देवानामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं आजानजानां देवानामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः, स एको देवानामानन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः, स एक इन्द्रस्यानन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं इन्द्रस्यानन्दाः, स एको बृहस्पतेरानन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः, स एकः प्रजापतेरानन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजपतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः,श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' इत्यानन्दमीमांसा प्रत्यभिज्ञायते। अकामहतश्रोत्रियपदेनात्मनिष्ठः, सर्वात्मभावं भावयन्नेव विवक्ष्यते।।२०-२१।।

तदेतदुपसंहरन्नाह– **सर्वात्मभावने**ति। तदिदं स्तोत्रार्थरहस्यं सनकादीनां श्रीदक्षिणामूर्तिनिरतिशयभक्तानां साक्षात् श्रीदक्षिणामूर्तिनाऽकथितमपि सन्निधानमात्रेणाभिव्यक्तम्। तथा गौडपादानाम्, एवं गोविन्दभगवत्पादानाम्। भगवत्पादानान्तु साक्षात् श्रीदक्षिणामूर्तिस्वरूपाणां स्वतः, श्रीगोविन्दभगवत्पादप्रसादतोऽपि।।२२।।

मम तु श्रीभगवत्पादभक्तस्य समाधिस्थस्य सन्निधानमात्रेणाभिव्यक्तम्। यतः भगवत्पादाः स्वयमेव शतश्लोक्या द्वितीयेन श्लोकेन–

"यद्वच्छ्रीखण्डवृक्षप्रसृतपरिमलेनोभितोऽन्येऽपि वृक्षाः
शश्वत् सौगन्ध्यभाजोऽप्यतनुतनुभृतां तापमुन्मीलयन्ति।
आचार्याल्लब्धबोधा अपि विधिवशतः सन्निधौ संस्थितानाम्
त्रेधा तापञ्च पापं सकरुणहृदयाः स्वोक्तिभिः क्षालयन्ति।।" इति विशदयन्तीति सूचयन्नुपसंहरति मानसोल्लासे सुरेश्वराचार्यः– **यस्ये**ति।

अनेन–

"गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गलक्षणम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम्।।"

इति नवमश्लोकावसरे स्वोक्तिमप्यनुसन्दधाति। तेन च न केवलं सर्वात्मभावना, किन्तु योगसिद्धिरपि गुरुप्रसादेन चोपलब्धेति ज्ञापयति।

तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥२३॥

प्रकाशात्मिकया शक्त्या प्रकाशानां प्रभाकरः।

प्रकाशयति यो विश्वं प्रकाशोऽयं प्रकाशताम्॥२४॥

ग्रन्थोपसंहारः

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।

अनेन न केवलमिदं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य किन्तु सर्ववेदान्तनिबन्धसारस्य हृदयमपि साक्षाद् गुरुणाऽकथितमपि ममाविरभवदित्यभिप्रैति[1]। देवे यथा भक्तिः, तथा गुरावपि यस्य, तस्याकथिता अपि सर्वेऽप्यर्था स्वयं[2] स्युरिति यथोदङ्कस्य उपकोसलस्य, इत्यनुसन्धानेन सुरेश्वरः स्वात्मानं महात्मानं मन्यते। यस्य गुरुरेव देवोऽपि। यथोक्तं तेनैव–

"ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥" इति।

अत एवोक्तम्– '**अकथिता अप्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः**' इति॥२३॥

अथ गुरुभक्त्याऽकथितानामप्यर्थानां प्रकाशः, तदीयप्रकाशशक्त्यैव, न तु स्वशक्त्या यथा सूर्यप्रकाशेन जडाः भावाः प्रकाशन्ते, न हि तत्र जडानां लेशतोऽपि प्रकाशशक्तिरस्ति। एवं ममापि तत्त्वग्रहणशक्तिर्न लेशतोऽपि, तथापि गुरुप्रसादात्, शिवप्रसादाच्च मम तत्त्वार्थदर्शनमित्याह–**प्रकाशात्मिकयेति**। प्रकाशानां प्रभाकरः श्रीगुरुमूर्तिः श्रीदक्षिणामूर्तिर्वा स्वात्मनात्मानमनुसन्दधान इति प्रथमश्लोकार्थस्यैवात्रोपसंहारः॥२४॥

तस्य विश्वभासकत्वम्–

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

इति श्रुतिसिद्धमेवाभिप्रेत्योक्तम्– 'प्रकाशानां प्रकाशकः' इति। यतः आत्मसत्ताधीनसत्ताकम्, तत्प्रकाशाधीनप्रकाशं च सर्वम्।

अथ यथापूर्वं दशमोल्लासार्थोपसंहारपरं श्लोकमुपक्षिपति–**इतिश्रीति**॥२५॥

नवमश्लोकन्याय एव दशमेऽप्यनुसन्धेयः। तत्र यद्यपि अणिमाद्यष्टविधैश्वर्यमुपासनाफलमेव स्तोत्रार्थश्रवणमननध्यानादिजन्यं विवक्षितम्, न तु निर्विशेषसाक्षात्कारः, तत्फलञ्च ब्रह्मभावो वा, तथापि ब्रह्ममीमांसायां 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' इति सगुणोपासनफलत्वेन फलाध्यायोपसंहारेऽपि–

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।

---

१. 'गुरुणाऽकथिता अपि मर्मण्याविर्भवन्ति विषयव्यावृत्त्याऽभूदित्यभिप्रैति' इति हस्तलेखे पाठः।

२. 'प्रकाशिताः' इति अध्याहार्यम्।

प्रबन्धे मानसोल्लासे दशमोल्लाससङ्ग्रहः ।।२५।।

।।इति श्रीमानसोल्लासे दशमोल्लासः।।

इति श्रीसुरेश्वराचार्यकृतं मानसोल्लासाख्यं
श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रभावार्थवार्तिकं समाप्तम्

✻

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्।।'

इत्युक्तरीत्या निर्विशेषसाक्षात्कारफलेनैवोपसंहारे यथा फलाध्याये तात्पर्यम्, तथाऽत्रापि निर्विशेषसाक्षात्कारेण, तत्फलं सर्वात्मभावनोपसंहारोऽनुसन्धेयः। अत एव- 'ऐश्वर्यमव्याहतम्' इत्यव्याहतैश्वर्येणैवोपसंहार उपपद्यते। ऐश्वर्येऽव्याहतत्वञ्च जगद्व्यापारवर्जत्वभोगमात्रसाम्यादिफलमात्रनिषेधेन मुख्यब्रह्मभाव एव अखण्ड-ब्रह्मभाव एव वेति मन्तव्यम्।

अत्राप्यमरनाथोक्तदिशा नात्मसाक्षात्कारस्य, तत्फलस्य चानुक्तिरवगन्तव्या। एवञ्च- "यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्" "यत्साक्षात्करणान्न भवेत् पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ" "स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया" इत्यादिश्लोकेषु साक्षात्कारस्य सर्वात्मभावप्रयोजकत्ववर्णनात्, 'ऐश्वर्यमव्याहतम्' इत्यनेन तस्यैवोपसंहाराच्चोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गवशात् निर्विशेषात्मतत्त्वमेव श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य मुख्यं लक्ष्यम्। सर्वात्मत्वं हि संविन्मात्रातिरेकेणेतराभाव एव संविन्मात्रा-विनाभावोऽहमर्थस्य जीवस्य नात्र मुक्तावनस्थानम्(?), न (?)[१] सर्वप्रपञ्चसत्यत्वादिकं वेति न केवलाद्वैतं विहायान्यत्र कुत्रापि श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य तात्पर्यम्। अतोऽत्र यत्किञ्चित्पदादिसाम्यमात्रेण प्रत्यभिज्ञानदर्शनादौ कुत्राप्यद्वैतमपहाय न निष्ठेति निष्कर्षः।

।।इतिश्रीमानसोल्लासव्याख्यायां मानसोल्लासवर्धिन्यां दशमी वर्धिनी।।

।।इतिश्रीमदनन्तकृष्णशास्त्रिविरचिता मानसोल्लासव्याख्या मानसोल्लासवर्धिनी।।

——समाप्तश्चायं ग्रन्थः——

✻

१.अत्रत्यः पाठोऽपठनीयो हस्तलेखे।

परिशिष्टम् (१)
भूमिकायामागतानां उद्धरणानां मूलनिर्देशः

उद्धरणानि	आकरः	पृष्ठसङ्ख्याः
अक्षिमात्रकल्पो हि विद्वान्	योगभाष्यम्	२१
अगम्या वचसां शान्ता	योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध १२६/७१	१६
अतीताननुसन्धानं	विवेकचूडामणिः ४३३	३२
अत्यन्तकामुकस्यापि	विवेकचूडामणिः ४४५	३३
अदीर्घत्वाच्च कालस्य	माण्डूक्यकारिका २/२	३६
अद्वैते स्थैर्यमायाते	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/६०	१५
अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां	कैवल्योपनिषत् १	२१
अनादिमत्परं ब्रह्म	यो.वा. स्थितिप्र.५९/३७-३८	२४
अनास्थयेति भावानां	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/२९	१४
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणः	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/६८	१६
अनेन क्रमयोगेन	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/३०	१४
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/६९	१६
अन्तःस्थानात्तु भेदानां	मा.का. २/४	३६
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्	क.उ. २/१४	२७
अभावश्च रथादीनां	मा.का. २/३	३६
अभ्यासात् साधुशास्त्राणां	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/२३	१४
अमानोऽनन्तमात्रश्च	मा.का. १/२९	३७
अलब्धावरणाः सर्वे	मा.का. ४/९८	२
अवलोक्य जगच्चेष्टां	यो.वा. स्थि. प्र.५९/४५	२४
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	गीता १८/४९	३१
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ	यो.वा. उपक्रमप्र.११/१	३४,३५
असंसङ्गाभिधामन्यां	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२६/१९	१४
अहमर्थविनाशश्चेत्	--?-	७
आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्व	यो.वा. नि. प्र.	६
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं	क.उ.१/३/४	२७
आनन्दैकघनीभावात्	यो.वा. नि. प्र.पूर्वार्ध १२७/८	१२

परिशिष्टम् (२)

मानसोल्लासवर्धिन्यामागतानां उद्धरणानां मूलनिर्देशः

उद्धरणानि	आकरः	पृष्ठसङ्ख्याः
अकथिता अप्यर्थाः	मानसोल्लासः १०/२३	१२६
अक्षरात् परतः परः	मुण्डकोपनिषत् २/१/४	३०
अजामेकां लोहितशुक्ल	श्वेताश्वतर ४/५	११२
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं	गीता ५/१५	७७
अणोरणीयान्	कठोपनिषत् २/२०	२१,१७,२३
अतस्त्वं जाग्रदेवेदं	योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध १४८/१८	१२
अतः सततमुद्युक्तः	स्पन्दकारिका २/५	१८
अत्र ब्रह्म समश्नुते	कठ.६/४	७७
अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च	भामती ब्रह्मसूत्रम् १/१/१	६५
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	ब्रह्मसूत्रम् १/१/१	६७
अद्वैतं परमार्थो हि	माण्डूक्यकारिका ३/१८	१०३
अधमे द्वादशमात्राः	योगचूडामण्युपनिषत्१०४	१२०
अधमे स्वेदजननं	योगचूडामण्युपनिषत्१०५	१२०
अधीहि भगवो ब्रह्म	तैत्तिरीयोपनिषत् ३/१,२,३,४	४४
अनादिमायया सुप्तो	माण्डूक्यकारिका ३/१६	८
अनिश्चिता यथा रज्जुः	माण्डूक्यकारिका २/१७	१११
अनुभूतिः स्वयंप्रकाशाऽनुभूतित्वात्	चित्सुखी आदि	१४
अनेन जीवेनात्मना	छा.उ.६/३/२	५०,३९
अन्तरा विज्ञानमनसी	ब्रह्मसूत्रम्२/३/१५	३१
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्	खण्डनखण्डखाद्यम्४	१०८
अन्तःस्थानात्तु भावानां	माण्डूक्यकारिका २/१,२	१०,४
अन्नमयं हि सौम्य मनः	छा.उ.६/५/४,६/६/५	३१
अन्नसारं समादाय	योगशिखोपनिषत् ५/२५	६१
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो	माण्डूक्यकारिका १/१५	८
अन्योऽन्तर आत्मा	तै.उ.२/२/३,२/३/१	६७

परिशिष्टम् (३)

अकारादिक्रमेण श्लोकानुक्रमणिका